पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला संख्या-९४

जैनधर्म और तान्त्रिक साधना

डॉ० सागरमल जैन



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

.........."यदि तन्त्र का उद्देश्य वासना–मुक्ति और आत्मविशुद्धि है । तो वह जैनधर्म में उसके अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है । किन्तु यदि तन्त्र का तात्पर्य व्यक्ति की दैहिक वासनाओं और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देवता–विशिष्ट की साधना कर उसके माध्यम से अलौकिक शक्ति को प्राप्त कर या स्वयं देवता के माध्यम से उन वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना माना जाय तो प्राचीन जैनधर्म में इसका कोई स्थान नहीं था ।

महावीर की परम्परा में प्रारम्भ में तन्त्र–मन्त्र और विद्याओं की साधनाओं को न केवल वर्जित माना गया था, अपितु इस प्रकार की साधना में लगे हुए लोगों को आसुरी योनियों में उत्पन्न होने वाला तक भी कहा गया । किन्तु जब पार्श्व की परम्परा का विलय महावीर की परम्परा में हुआ तो पार्श्व की परम्परा के प्रभाव से महावीर की परम्परा के श्रमण भी तांत्रिक परम्पराओं से जुड़े । महावीर के संघ में तान्त्रिक साधनाओं की स्वीकृति इस अर्थ में हुई कि उनके माध्यम से या तो आत्मविशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ा जाय, अथवा उन्हें सिद्ध करके उनका उपयोग जैनधर्म की प्रभावना या उसके प्रसार के लिए किया जाय ।"

–जैनधर्म और तान्त्रिक साधना

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० ९४

जैनधर्म और तान्त्रिक साधना

लेखक
डॉ० सागरमल जैन

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५
१९९७

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० ९४

पुस्तक : जैनधर्म और तान्त्रिक साधना
लेखक : डॉ० सागरमल जैन
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी
वाराणसी-२२१००५.
दूरभाष : ३१६५२१, ३१८०४६
प्रथम संस्करण : १९९७
मूल्य : रु० २५०.०० (अजिल्द)
रु० ३५०.०० (सजिल्द)

ISBN 81-86715-21-5

Parshvanath Vidyapeeth Series No. 94

Title : *Jaina Dharma Aura Tāntṛka Sādhanā*
Author : Dr. Sagarmal Jain
Publisher : Parshvanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi,
Varanasi-221 005
Phone : 316521, 318046
First Edition : 1997
Price : Rs. 250.00 (Paper back)
Rs. 350.00 (Hard bound)
Type Setting at : Sun Computer Softech
Naria, Varanasi-5
Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-10

प्रकाशकीय

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी जनसाधाण की मन्त्र–तन्त्र के प्रति आस्था में कोई कमी नहीं आई है। आज भी न केवल जनसाधारण बल्कि शिक्षित वर्ग भी तान्त्रिकों के इर्द–गिर्द चक्कर लगाते देखा जाता है। इसके दो कारण हैं–प्रथम तो यह कि विज्ञान के माध्यम से सूक्ष्म शक्तियों की महत् कार्य क्षमता का उद्‌घाटन हुआ है और उसके परिणाम स्वरूप सूक्ष्म तान्त्रिक शक्तियों के प्रति पुनः आस्था का विकास हुआ है। दूसरे, भौतिक उपलब्धियों के प्रति मनुष्य की ललक पूर्व की अपेक्षा आज अधिक सक्रिय हो गई है और तन्त्र ही वह मार्ग है जिसमें धर्म साधना के आवरण में इन भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति संभव है। पुनः तान्त्रिक साधना मात्र भौतिक ऐषणाओं की पूर्ति का ही माध्यम नहीं है अपितु उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी है और आज विद्वद्‌वर्ग में उसके इस आध्यात्मिक पक्ष के उद्‌घाटन के लिए एक जागरूकता आई है। फलतः तान्त्रिक साहित्य के प्रकाशन और अध्ययन के क्षेत्र में विद्वद्‌वर्ग ने प्रयत्न प्रारम्भ किए हैं।

भारतीय तान्त्रिक परम्पराओं में हिन्दू और बौद्ध परम्पराओं के साथ–साथ जैन परम्परा का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः जैन परम्परा में तन्त्र को वाम मार्ग की विकृत साधना से बचाने का प्रयत्न कर उसके आध्यात्मिक पक्ष को सुरक्षित रखा गया है। तन्त्र के प्रति शोधपरक अध्ययन हेतु बढ़ती हुई इस रुझान का एक परिणाम यह भी हुआ कि इस विषय को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। इसी क्रम में एक संगोष्ठी धर्म आगम विभाग, धर्म और दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ की सहभागिता में आयोजित की गयी। संगोष्ठी के निमित्त डा० सागरमल जैन ने जैन तन्त्र पर जो आलेख तैयार किया था, उसी को विकसित कर उन्होंने जैन तन्त्र को समग्ररूप से प्रस्तुत करने हेतु इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। हम डा० सागरमल जैन के आभारी हैं जिन्होंने इस विद्या पर यह ग्रन्थ लिखकर हमें प्रकाशनार्थ दिया।

इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन, एवं प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्थाओं में सहभागी

डा० श्री प्रकाश पाण्डेय, डा० जयकृष्ण त्रिपाठी एवं डा० सुधा जैन के हम अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस कृति के प्रणयन एवं प्रकाशन में अपना सक्रिय सहयोग दिया है।

ग्रन्थ की शब्द सज्जा के लिए सन कम्प्यूटर साफ्टेक एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के प्रति भी हम अपना आभार प्रकट करते हैं।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मानद् सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

भूमिका

जीवन में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक या आदिभौतिक व्याधियों के अवसर पर सामान्य जनों का ध्यान तीन परम्परागत शब्दों पर जाता है– मंत्र, यंत्र और तंत्र। उनका विश्वास है कि इन तीनों में से किसी एक या उनके समुच्चय से संसार की सारी बाधायें मिट सकती हैं और सुख प्राप्त हो सकता है। इनमें से सभी पद्धतियों में 'मंत्र' शब्द बहुत प्रचलित है। अंतिम दो शब्द और उनसे संबंधित प्रक्रियायें, प्राचीन युग से ही कम प्रचलित हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये तीनों शब्द एक–दूसरे से संबंधित हैं, संभवतः एक–दूसरे के पूरक और घटक भी हैं। इनमें मंत्र और उनके प्रभावों की क्रियाविधि प्रायः सभी भारतीय दर्शन–तंत्रों में न केवल सुज्ञात है अपितु उस पर अनेकों ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। जैनों में ही लगभग ४० ग्रन्थ मंत्र शास्त्र पर हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रों के पूर्व स्तोत्रों की परम्परा रही होगी, क्योंकि सर्वप्रथम स्तोत्र "उवसग्गहर स्तोत्र" की रचना भद्रबाहु ने ४५६ ईसा पूर्व की थी।[2] स्तोत्र भक्तिवाद एवं आत्मसमर्पण के प्रतीक हैं, पुरुषार्थ के नहीं। अतः पुरुषार्थी बुद्धिजीवियों ने "मंत्रों" की परम्परा प्रारम्भ की होगी जिसमें स्वयं की साधना से शक्ति जागरण होता है। यह स्तोत्रों की तुलना में अधिक आकर्षक सिद्ध हुई। इससे व्यक्ति स्वयं ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। अन्य पद्धतियों की तुलना में, जैनों के बहुतेरे धार्मिक या क्रियात्मक अनुष्ठानों में "यंत्र" एवं उनसे संबंधित क्रियायें भी प्रचलित हैं। मंत्र सिद्धि में भी यंत्रों का उपयोग किया जाता है। इसके विपर्यास में, जैनों में 'तंत्र' शब्द का प्रचलन नगण्य सा है। साथ ही, जो है भी, वह पर्याप्त उत्तरवर्ती माना जाता है। यह मध्यकालीन शैव–शाक्त धाराओं का प्रभाव तो है ही, सोमदेव के काल में "यत्र सम्यक्त्व हानिर्न, यत्र न व्रतदूषणं" के सिद्धान्त पर आधारित लौकिक विधियों के स्वीकरण का प्रतिफल भी है।

मुझे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में तंत्र भी मंत्रों में ही समाहित थे। किन्तु कालान्तर में जब अध्यात्म शक्ति के प्रतीक बन गये तो तंत्र भौतिक क्रियाओं के समुच्चय के रूप में उनसे पृथक् हो गये। यह पृथक्करण सातवीं–आठवीं सदी में माना जाता है। फिर भी "तंत्र" शब्द प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मन्त्र और यंत्रों से संबंधित है। इस प्रकार जैन पद्धति में मंत्र, यंत्र और तंत्र तीनों को अन्योन्य संबंधित माना जाता है। लेकिन उनके लक्षणों में अंतर है। जहाँ मंत्र मानसिक क्रिया प्रधान है, वहाँ यंत्र बीजाक्षरों एवं आकृतियों पर

आधारित है। तंत्र भौतिक क्रिया प्रधान हैं और संभवतः सगुण माध्यम से मनःशक्ति को प्रबल करते हैं। फलतः

मंत्र – मनोभौतिक (मनः प्रधान शक्ति स्रोत)

तंत्र – भौतिक (भौतिक क्रिया प्रधान शक्ति स्रोत्र) एवं

यंत्र – मंत्र एवं तंत्र का अधिकरण है।

इनकी इस अन्योन्य संबद्धता के कारण इनका अलग–अलग अध्ययन करना एक दुरूह कार्य है।

जैनों में मंत्र–तंत्र साहित्य

जैन आगमों के अवलोकन से पता चलता है कि इसके दृष्टिवाद नामक विलुप्त बारहवें अंग के पांच भेदों में "पूर्वगत" नामक एक भेद है। इसमें विद्यानुवाद के अंतर्गत वर्णित ५०० महाविद्याओं, ७०० लघु विद्याओं एवं अष्टांग महानिमित्तों में तथा प्राणवाय (आयुर्वेद) के अंतर्गत भूत–प्रेत विद्या तथा मंत्र–तंत्र विद्या के नाम आते हैं। स्थानांग (६/२८) में नौ सूक्ष्म ज्ञानी नैपुणिकों में मंत्रवादी एवं भूतिकर्मी का उल्लेख है। समवायांग ७२ में भी विद्यागत, मंत्रगत एवं रहस्यगत कलाओं के नाम आते हैं। धरसेन के अनुपलब्ध "जोणिपाहुड" में भी मंत्र–तंत्र शक्तिपद आया है। इन उल्लेखों के बावजूद भी मंत्र–तंत्रों का विवरण न तो विशिष्ट आगम ग्रन्थों में ही मिलता है और न उत्तरवर्ती आगम–तुल्य ग्रन्थों में ही उपलब्ध है। लेकिन इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि महावीर के काल में या उसके परवर्ती युग में भूत–प्रेत विद्या और मंत्र विद्या प्रचलित थी और श्रमणों के लिये यह उनकी निपुणता की प्रतीक थी। प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और मूलाराधना के अनुसार श्रमणों को आहार या आजीविका हेतु इन विद्याओं का उपयोग निषिद्ध था, यद्यपि आगमिक व्याख्याओं एवं भगवतीआराधना (गाथा ३०८) के अनुसार परिस्थिति विशेष में इनका उपयोग संभव था। ये जनकल्याण, धर्मप्रभावना या आत्मकल्याण के लिये ही विहित थीं। ये विद्यायें भारतीय संस्कृति की प्रायः सभी धाराओं में लोकप्रिय थीं। फिर भी, ये गोपनीय, रहस्यमय एवं व्यक्तिरूप में ही परिनिष्ठित रहीं। यही नहीं, देवोल ने बताया है कि इनसे संबंधित उत्तरवर्ती साहित्य में भी मंत्र सिद्धि की संपूर्ण विधि और मौलिक व्याख्या का अभाव है। इनसे ऐहिक सिद्धियों की प्राप्ति की लालसा कालान्तर में इनके दुरुपयोग का कारण बनी। इससे इनका विलोपन भी होने लगा। किन्तु सातवीं सदी के बाद जैन धर्म शासन देवता के रूप में शक्ति उपासना प्रचलित हुई और इन विद्याओं का पुनरुद्धार हुआ। इनमें मंत्र विद्या तो वैज्ञानिकतः प्रतिष्ठित

हुई है, पर तंत्र विद्या लगभग लुप्तप्राय सी बनी रही। फलतः प्राचीन जैन ग्रन्थों में इन तान्त्रिक शब्दों की समुचित परिभाषाऐं भी नहीं पाई जातीं। किन्तु परवर्तीकारणों में जैन पूजा प्रतिष्ठाविधि, ध्यान साधना विधि एवं अन्यान्य कर्मकाण्डों में किस प्रकार तान्त्रिक साधना के विधि विधानों का प्रवेश होता गया है, इसका चित्रण प्रो० सागरमल जैन ने प्रस्तुत कृति में विस्तार से किया है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी मंत्र और यंत्र शब्द तो प्रायः परिभाषित हैं पर तंत्र शब्द नहीं। हाँ, "मंत्र-तंत्र" के रूप में इसका कहीं-कहीं उल्लेख अवश्य मिलता है। फलतः तंत्र को मंत्र का एक विशिष्ट रूप ही माना गया है, ऐसा लगता है। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश-३, एवं जैन लक्षणावली-२ में भी तन्त्र शब्द का उल्लेख नहीं है। यही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि "तंत्र" शब्द संभवतः ऐहिक सिद्धियों या कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रचलित माना जाता था। इसीलिये अध्यात्मवादियों ने एवं ज्ञानार्णवकार ने दसवीं सदी में अनेक तांत्रिक विधि-विधानों को प्रकारान्तर से अपना कर भी तंत्र को दुष्ट चेष्टा माना है। इसके साधक को संशक्त, लौकिक एवं मंत्रोपजीवन-दोषी माना है।[३] इसीलिये स्वतन्त्र तंत्र पद्धति जैनों में प्रतिष्ठित नहीं हो पाई।

यह पाया गया है कि अनेक जैन विद्वानों ने जैन मंत्रों का संकलन किया है, परन्तु किसी ने भी उनका मूल स्रोत नहीं लिखा। जैन साहित्य के इतिहास तथा जैन-साहित्य की विविध विधाओं के ग्रन्थों में भी जैनों के मंत्र विषयक साहित्य का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। बलदेव उपाध्याय[४] भी "जैन-तंत्र" मानते हैं पर उसका विवरण उन्होंने नहीं दिया है। हिन्दी विश्वकोश भाग-६[५] में भी इस विषय में मौन रखा गया है। इसके विपरीत बौद्ध मंत्र-तंत्र पर सर्वत्र प्रकाश डाला गया है। इसे शैव-शाक्त तंत्रों के समान गुप्त भी बताया गया है। बौद्धों में तो "मंत्र-यान" ही चल पड़ा था,[६] जिसमें कौलाचार, वामाचार आदि तांत्रिक क्रियाकलाप भी समाहित हुए। इनका साहित्य विशाल है। किन्तु उसकी तुलना में जैनों का मंत्र-तंत्र साहित्य अत्यल्प है यद्यपि अनेक विद्वानों ने उसे व्याजस्तुतिअलंकार में विशाल भी कह दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों को तंत्रवाद ने बहुत अधिक प्रभावित नहीं किया। इसका कारण संभवतः उनके निवृत्तिमार्गी सिद्धांत और उनके प्रति दृढ़आस्था ही माना जा सकता है। पर पूर्व उद्धरित उल्लेखों के अतिरिक्त जैनों के उल्लेख योग्य मंत्र साहित्य का निर्माण सातवीं-आठवीं सदी के बाद ही हुआ है जब लौकिक विधि की प्रमाणता स्वीकृत हुई। जिनसेन के महापुराण में अनेक प्रकार के मंत्रों की चर्चा है[७]। जैनों का अधिकांश मंत्र साहित्य णमोकार-मंत्र के आधार पर विकसित हुआ है।

उपलब्ध जैन मंत्र–तंत्र साहित्य में नवकार सार श्रवणं, णमोकार मंत्र महात्म्य, नमस्कार कल्प, नमस्कार स्तव (जिनकीर्तिसूरि), पंचपरमेष्ठि स्तोत्र, बीज कोश और बीज व्याकरण, मंत्रराज रहस्य (सिंहतिलक सूरि), विद्यानुशासन (कुमारसेन), मन्त्रराज (महेन्द्र सूरि) दसवीं–ग्यारहवीं सदी के अनेक प्रतिष्ठापाठ एवं कथा ग्रन्थ समाहित हैं। ग्यारहवीं सदी के अज्ञातकर्तृक ''यंत्र–मंत्र–संग्रह'', ''मंत्रशास्त्र'' एवं ''भैरव–पद्मावतीकल्प (मल्लिषेण)'' का उल्लेख भी अनेक लेखकों ने किया है। ज्ञानार्णव एवं धवला में मंत्रों के विवरण हैं। वर्तमान में कुछ विद्वानों ने हिन्दी और अंग्रेजी में ध्वनि विज्ञान के आधार पर मंत्रों या जैन मंत्रों की वैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावक व्याख्या की है। इनमें नवाब की ''महाप्रभाविक नमस्कार स्मरण'', नेमचन्द्र शास्त्री की ''णमोकारमंत्र– एक अनुचिंतन'', आर०के० जैन की ''साईंटिफिक ट्रीटाइज ऑन णमोकार मंत्र'', श्री सुशील मुनि की ''सोंग आफ दि सोल'' पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल जैनों में जो 'विद्यानुवाद' उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकता चर्चा का विषय है। अब तो ''लघु विद्यानुवाद'' और ''मंत्रानुशासन'' भी सामने आये हैं। इनमें जैनेतर–तंत्रों का प्रभाव स्पष्ट है। जैन समाज में इन ग्रन्थों की कड़ी आलोचना हुई है। जैनों के एक प्रमुख स्वर्गवासी आचार्य ने भी शास्त्रों के आधार पर मंत्र–तंत्रों के प्रभाव से अनेक दुःखितों की रक्षा की ऐसा जनसाधारण का विश्वास है पर उनकी भी समाज में आलोचना हुई थी। लेकिन इससे मंत्र–तंत्र शास्त्र की प्रभावकता की कोई विशेष हानि नहीं हुई। यह तंत्रवाद का ही प्रभाव है कि जैनों में अनेक प्रकार के देव, देवी, नवग्रह, घंटाकर्ण, पद्मावती, क्षेत्रपाल एवं सप्तऋषि आदि की पूजायें एवं अर्घ्य प्रचलित हैं। संभवतः इसका कारण सगुण भक्तिवाद की सरलता एवं मनोवैज्ञानिकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि जैनों का मंत्र–तंत्रवाद वामाचार और कौलाचार को सर्वथा अमान्य करता है और केवल उन विधि–विधानों को स्वीकार करता है जिनमें धार्मिकता एवं सामाजिकता की दृष्टि से अवांछनीय पंच–मकार के समान अनुष्ठान नहीं किये जाते। इस संदर्भ में जैनों का तंत्रवाद अन्य तंत्रों की तुलना में पर्याप्त रूप से सतर्क रहा है। यद्यपि प्रो० सागरमल जैन ने प्रस्तुत कृति में जैन आचार्यों द्वारा अनुमोदित मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि के कुछ मंत्रों का विवरण प्रस्तुत किया है।

मंत्र, यंत्र और तंत्र शब्दों के अर्थ

''मंत्र'' शब्द को छोड़कर ''यंत्र'' और ''तंत्र'' शब्द के सामान्य अर्थ ही जैन ग्रन्थों में पाये जाते हैं। ''यंत्र'' का अर्थ यांत्रिक युक्ति या पीड़न–युक्ति आदि है और ''तंत्र'' का अर्थ सिद्धान्त, विशिष्ट विद्या या कायिकी क्रिया आदि है। यह देखा गया है कि शब्दकोशों या विश्वकोषों में ''मंत्र'' और ''यंत्र'' शब्दों

के अर्थों की तुलना में "तंत्र" शब्द के अर्थों में बड़ी विविधता है। आप्टे के शब्दकोश में "मंत्र" शब्द के चार अर्थ (वेद मंत्र, सामान्य मंत्र, गुप्त सलाह, भूत–प्रेम शमन कला) दिये हैं। "यंत्र" शब्द के सात (नियंत्रण, वशीकरण, संयमन, बंधन ताबीज, मशीनें आदि) और "तंत्र" शब्द के सत्ताइस अर्थ दिये हैं। हिन्दी विश्वकोश–६ (१६८६ पेज २१२–६३) में तो "तंत्र" शब्द के अड़तीस अर्थ दिये हैं। इनसे "तंत्र" शब्द की व्यापकता का अनुमान लगता है। इनमें से हमारे विचार के लिये कुछ ही अर्थ उपयुक्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि "तंत्र" शब्द के अर्थों में क्रमशः संकोच और बाद में रूढ़िगतता आई है। प्रारंभ में यह शब्द किसी भी विलगित पद्धति, सिद्धांत या शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ (उदाहरणार्थ, न्यायदर्शन १.१.२७ में चार तंत्र बताये हैं)। फिर यह विशिष्ट विद्याओं– भूत–प्रेत, झाड़–फूंक आदि के लिये प्रयुक्त हुआ, फिर अध्यात्मीकरण के युग में शिवोक्त शास्त्र एवं दैवीशक्तियों को प्राप्त करने के लिये कायिक अनुष्ठान विशेषों के संग्रह के रूप में प्रयुक्त हुआ। वर्तमान में अनेक जैनेतर पद्धतियों में यह अंतिम अर्थ ही अभिप्रेत है। यह प्रवृत्तिमार्गी पद्धति है। जैन निवृत्तिमार्गी हैं, अतः उन्हें यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। "तंत्र" के समान "यंत्र" शब्द भी नियमनार्थ प्रयुक्त होता है। यह नियमन भूत–प्रेतों सांसारिक क्लेशों का भी हो सकता है और मन का भी हो सकता है। यह यंत्र विशिष्ट प्रकार के रहस्यमय, ज्योतिर्मय एवं ज्यामितीय आरेख होते हैं जिनमें विशिष्ट अक्षर, शब्द या मंत्र वाक्य होते हैं। ऐसा माना जाता है कि मंत्राधिष्ठित यंत्र बड़ा शक्तिशाली होता है। जैन मूर्ति प्रतिष्ठाओं में मूर्तिओं में मंत्र–न्यास किया जाता है। इसीलिये उनमें पूजनीयता एवं चमत्कारिकता आती है और मूर्ति तांत्रिक हो जाती है।

सामान्यतः "मंत्र जप" को ध्यान का ही एक रूप माना जाता है। इसमें मनः केन्द्रण द्वारा आन्तरिक शक्ति, संकल्पशक्ति एवं आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है। यह जप में उच्चारित ध्वनियों के अन्योन्य आघात से उत्पन्न होती है। इसीलिये "मंत्र" की अनेक परिभाषाओं में "मन का संधारण, मनन एवं त्राण" मुख्य हैं। प्राचीनकाल में पुराण कथाओं के माध्यम से तथा वर्तमान में अनेक घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण से मंत्रशक्ति की क्षमता एवं उसके माध्यम से परहित–निरतता एवं आत्मिक विकास के प्रति निष्ठा निरन्तर वर्धमान है।

"मंत्र" शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ जो भी हो पर इस शब्द से विशिष्टि ध्वनि समुदायों का अल्पाक्षरी पद–समूह लिया जाता है। इसमें मात्रिकाक्षर (अ–क्ष तक बीजाक्षर (क–ह तक) और पल्लव (नमः, स्वाहा, फट आदि) तीन अंग होते हैं। प्रत्येक अक्षर की विशिष्ट सामर्थ्य होती है। इसके आधार पर मंत्रों

की शक्ति आंकी जाती है। उदाहरणार्थ, ॐ शब्द प्रणववाचक, तेजोबीज एवं सिद्धिदायक है। अ, सि, आ, उ, सा, वर्ण शक्ति, समीहित साधक, बुद्धि एवं आशा के प्रतीक हैं, नमः शब्द सिद्धि एवं मंगल वाचक है। फलतः "ओम् असिआउसा नमः" मंत्र अत्यंत शक्तिशाली एवं शक्तिस्रोत है, ऐसा विश्वास किया जाता है। इसका जाप मनोरथपूरक माना गया है।

आचार्य विमलसागर जी के अनुसार जैन मंत्रों की संख्या चौरासी लाख है। इनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है (पठित–साधित, आसुरी–राजस–सात्विक, सृष्टि–स्थिति–संहार आदि) है। सरलतम रूप में, महापुराण के अनुसार मंत्र दो प्रकार के होते हैं– सामान्य और विशेष या क्रिया मंत्र। सामान्य मंत्र पूजा विधान आदि धार्मिक अवसरों पर पढ़े जाते हैं या व्यक्तिगत रूप में जपे जाते हैं। इनके अंतर्गत भूमिशुद्धि, पीठिका, काम्य, जाति, निस्तारक, ऋषिमंत्र, सुरेन्द्र मंत्र, परमराजादि मंत्र, परमेष्ठी मंत्र आदि समाहित होते हैं। पूजनादि क्रियाओं के समय इनके माध्यम से आहुतियाँ दी जाती हैं। अतः ये आहुति मंत्र भी कहलाते हैं। अन्य अवसरों पर ये क्रियामंत्र या साधनमंत्र कहलाते हैं। इनके विपर्यास में, विशेष मंत्र गर्भाधानादि लौकिक क्रियाओं की मंगलमयता के लिये प्रयुक्त होते हैं। महापुराण में इस प्रकार के सोलह मंत्रों का उल्लेख है। जिनवाणी संग्रह और अन्य ग्रन्थों में सभी प्रकार के २७ मंत्र बतलाए गये हैं।

मंत्रों की शब्द शक्ति के उद्‌भव का आधार उनका बारंबार पाठ या जप है। विभिन्न मंत्रों की साधकतमता के लिये उनकी जप संख्या विभिन्न–विभिन्न होती है। यह १०८, ११०००, या १,००००० से भी अधिक हो सकती है। स्वर्गीय आचार्य श्री सुशील मुनि ने लिखा है कि उनकी जीवन की सफलता का रहस्य णमोकार मंत्र का १,२५,००० बार का जप है। धवला १३, ५ में भी बताया गया है कि मंत्र–तंत्र की शक्ति का आधार उनकी सूक्ष्म पौद्‌गलिकता है। जप के समय अंतः कंपन होते हैं जो वीची–तरंग–न्याय से आकाश में भी कंपन उत्पन्न करते हैं। ये कंपन विद्युत चुम्बकीय शक्ति के रूप हैं। इनकी तीव्रता मंत्र की स्वर–व्यंजनात्मक ध्वनियां एवं जप संख्या पर निर्भर करती है एवं वर्धमान होती है। जब ये कंपन पुंज अपने उद्‌भव केन्द्र पर आते हैं, तब तक वे पर्याप्त शक्तिशाली हो जाते हैं। इस शक्ति का अनुभव मंत्र साधक को आश्चर्य और आह्लाद के रूप में होता है। यह शक्ति लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्रदान करती है। यही शक्ति दृष्टि, स्पर्श, विचार और मंत्रोच्चारणों के माध्यम से भक्तों को अंतःशक्ति प्रदान करती है। मंत्रों से अनेक विद्यायें सिद्ध होती हैं मंत्रों से मंत्राधिष्ठित देवता तुष्ट होकर सहयोगी बनते

हैं, जिनसे लौकिक और पारलौकिक कामनायें पूर्ण होती हैं। जैन शास्त्रों में बताया गया है कि ऐहिक कामना वाले मंत्र अप्रशस्त होते हैं पर सामान्य जन के लिये तो ये ही मंत्र मनोवैज्ञानिकतः संतोषकारी होते हैं। यह भी माना जाता है कि गुण प्रधान मंत्र अधिक बलवान होते हैं। इसीलिये जैनों का णमोकार मंत्र प्रबलतम मंत्र माना गया है। सारणी १ में कुछ प्रमुख जैन मंत्रों के नाम और उनकी साधकतम जप संख्या दी गई है–

सारिणी–१ कुछ मुख्य जैन मंत्र और उनकी साधकतम जप संख्या

१ णमोकार मंत्र	५ पद, ३५ अक्षर, ५८ मात्रायें,	१,२५,००० (या १०८ बार प्रतिदिन)
२. पंचपरमेष्ठि मंत्र	–	१०८ बार प्रतिदिन
३. सर्वसिद्धि मंत्र	ॐ अ सि आ उ सा नमः	१,२५,०००
४. लघुशांति मंत्र	ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अर्हं नमः	२१,०००
५. वशीकरण मंत्र		११,०००
६. महामृत्युंजय मंत्र		३१,०००–१,२५,०००
७. कार्य सिद्धि मंत्र		१,२५,०००
८. भूत–प्रेत बाधा निवारक मंत्र		११,०००
९. रोग निवारक मंत्र		१,२५,०००
१०. परदेशमगन/लाभ मंत्र		११,०००
११. मनवांछित फल मंत्र		१,२५,०००
१२. विद्या प्राप्ति मंत्र		२१,०००
१३. त्रिभुवन स्वामिनी विद्या मंत्र		२४,०००
१४. रक्षा मंत्र		१०८
१५. पासा (रमल) मंत्र		३ बार
१६. जृंभण मंत्र, मोहन मंत्र, स्तंभन मंत्र, विद्वेषण मंत्र, उच्चाटन मंत्र,		
१७. मारण मंत्र, पौष्टिक मंत्र		

मंत्र, यंत्र और तंत्र के समान पारिभाषिक शब्दों के उपरोक्त सामान्य एवं रूढ़ अर्थों के अतिरिक्त उनकी परिभाषायें उनके चार रूपों को व्यक्त करती हैं– (१) व्युत्पत्तिगत (२) स्वरूपगत (३) उद्देश्यगत और (४) क्रियागत । इस आधार पर सारिणी २ में इनके विवरण तथा अन्य विवरण भी दिये जा रहे हैं।

सारिणी–२ मंत्र, यंत्र और तंत्र की विविध परिभाषायें और अन्य विवरण

मंत्र	यंत्र	तंत्र
१. व्युत्पत्तिगत–		
मनसो (विचलनतः) त्राणं करोति, एकाग्रं करोति	यच्छति (प्रदाति) शुभं, नियमनं करोति	साधकस्य तनो त्राणं करोति ज्ञानं विस्तारयति
२. स्वरूपगत–		
(अ) ध्वनि समुदाययुक्त अक्षर / पद समूह, मातृकापद, बीजाक्षर, पल्लवयुक्त,	तांबा, सोना, चाँदी, भोजपत्र या कागज पर विशिष्ट ज्यामितीय आकृति में लिखित एवं संस्कारित शब्द, मंत्र, चित्र	मंत्र एवं यंत्र से समन्वित क्रियात्मक साधन मार्ग, मंत्र–जप, यंत्र–पूजन एवं अनुष्ठानों की पद्धति
(ब) मनो–भौतिक	भौतिक	भौतिक–मानसिक
(स) सगुण–निर्गुण योग	सगुण	सगुण–योग
(द) बारम्बार जप से अजेय शक्ति स्रोत	अल्प शक्ति स्रोत	भक्ति और अनुष्ठानों से मध्यम शक्ति स्रोत
३. उद्देश्यगत–		
लौकिक एवं आध्यात्मिक (मनोकामना पूर्ति, आत्मानुभूति, अन्तःशक्ति का उद्भव)	लौकिक मनोकामना पूर्ति	लौकिक मनोकामना पूर्ति, शक्ति संचय
निवृत्ति प्रधान लक्ष्य	प्रवृत्ति–निवृत्ति प्रधान लक्ष्य	प्रवृत्ति–प्रधान ब्रह्मलीनता का लक्ष्य
४. क्रियागत–		
(अ) लघु वर्णन, व्यापक क्षेत्र	लघु वर्णन, व्यापक क्षेत्र	लघुतम वर्णन, सीमित क्षेत्र
(ब) मानसिक / वाचिक जप द्वारा साधना	पूजा द्वारा स्तवन	क्रियात्मक अनुष्ठान द्वारा संस्करण
(स) चतुरंगी साधना पद्धति (जप, ध्यान, पूजा, हवन)	–	जप, ध्यान, पूजा, हवन का भक्ति मार्ग
(द) पुरूषार्थी साधन	भक्तिवादी साधना	आत्म समर्पण एवं भक्तिवादी पद्धति
(य) कष्ट साध्य	सुख साध्य	सुख साध्य
(र) अब सार्वजनिक और वैज्ञानिकतः पुष्ट	सगुण और मनोवैज्ञानिक	गोपनीय
(ल) अरण्यपीठ साधना	–	श्मशान साधना, शव साधना, श्यामा साधना एवं अरण्यपीठ साधना
५. उपयोगिता–		
पापनाशक, विष–विघ्न हर शुभदायक भूत–प्रेत बाधा हर, संकल्प शक्ति, अंतःशक्ति, आनुषंगिक सिद्धियां		भूत–प्रेत बाधा हर, झाड़–फूंक, शाप–वरदान; चमत्कार, अनेक अचरजकारी सिद्धयाँ
६. संख्या और भेद–प्रभेद		
८४,००,००० जैन मंत्र सामान्य और विशेष मंत्र	जैनों के विशिष्ट यंत्र ४८ अन्य तंत्रों में धारण यंत्र १५, पूजन यंत्र ४, आयुर्वेदीय यंत्र १०१, ज्योतिषीय यंत्र–अनेक	जैनों में तंत्र भेद प्रचलित नही पर वामाचार और कौलाचार पूर्णतः अमान्य

सारिणी २ में तंत्र संबंधी अनेक सूचनायें परम्परानुसार दी गई हैं। इनसे मंत्र, यंत्र और तंत्र के विषय में जैन मान्यताओं का स्पष्ट संकेत मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि तंत्र, क्रिया और अनुष्ठान प्रधान है और यह संस्कारित

शारीरिक साधना मार्ग से उच्चतर मार्ग की ओर बढ़ता है। इसमें मंत्रों और यंत्रों—दोनों का उपयोग होता है। यह भक्तिवादी और आत्मसमर्पणवादी है। यह मुख्यतः सगुण भक्ति का रूप है। यह प्रवृत्तिमार्गी है। इसकी साधना श्मशान, शव एवं श्यामापीठ में अधिक स्वीकृत है जबकि जैन अरण्यपीठ साधना में विश्वास करते हैं। इसके विपर्यास में, जैन मंत्र और यंत्र विद्या अध्यात्ममुखी ही अधिक है। उसमें लौकिक कामनाओं का समाहार कालप्रभाव से ही हुआ है। इसके लिये अनेक विद्वानों ने आश्चर्य भी प्रकट किया है। तथापि जैन विद्वानों ने इस समाहार की पुष्टि की है और कुंडलिनी के समान शब्द और भैरव—पद्मावती कल्प के समान यंत्र, तंत्र को सामान्य जन की मनोवैज्ञानिकता के संतोष एवं जैन पद्धति के समन्वयवादी दृष्टि के कारण परवर्ती प्रभाव के रूप में स्वीकार किया है। इसीलिये जैन मंत्रों में भी ऐहिक—कामना विशेष परक नौ प्रकार के मंत्र (सारिणी—१ क्रमांक ४,५ एवं १६, १७) समाहित हुए हैं। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मानना चाहिये कि यदि मंत्रों से ऐहिक लक्ष्य पूर्ण हो सकते हैं तो वे परलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक होंगे। यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन की वैज्ञानिक प्रक्रिया भी है। वस्तुतः धर्म अध्यात्ममुखी होने के साथ—साथ वह ऐहिक जीवन को भी सुखमय बनाता है। मंत्र—तंत्र मानव के सुखवर्धन में सहायक होते हैं और आत्मिक सुख के भी प्रेरक होते हैं। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जैन मंत्रों, यंत्रों और तंत्र के स्वरूप जैन सम्मत महापुरुषों एवं गुणों पर ही आधारित हैं, तंत्रातर के देवी—देवता इसमें बहुत कम स्थान पाते हैं। इस संबंध में यंत्रों के विषय में सूचनायें रोचक होंगी।

जैन पद्धति में "यंत्र" संबंधी विवरण

विश्व' हिन्दी कोश—१८ में जैनेतर पद्धतियों में "यंत्र" संबंधी मान्यताओं का विशद् विवरण दिया है। इसके अनुसार यंत्र दो प्रकार के होते हैं— (१) धारण यंत्र (ताबीज आदि) (२) पूजा यंत्र। धारण यंत्रों में दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश, श्रीराम, कृष्ण, काली, तारा, भैरव, शिव आदि १५ यंत्रों के नाम हैं जबकि पूजा यंत्रों में श्यामा पूजा, बालामुखी, नवग्रह और श्रीविद्या यंत्र समाहित हैं। वहाँ १०१ आयुर्वेदीय यंत्र और अनेक ज्योतिषीय यंत्र भी दिये गये हैं। पर ये तंत्रवाद में काम नहीं आते। तंत्रवाद में यंत्र को संस्कारित करने के बाद ही शक्तिपीठ एवं साधकतम माना जाता है। इनका भक्तिवादी विधि से पूजन—अर्चन करने पर लाभ मिलता है। इसके विपर्यास में, जैनों में सैद्धान्तिक रूप से धारण यंत्रों की मान्यता नहीं है। हाँ, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—३ (पृष्ठ ३४७—६८) में ४८ प्रकार के पूजन यंत्रों के चित्र दिये गये हैं। इनमें सिद्धचक्र, ऋषिमंडल, कर्मदहन, णमोकारयंत्र, दशलक्षणधर्म, निर्वाण संपत्ति, मृत्युंजय, मोक्षमार्ग, रत्नत्रय,

ब्रजमंडल, शांति, वर्धमान, षोडशकारण, सरस्वती, सर्वत्रोभद्र यंत्र समाहित हैं। प्रस्तुत कृति में लेखक द्वारा इनका सम्यक् विवेचन किया गया है। ताणपत्र या कागज के बने यंत्रों में संख्यायें या अक्षर होते हैं। ऐहिक कामना वाले यंत्रों में भी मंत्राक्षर प्रमुख होते हैं। जैनेतर तंत्रों में जहाँ यंत्र देवता प्रधान एवं देवतानुग्रहकांक्षी होते हैं, वहीं जैन यंत्र मुख्यतः गुण प्रधान और मंत्र प्रधान होते हैं। जैन देवताओं के नाम उनमें कम पाये जाते हैं। इन यंत्रों के संस्कार की विधि भी जैनों में अति सरल है।

जैन पद्धति में तंत्रवाद

सामान्यतः यह माना जाता है कि मंत्रवाद और तंत्रवाद का चरम लक्ष्य एक ही है– परम आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वरत्व या अद्वैतत्त्व की प्राप्ति। इसीलिये प्रारंभ में इनके लिये मंत्र–तंत्र के रूप में एक ही शब्द प्रयुक्त होता रहा। जैनेतर तंत्रों में मंत्र वैदिक क्रियाकांड के प्रतीक हैं और तंत्र वैदिकोत्तर क्रियाकाण्ड के प्रतीक हैं और कलियुग के लिये सर्वाधिक फलप्रद माने गये हैं। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यं' के आधार पर भारतीय सस्कृति बुद्धिवाद से परे जाकर श्रद्धावाद की गोद में पनपती रही है। गोपनीय क्रियाकाण्ड होने से तंत्रों की विविधता गुरुओं पर निर्भर करती हैं। यही कारण है कि हिन्दी विश्वकोश–६ में लगभग दो सौ हिन्दू तंत्रों और ७२ बौद्ध तंत्रों के नाम दिये गये हैं। भारत के अतिरिक्त चीन, नेपाल, तिब्बत भी तंत्रवाद के केन्द्र रहे हैं। काशी आज भी इसका केन्द्र है। तांत्रिकों के मुख्यतः दो प्रकार के क्रियाकाण्ड होते हैं– (१) वैदिक और (२) वामाचार या (उत्तर) कौलाचार । पर इनमें 'तांत्रिक' शब्द से आजकल वामाचारीय या कौलाचारी ही लिये जाते हैं जो पंचमकार सेवन द्वारा अभिषिक्त होते हैं, इन्हें ही वीरभावी कहा जाता है। ये शिव, विष्णु एवं शक्ति के पूजक माने जाते हैं। यदि हम 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्य' की धारणा के विपर्यास में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें, तो जैनेतर तंत्रवाद के उल्लेख शंकराचार्य के बाद ही स्पष्टतया मिलते हैं। इसे गौड़ एवं कामाख्या से उद्भूत माना जाता है। समयानुसार इसका १५वीं सदी तक विकास होता रहा। इसमें विभिन्न प्रकार के कम से कम ५२ विषयों का वर्णन पाया जाता है। तंत्रवाद के साधन मार्ग को पहले "पाखण्ड" कहा जाता था, पर बाद में इस नाम के प्रति उदासीनता हो गई।

तांत्रिक क्रियाकाण्ड में योग्य पात्र सद्गुरु से शुभमास, मुहूर्त्त एवं नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण करता है और फिर पूर्णाभिषिक्त होता है। इसमें अभिलषित देवी–देवताओं का पूजन, अभिमंत्रण एवं कुल–पूजन भी होता है। वामाचार या

उत्तर कौलाचार में मद्यादि पंचभौतिक प्रक्रियाओं के साथ षोडशियों के प्रत्यक्ष–योनि पूजन एवं रमण की परम्परा तथा अनेक प्रकार के जप समाहित हैं। पर 'वामाचार' के साधन मार्ग, उसकी गोपनीयता तथा साधकों की सहज दुर्बलता ने इसे जनसमुदाय में तिरस्कार का पात्र बना दिया। इसके बावजूद भी तांत्रिकों की झाड़–फूंक, भूत–प्रेत बाधा, शाप–वरदान आदि शक्तियों से सामान्य जन आज भी अभिभूत है और उनके प्रति बाह्य आदर भी प्रकट करता है। वस्तुतः इस तंत्र में "भोगो योगायते" की कहावत चरितार्थ होती है। पुरुषार्थ चतुष्टय में भी काम से मोक्ष की बात आती है। सत्यभक्त भी काम सुख को मोक्ष का प्रेरक मानते हैं। इस तंत्रवाद को ओशो की संभोग से समाधि की धारणा का पूर्व रूप मानना चाहिये?[10] संभवतः उनकी मान्यता का स्रोत यह वामाचारी तंत्रवाद ही रहा हो। इसकी आध्यात्मिकता की उन्होंने चतुश्चरणीय, तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या दी है:

काम–जागरूक काम–प्रेम–प्रार्थना–ईश्वरत्व प्राप्ति

इसके तामसिक तत्त्वों को उन्होंने अमान्य किया है। उन्होंने "काम" को ध्यान के साधन के रूप में प्रयोग करने की बात कही है। संभवतः "वामाचार" की साधना सिद्धि का रहस्य भी यही तथ्य रहा होगा जो सामान्य जन की समझ से परे रहा। इसीलिये ये दोनों ही साधनायें लोकप्रिय नहीं हो सकीं। यह तो अच्छा रहा कि पूर्वी कौलाचार में पंचतत्त्वों के अध्यात्मीकरण के कारण उनके अर्थ भी तदनुरूप ही अन्तर्यागी हो गये हैं और अभ्यंतर अनुष्ठान के प्रतीक बन गये हैं:

मद्य	–	ब्रह्मरंध्र के सहस्रदलकमल से क्षरित सुधा
मांस	–	पुण्य–पाप पशुओं को मार कर मन को ब्रह्मलीन करना
मत्स्य	–	श्वास–प्रश्वास रूपी मत्स्यों को प्राणायाम द्वारा साधित करना
मुद्रा	–	असत्–संग का त्याग
मैथुन	–	शिव और शक्ति का संयोग, सुषुम्ना और प्राण का संयोग

तंत्रवाद का मूल उद्देश्य शिव और शक्ति का एकीभाव एवं व्यक्ति का परम कल्याण है। यदि तंत्रवाद इस अध्यात्मीकृत अंतर्याग एवं अंतःशक्ति के स्रोत के रूप में रहा होता, तो यह मानव की पशु शक्ति को दिव्य शक्ति में परिणित करने का महत्त्वपूर्ण मार्ग बना रहता। इस प्रकार अध्यात्मीकृत तंत्र–मंत्र, यंत्र, पूजन, जप और ध्यान का सम्मिलित रूप है और भक्तिवादी प्रवृत्ति का प्रेरक एवं साधक है। यह मंत्रवाद के उत्तरवर्ती सरल पथ की परम्परा है।

तंत्रवाद के सामान्य विवरण की तुलना में यह कहा जा सकता है कि जैनों का मंत्र–तंत्रवाद अर्थतः तो अनादि है ही, शब्दतः भी णमोकार के रूप में और उसके आधार पर विकसित अनेक मंत्र, यंत्र और जपों के रूप में ईसापूर्व सदियों जितना पुराना तो है ही। जैन मन्त्र प्रारम्भ में अभ्युदय एवं निःश्रेयषपरक होते थे पर प्रशस्तः अध्यात्मपथी मंत्रों की मान्यता थी। इनकी साधना या जाप सात्विक वातावरण में ही की जाती थी। उत्तरवर्ती तांत्रिक वामाचार जैसी कोई साधना जैनों के लिए अकल्पनीय रही है। तथापि चरम उद्देश्यगत समानता के कारण एक ही लक्ष्य के दो विविध मार्ग उपलब्ध हुए। वामाचार की गोपनीयता एवं अलोकप्रियता ने तंत्रवाद के आध्यात्मिक रूप को प्रस्तुत किया। इससे इसमें पर्याप्त सात्विकता आई और इस रूप में जैनों के अन्तःशक्ति जागरण के पथ के विकल्प के रूप में तंत्रवाद की लौकिक स्वीकृति अनुमेय हो सकती है। फिर भी तंत्रवाद जैनों में सैद्धान्तिक या साधनात्मक दृष्टि से कभी लोकप्रिय नहीं रहा। जैन और जैनेतर तंत्रवाद के अभिलक्षणों को निम्न सारिणी से समझा जा सकता है–

सारिणी–३ जैन एवं जैनेतर तंत्रवाद के अभिलक्षण

१. सामान्य परिभाषा	मंत्र जप, + यंत्र पूजन	मंत्र जप, यंत्र पूजन, कुल पूजन
२. उद्देश्य	लौकिक एवं आध्यात्मिक, प्रशस्तता अध्यात्म मार्ग की	मुख्यतः लौकिक पर उद्देश्य ब्रह्मलीनता
३. दीक्षा–पात्र	शरीरतः स्वस्थ प्रत्येक व्यक्ति	सभी वर्ण, शूद्र और स्त्रियाँ
४. उद्भव स्थल	मगध–कोशल (आर्य देश)	गौड़ / कामाख्या (जैनों के अनुसार अनादि देश)
५. उद्भव काल	ईसा पूर्व सदियाँ	ईसोत्तर ७वीं सदी के आसपास
६. प्रकटता	सार्वजनिक	अत्यंत सीमित और गुप्त
७. साधक संख्या	तुलनात्मकतः अधिक, एकल साधना	बहुत कम, द्विकल–साधना
८. साधना मार्ग	मानसिक / वाचिक जप पूजन	दीक्षा एवं अभिषेक हेतु क्रियात्मक अनुष्ठान, योषा या उसका प्रतिबिम्ब आवश्यक
९. आचार	अंतर्यागी समयाचार	वामाचार, कौलाचार, समयाचार, सिद्धान्ताचार
१०. भाव	पशुभाव	वीरभाव, दिव्यभाव
११. पूजन	समयाचारी पूजन	प्रत्यक्ष योनि पूजन, श्रीचक्र योनि पूजन
१२. गुरु	अनिवार्य नहीं	अनिवार्य

१३. साधनापीठ	मुख्यतः अरण्यपीठ	श्मशान, शव, श्यामा और अरण्यपीठ
१४. साहित्य	अल्प	विशाल
१५. आधार	पुरुषार्थ	क्रियात्मक, भक्ति, आत्म–समर्पण
१६. तत्त्व ज्ञान	रत्नत्रय से मोक्ष, छः द्रव्य,	रत्नत्रय (शिव, शक्ति, बिन्दु) मत,
१७. देवता	जिन, तीर्थंकर	शिव, विष्णु, शक्ति के विविध रूप

इससे स्पष्ट है कि परिभाषा और उद्देश्यों की समानता के बावजूद भी आध्यात्मिक विकास के कार्य में जैनों ने तंत्र को कभी प्राधनता नहीं दी। उनके लिए उसका आधार तो सदाचरण ही रहा है। परिणामतः जहाँ जैनेतर तंत्रवाद अभी भी, जीवित है, जैन मंत्रतंत्रवाद उपासकों की भौतिक उपलब्धि के साधन के अतिरिक्त यथार्थतः कोई महत्त्व प्राप्त नहीं कर पाया।

प्रस्तुत कृति में प्रो० सागरमल जैन ने तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से जैन तन्त्र साधना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है और यही इस कृति का वैशिट्य कहा जा सकता है। यद्यपि जैन मन्त्र, अथवा तान्त्रिक कर्मकाण्डों को लेकर जैन परम्परा में भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनमें कहीं भी स्पष्टता के साथ यह नहीं बताया गया है कि ये किस प्रकार अन्य परम्परा से प्रभावित हैं और उनमें जैनत्व का अंश कितना है। जबकि प्रो० सागरमल जैन ने इन तथ्यों पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार यह कृति जैन तन्त्र पर अभी तक प्रकाशित कृतियों से भिन्न है। प्रो० सागरमल जैन, जैन–विद्या के उन मनीषियों में से हैं जो सम्प्रदाय एवं परम्परा से ऊपर उठकर निर्भीक रूप से अपनी बात रखते हैं। उनकी प्रत्येक कृति निष्पक्ष तुलना · क अध्ययन की दृष्टि से विद्वत् जगत् में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आशा है कि उनकी इस कृति का भी विद्वत् जगत् में सम्मान होगा। मैं प्रो० सागरमल जैन का आभारी हूँ कि उन्होंने अपनी इस कृति के लिए भूमिका लिखने का मुझे अवसर प्रदान किया।

पर्युषणपर्व
३०.०८.९७

नन्दलाल जैन
रीवां

संदर्भ (भूमिका)

१. देवोत, सोहनलाल, जैन विद्या सेमिनार, बोरिवली, बंबई, १९८२ में पठित लेख.

२. सिंघई, प्रकाशचंद्र; जैन शास्त्रों में मंत्रवाद, जमोला साधुवाद ग्रन्थ, रीवा, १९८८ पृ. १९७.

३. वर्णी, जिनेन्द्र, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश–३, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९९३ पृ. २४५.

४. उपाध्याय बलदेव; भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी, १९६६ पृ. ४२७–८३. १२९.

५. बसु, एन. एन.; हिन्दी विश्वकोश– ८. बी.आर. पब्लिकेशन्स्, दिल्ली, १९८६ पृ. २८६.

६. उपाध्याय बलदेव, भारतीय दर्शन, पृ. ४२७–८३.

७. बसु एन०एन०, हिन्दी विश्वकोश पृ. २८९, भाग–९.

८. (अ) शास्त्री, नेमचन्द्र; णमोकार मंत्र– एक अनुचिंतन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६६.

(ब) शाह, अंबालाल, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग–५, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, काशी, १९६६.

९. आप्टे, व्ही. एस.; संस्कृत इंग्लिश डिक्शेनरी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९३ पृ. २२९, ४२४, ४५४.

१०. ओशो, रजनीश दी साइलेंट एक्सप्लोजन, आनंदशील पब्लिकेशन्स्, बंबई, १९७३ पृ. ७७–९१.



विषय-सूची

अध्याय–१

तन्त्र–साधना और जैन जीवनदृष्टि

तन्त्र शब्द का अर्थ

जैनधर्मदर्शन और साधना पद्धति में तांत्रिक साधना के कौन–कौन से तत्त्व किस–किस रूप में उपस्थित हैं, यह समझने के लिए सर्वप्रथम तंत्र शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। विद्वानों ने तंत्र शब्द की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ अनेक प्रकार से की हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएँ व्युत्पत्तिपरक हैं और कुछ रूढ़ार्थक। व्युत्पत्ति की दृष्टि से तन्त्र शब्द 'तन्'+'त्र' से बना है। 'तन्' धातु विस्तृत होने या व्यापक होने की सूचक है और 'त्र' शब्द त्राण देने या संरक्षण करने का सूचक है। इस प्रकार जो आत्मा को व्यापकता प्रदान करता है और उसकी रक्षा करता है उसे तन्त्र कहा जाता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में 'तन्त्र' शब्द की निम्न व्याख्या उपलब्ध है–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।

अर्थात् जो तत्त्व और मन्त्र से समन्वित विभिन्न विषयों के विपुल ज्ञान को प्रदान करता है और उस ज्ञान के द्वारा स्वयं एवं दूसरों की रक्षा करता है, उसे तत्र कहा जाता है। वस्तुतः तंत्र एक व्यवस्था का सूचक है। जब हम तंत्र शब्द का प्रयोग राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र आदि के रूप में करते हैं, तब वह किसी प्रशासनिक व्यवस्था का सूचक होता है।

मात्र यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक विशुद्धि और आत्म–विशुद्धि के लिए जो विशिष्ट साधना विधियाँ प्रस्तुत की जाती है, उन्हें 'तंत्र' कहा जाता है। इस दृष्टि से 'तंत्र' शब्द एक व्यापक अर्थ का सूचक है और इस आधार पर प्रत्येक साधना विधि 'तंत्र' कही जा सकती है। वस्तुतः जब हम शैवतंत्र, शाक्ततंत्र, वैष्णवतंत्र, जैनतंत्र या बौद्धतंत्र की बात करते हैं, तो यहाँ तंत्र का अभिप्राय आत्म विशुद्धि या चित्त विशुद्धि की एक विशिष्ट पद्धति से ही होता है। मेरी जानकारी के अनुसार इस दृष्टि से जैन परम्परा में 'तन्त्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों–पञ्चाशक और ललितविस्तरा (आठवीं शती) में किया है। उन्होंने पञ्चाशक (२/४४) में जिन आगम को और ललितविस्तरा में जैनधर्म

के ही एक सम्प्रदाय को 'तंत्र' के नाम से अभिहित किया है। (देखें ललितविस्तरा पृ० ५७–५८)। इससे फलित होता है कि लगभग आठवीं शती से जैन परम्परा में 'तंत्र' अभिधान प्रचलित हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में आगम को ही 'तंत्र' कहा गया है। आगे चलकर आगम का वाचक तन्त्र शब्द किसी साधनाविधि या दार्शनिकविधा का वाचक बन गया। वस्तुतः तंत्र एक दार्शनिक विधा भी है और साधनामार्ग भी। दार्शनिकविधा के रूप में उसका ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय पक्ष तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसकी अपनी एक जीवन दृष्टि भी होती है जिसके आधार पर उसकी साधना के लक्ष्य एवं साधनाविधि का निर्धारण होता है। वस्तुतः किसी भी दर्शन की जीवनदृष्टि ही एक ऐसा तत्त्व है, जो उसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं साधनाविधि को निर्धारित करता है और इन्हीं सबसे मिलकर उसका दर्शन एवं साधनातंत्र बनता है।

व्यावहारिक रूप में वे साधनापद्धतियाँ जो दीक्षा, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, ध्यान, कुण्डलिनी शक्ति जागरण आदि के माध्यम से व्यक्ति के पाशविक या वासनात्मक पक्ष का निवारण कर उसका आध्यात्मिक विकास करती है या उसे देवत्व के मार्गपर आगे ले जाती है, तंत्र कही जाती है। किन्तु यह तंत्र का प्रशस्त अर्थ है और अपने इस प्रशस्त अर्थ में जैन धर्मदर्शन को भी तंत्र कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अपनी एक सुव्यवस्थित, सुनियोजित साधना विधि है, जिसके माध्यम सें व्यक्ति वासनाओं और कषायों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विकास के मार्ग में यात्रा करता है। किन्तु तंत्र के इस प्रशस्त व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ ही 'तंत्र' शब्द का एक प्रचलित रूढ़ार्थ भी है जिसमें सांसारिक आकांक्षाओं और विषय–वासनाओं की पूर्ति के लिए मद्य, मांस, मैथुन आदि पंच मकारों का सेवन करते हुए यन्त्र, मंत्र, पूजा, जप, होम, बलि आदि के द्वारा मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण आदि षट्कर्मों की सिद्धि के लिए देवी–देवताओं की उपासना की जाती है और उन्हें प्रसन्न करके अपने अधीन किया जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की साधना का लक्ष्य व्यक्ति की लौकिक वासनाओं और वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि ही होता है। अपने इस प्रचलित रूढ़ार्थ में तंत्र को एक निकृष्ट कोटि की साधना पद्धति समझा जाता है। इस कोटि की तान्त्रिक साधना बहुप्रचलित रही है जिससे हिन्दू, बौद्ध और जैन–तीनों ही साधना विधियों पर उसका प्रभाव भी पड़ा है। फिर भी सिद्धान्ततः ऐसी तान्त्रिक साधना जैनों को कभी मान्य नहीं रही, क्योंकि वह उसकी निवृत्ति प्रधान जीवन दृष्टि और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। यद्यपि ये निकृष्ट साधनाएं तन्त्र के सम्बन्ध में एक भ्रान्त अवधारणा ही है, फिर भी सामान्यजन तन्त्र के सम्बन्ध में इसी धारणा का शिकार रहा है। सामान्यतया जनसाधारण में प्राचीन काल से ही तान्त्रिक

साधनाओं का यही रूप अधिक प्रचलित रहा है। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी तन्त्र के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं।

भोगमूलक जीवनदृष्टि और वासनोन्मुख तन्त्र की इस जीवनदृष्टि के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा गया है। कुलार्णव में कहा गया है कि सामान्यतया जिन वस्तुओं के उपभोग को पतन का कारण माना जाता है उन्हें कौलतन्त्र में महात्मा भैरव ने सिद्धि का साधन बताया है। इसी प्रकार न केवल हिन्दू तांत्रिक साधना में अपितु बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही कठोर-साधनाओं के द्वारा आत्मपीड़न की प्रवृत्तियों को उचित नहीं माना गया। भगवान बुद्ध ने मध्यममार्ग के रूप में जैविक मूल्यों की पूर्ति हेतु भोगमय जीवन का भी जो आंशिक समर्थन किया था वही आगे चलकर बौद्ध धर्म में वज्रयान के रूप में तांत्रिक भोगमूलक जीवनदृष्टि के विकास का कारण बना और उसमें भी निवृत्तिमय जीवन के प्रति विरोध के स्वर मुखरित हुए। चाहे बुद्ध की मूलभूत जीवनदृष्टि निवृत्तिमार्गी रही हो, किन्तु उनके मध्यममार्ग के आधार पर ही परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने वज्रयान या सहजयान का विकास कर भोगमूलक जीवन दृष्टि को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। गुह्यसमाज तन्त्र में कहा गया है कि–

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्।।
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति।।
(गुह्यसमाजतंत्र पृ० २७)

भोगमूलक जीवनदृष्टि के समर्थकों का तर्क यह है कि कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे, कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार वे उसे दबाते होंगे, परन्तु क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा, दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से दबते न देख, अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए संयम की जागरूक अवस्था में थोड़ा अवसर दिया कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्तक्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हो–

तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन।।
(प्रज्ञोपायविनिश्चय ५/४०)

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल हिन्दू तांत्रिक साधनाओं में अपितु बौद्ध तांत्रिक साधना में भी किसी न किसी रूप में भोगवादी जीवन दृष्टि का समर्थन हुआ है। यद्यपि परवर्तीकाल में विकसित बौद्धों की यह भोगमूलक जीवनदृष्टि भारत में उनके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का कारण बनी। क्योंकि इस भोगमूलक जीवनदृष्टि को अपना लेने पर बौद्ध और हिन्दू परम्परा का अन्तर समाप्त हो गया। दूसरे इसके परिणाम स्वरूप बौद्ध भिक्षुओं में भी एक चारित्रिक पतन आया। फलतः उनके प्रति जन-साधारण की आस्था समाप्त हो गयी और बौद्ध धर्म की अपनी कोई विशिष्टता नहीं बची, फलतः वह अपनी जन्मभूमि से ही समाप्त हो गया।

जैनधर्म में तन्त्र की भोगमूलक जीवन दृष्टि का निषेध

तन्त्र की इस भोगवादी जीवनदृष्टि के प्रति जैन आचार्यों का दृष्टिकोण सदैव निषेधपरक ही रहा है। वैयक्तिक भौतिक हितों एवं वासनाओं की पूर्ति के निमित्त धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि की प्राप्ति हेतु अथवा कामवासना की पूर्ति हेतु अथवा शत्रु के विनाश के लिए की जानेवाली साधनाओं के निर्देश तो जैन आगमों में उपलब्ध हो जाते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार की तांत्रिक साधनाएं प्राचीन काल में भी प्रचलित थीं किन्तु प्राचीन जैन आचार्यों ने इसे सदैव हेय दृष्टि से देखा था और साधक के लिए ऐसी तांत्रिक साधनाओं का सर्वथा निषेध किया था। सूत्रकृताङ्ग (२/३/१८) में चौंसठ प्रकार की विद्याओं के अध्ययन या साधना करने वालों के निर्देश तो हैं किन्तु उसमें इन विद्याओं को पापश्रुत-अध्ययन कहा गया है। मात्र यही नहीं उसमें स्पष्टरूप से यह भी कहा गया है कि जो इन विद्याओं की साधना करता है वह अनार्य है, विप्रतिपन्न है और समय आने पर मृत्यु को प्राप्त करके आसुरी और किल्विषिक योनियों को प्राप्त होता है।

पुनः उत्तराध्ययनसूत्र (१५/७) में कहा गया है कि जो छिद्रविद्या, स्वरविद्या, स्वप्नलक्षण, अंगविद्या आदि के द्वारा जीवन जीता है वह भिक्षु नहीं है। इसी प्रकार दशवैकालिकसूत्र (८/५०) में भी स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि मुनि नक्षत्रविद्या, स्वप्नविद्या, निमित्तविद्या, मन्त्रविद्या और भैषज्य शास्त्र

का उपदेश गृहस्थों को न करे। इनसे स्पष्टरूप से यह फलित होता है कि वैयक्तिक वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना को जैन आचार्यों ने सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है।

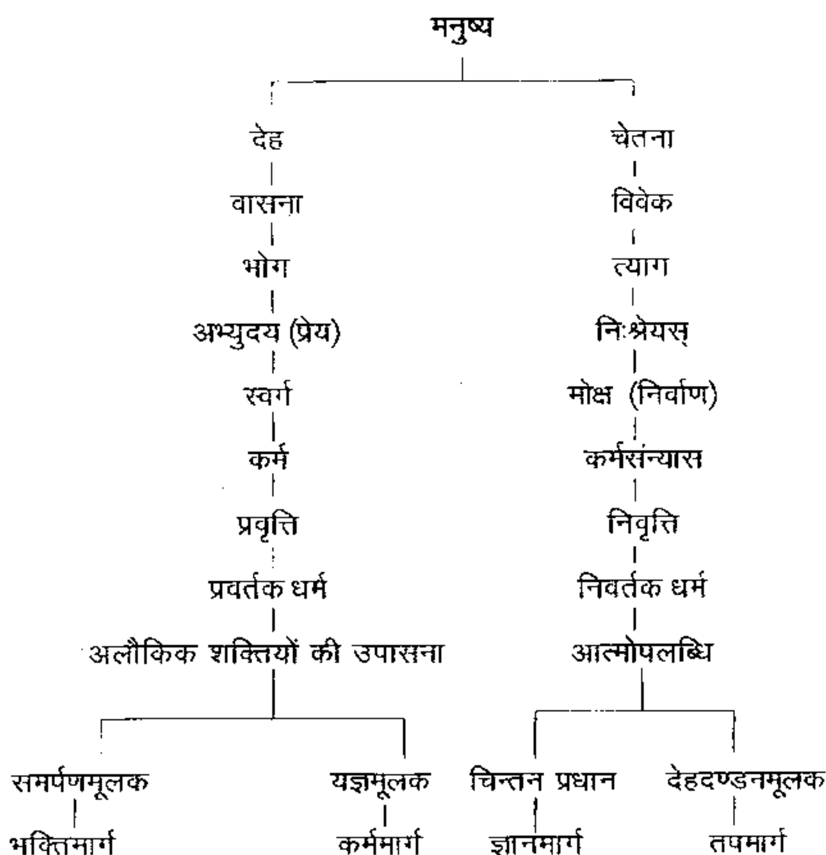
यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सांसारिक विषय–वासनाओं की पूर्ति के निमित्त पशुबलि देना, मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्राओं का सेवन करना एवं मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की साधना करके अपने क्षुद्र लौकिक स्वार्थों और वासनाओं की पूर्ति करना जैन आचार्यों को मान्य नहीं हो सका, क्योंकि यह उनकी निवृत्तिप्रधान अहिंसक जीवन दृष्टि के विरुद्ध था किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जैनधर्म ऐसी तान्त्रिक साधनाओं से पूर्णतः असंपृक्त रहा है। प्रथमतः विषय वासनाओं के प्रहाण के लिए अर्थात् अपने में निहित पाशविक वृत्तियों के निराकरण के लिए मंत्र, जाप, पूजा, ध्यान आदि की साधना विधियाँ जैन धर्म में ईस्वी सन् के पूर्व से ही विकसित हो चुकी थीं। मात्र यही नहीं परवर्ती जैनग्रन्थों में तो ऐसे भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ धर्म और संघ की रक्षा के लिए जैन आचार्यों को तांत्रिक और मान्त्रिक प्रयोगों की अनुमति भी दी गई है। किन्तु उनका उद्देश्य लोक कल्याण ही रहा है।

मात्र यही नहीं, जहाँ आचारांग (१/२/६/१६३) (ई०पू० पांचवी शती) शरीर को धुन डालने या सुखा देने की बात कही गई थी, वहीं परवर्ती आगमों और आगमिक व्याख्याओं में शरीर और जैविक मूल्यों के संरक्षण की बात कही गई। स्थानांग (६/४१) में अध्ययन एवं संयम के पालन के लिए आहार के द्वारा शरीर के संरक्षण की बात कही गई। मरणसमाधि (१३४) में कहा गया है कि उपवास आदि तप उसी सीमा तक करणीय है– जब तक मन में किसी प्रकार के अमंगल का चिन्तन न हो, इन्द्रियों की हानि न हो और मन, वचन, और शरीर की प्रवृत्ति शिथिल न हो। मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपने गुणस्थान सिद्धान्त में कषायों एवं वासनाओं के दमन को भी अनुचित मानते हुए यहाँ तक कह दिया कि उपशम श्रेणी अर्थात वासनाओं के दमन की प्रक्रिया से आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने वाला साधक अन्ततः वहाँ से पतित हो जाता है। फिर भी जैनाचार्यों ने वासनाओं की पूर्ति का कोई मार्ग नहीं खोला। हिन्दू तांत्रिकों एवं वज्रयानी बौद्धों के विरुद्ध वे यही कहते रहे कि वासनाओं की पूर्ति से वासनाएं शान्त नहीं होती हैं, अपितु वे घृत सिञ्चित अग्नि की तरह अधिक बढ़ती ही हैं। उनकी दृष्टि में वासनाओं का दमन तो अनुचित है– किन्तु उनका विवेकपूर्वक संयमन और निरसन आवश्यक है। यहाँ

इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सामान्यतः भारतीय धर्मों में और विशेषरूप से जैन धर्म में तान्त्रिक साधना का विकास क्यों हुआ और किस क्रम में हुआ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का विकास

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव प्रकृति में वासना और विवेक के तत्त्व उसके अस्तित्व काल से ही रहे हैं, पुनः यह भी एकसर्वमान्य तथ्य है कि पाशविक वासनाओं, अर्थात् पशु तत्त्व से ऊपर उठकर देवत्व की ओर अभिगमन करना यही मनुष्य के जीवन का मूलभूत लक्ष्य है। मानव प्रकृति में निहित इन दोनों तत्त्वों के आधार पर दो प्रकार की साधनापद्धतियों का विकास कैसे हुआ इसे निम्न सारिणी द्वारा समझा जा सकता है—



निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारिणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है-

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
(दार्शनिक प्रदेय)	(दार्शनिक प्रदेय)
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
२. विधायक जीवनदृष्टि	२. निषेधक जीवनदृष्टि
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी
४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैवीय कृपा के आकांक्षी होने से भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन	४. व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर भी तपस्या पर बल देने से दृष्टि पुरुषार्थवादी
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्मसिद्धान्त का समर्थन
७. साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बल
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एवं ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति।	८. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति
(सांस्कृतिक प्रदेय)	(सांस्कृतिक प्रदेय)
६. वर्णव्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	६. जातिवाद का विरोध,वर्णव्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
१०. गृहस्थ जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास की प्रधानता
११. सामाजिक जीवन शैली	११. एकाकी जीवन शैली
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन

१३. शक्तिशाली की पूजा	१३. सदाचारी की पूजा
१४. विधि विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	१४. ध्यान और तप की प्रधानता
१५. ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) का विकास	१५. श्रमण संस्था का विकास
१६. उपासनामूलक	१६. समाधिमूलक

प्रवर्तक धर्मों में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ– हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में हों आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन–लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्मसन्तोष ही सर्वोच्च जीवन मूल्य हैं।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वाञ्छनीय और रक्षणीय माना गया; तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन लक्ष्य मान लिया गया और देह–दण्डन ही तप–त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। यद्यपि इन दोनों साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य तो चैतसिक और सामाजिक स्तर पर शांति की स्थापना ही रहा है किन्तु उसके लिए उनकी व्यवस्था या साधना–विधि भिन्न–भिन्न रही है। प्रवृत्तिमार्गी परम्परा का मूलभूत लक्ष्य यही रहा है कि स्वयं के प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से अथवा उनके असफल होने पर दैवीय शक्तियों के सहयोग से जैविक आवश्यकताओं एवं वासनाओं की पूर्ति करके चैतसिक शांति का अनुभव किया जाय। दूसरी ओर निवृत्तिमार्गी परम्पराओं ने वासनाओं की सन्तुष्टि को विवेक की उपलब्धि के मार्ग में बाधक समझा और वासनाओं के दमन के माध्यम से वासनाजन्य तनावों का निराकरण कर चैतसिक शांति या समाधि को प्राप्त करने का प्रयास किया। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा वहीं प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिप्रधान रहीं। किन्तु एक ओर वासनाओं की सन्तुष्टि के

प्रयास में चित्तशांति या समाधि सम्भव नहीं हो सकी, क्योंकि नई–नई इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ जन्म लेती रहीं; तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन से भी चित्तशांति सम्भव न हो सकी, क्योंकि दमित वासनाएँ अपनी पूर्ति के लिए चित्त की समाधि भंग करती रहीं। इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि एक ओर प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में व्यक्ति ने अपनी भौतिक और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए दैविक शक्तियों की सहायता पाने हेतु कर्मकाण्ड का एक जंजाल खड़ा कर लिया तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन के लिए देहदण्डनरूपी तप साधनाओं का वर्तुल खड़ा हो गया। एक के लिए येन–केन प्रकारेण वैयक्तिक हितों की पूर्ति या वासनाओं की संतुष्टि ही वरेण्य हो गई तो दूसरे के लिए जीवन का निषेध अर्थात् देहदण्डन ही साधना का लक्ष्य बन गया। वस्तुतः इन दोनों अतिवादों के समन्वय के प्रयास में ही एक ओर जैन, बौद्ध आदि विकसित श्रमणिक साधना विधियों का जन्म हुआ तो दूसरी ओर औपनिषदिक् चिन्तन से लेकर सहजभक्तिमार्ग और तंत्रसाधना का विकास भी इसी के निमित्त से हुआ। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का जो समन्वयात्मक स्वर औपनिषदिक् ऋषियों ने दिया था, परवर्ती समस्त हिन्दू साधना और उसकी तांत्रिक विधियाँ उसी का परिणाम हैं। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति के पक्षों का समुचित सन्तुलन स्थिर नहीं रह सका। इनमें किसे प्रमुखता दी जाय, इसे लेकर उनकी साधना–विधियों में अन्तर भी आया।

जैनों ने यद्यपि निवृत्तिप्रधान जीवनदृष्टि का अनुसरण तो किया, किन्तु परवर्ती काल में उसमें प्रवृत्तिमार्ग के तत्त्व समाविष्ट होते गए। न केवल साधना के लिए जीवन रक्षण के प्रयत्नों का औचित्य स्वीकार किया गया, अपितु ऐहिक–भौतिक कल्याण के लिए भी तांत्रिक साधना की जाने लगी।

क्या जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है?

सामान्यतया यह माना जाता है कि तंत्र की जीवन दृष्टि ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य मानती है, जबकि जैनों का जीवनदर्शन निषेधमूलक है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैनधर्म–दर्शन तंत्र का विरोधी है, किन्तु जैनदर्शन के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। जैनों ने मानव जीवन को जीने के योग्य एवं सर्वथा वरेण्य माना है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन ही तो एक ऐसा जीवन है जिसके माध्यम से व्यक्ति विमुक्ति के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। आध्यात्मिक विकास की यात्रा का प्रारम्भ और उसकी पूर्णता मनुष्य जीवन से ही संभव है। अतः जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय है। उसमें 'शरीर' को

संसारसमुद्र में तैरने की नौका कहा गया है ('सरीरमाहु नावित्ति--उत्तरा. २३/७३) और नौका की रक्षा करना, पार जाने के इच्छुक व्यक्ति का अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसी प्रकार उसका अहिंसा का सिद्धान्त भी जीवन की रक्षणीयता पर सर्वाधिक बल देता है।

वह न केवल दूसरों के जीवन के रक्षण की बात करता है अपितु वह स्वयं के जीवन के रक्षण की भी बात करता है। उसके अनुसार स्व की हिंसा दूसरों की हिंसा से भी निकृष्ट है। अतः जीवन चाहे अपना हो या दूसरों का वह सर्वतोभावेन रक्षणीय है। यद्यपि इतना अवश्य है कि जैनों की दृष्टि में पाशविक शुद्ध स्वार्थों से परिपूर्ण मात्र जैविक एषणाओं की पूर्ति में संलग्न जीवन न तो रक्षणीय है, न वरेण्य; किन्तु यह दृष्टि तो तंत्र की भी है, क्योंकि वह भी पशु अर्थात् पाशविक पक्ष का संहार कर पाश से मुक्त होने की बात करता है। जैनों के अनुसार जीवन उस सीमा तक वरेण्य और रक्षणीय है जिस सीमा तक वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है और अपने आध्यत्मिक विकास के माध्यम से लोकमंगल का सृजन करता है। प्रशस्त तांत्रिक साधना और जैन साधना दोनों में ही इस सम्बन्ध में सहमति देखी जाती है। वस्तुतः जीवन की एकान्त रूप से वरेण्यता और एकान्त रूप से जीवन का निषेध दोनों ही अवधारणाएँ उचित नहीं है। यही जैनों की जीवनदृष्टि है। वासनात्मक जीवन के निराकरण द्वारा आध्यात्मिक जीवन का विकास--यही तंत्र और जैन दर्शन दोनों की जीवनदृष्टि है और इस अर्थ में वे दोनों विरोधी नहीं हैं, सहगामी हैं।

फिर भी सामान्य अवधारणा यह है कि तन्त्रदर्शन में ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य माना गया है। उसकी मान्यता है कि जीवन आनन्दपूर्वक जीने के लिए है। जैनधर्म में तप--त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैनधर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनधर्म के तप--त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाय। जैनधर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। निशीथभाष्य (४१५७) में कहा है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत् आनन्द के कूल में ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्त्व भी है और उसकी सार--संभाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होनी चाहिए, क्योंकि नौका साधन है, साध्य नहीं। भौतिक एवं

शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक साधन के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो आध्यात्म और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भैतिकवाद में उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य हैं, अन्तिम हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों का साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए है।

जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य हैं। भगवान महावीर ने आचारांग (२/१५/१३०–१३४) एवं उत्तराध्ययनसूत्र (३२/१००) में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उसे सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद–दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग–द्वेष का करना है क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त के लिए ही राग–द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं, अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं। अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन तांत्रिक साधना और लोक कल्याण का प्रश्न

तांत्रिक साधना का लक्ष्य आत्मविशुद्धि के साथ लोक कल्याण भी है। यह सत्य है कि जैनधर्म मूलतः सँन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर ही अधिक जोर दिया गया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनधर्म में लोकमंगल या लोककल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैनधर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से समाज निरपेक्ष एकांकी जीवन अधिक ही उपयुक्त है किन्तु इसके साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा

में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है, कि १२ वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः समाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्ग–दर्शन करते रहे।

जैनधर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के चारित्रिक उन्नयन से ही सामाजिक कल्याण की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, जब तक व्यक्ति का चारित्रिक विकास नहीं होगा, तब तक उसके द्वारा सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाज जब भी खड़ा होता है वह त्याग और समर्पण के मूल्यों पर ही होगा। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें–यह जैन आचारसंहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होगें। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो तांत्रिक साधनाएँ की जाती हैं, वे सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होती हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का संगठन समाज कहलाने का अधिकारी है? क्या चोर, डाकू और लुटेरे अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए देवी–देवताओं को प्रसन्न करने हेतु जो तांत्रिक साधना करते या करवाते हैं, क्या उसे सही अर्थ में साधना कहा जा सकता है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण का आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र (२/६/२) में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये जो पाँच व्रत माने गये हैं, वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं है, वे सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। उनके द्वारा आत्मशुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी है। जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैनधर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्यकेवली के जो आदर्श स्थापित किये गये हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चित की गई है उसका आधार उनकी विश्व–कल्याण, वर्ग–कल्याण और वैयक्तिक–कल्याण की भावना ही है। विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र (१०/७६०) में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति इस बात का स्पष्ट

प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है वरन् उसमें लोकहित या लोककल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि जैनधर्म में तान्त्रिक साधना को जो स्वीकृति मिली उसका मूलभूत प्रयोजन लोककल्याण / संघकल्याण ही था। जैनाचार्यों ने न तो कभी अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए षट्कर्मों की तान्त्रिक साधना की, न ऐसी तांत्रिक साधना को कोई स्वीकृति ही दी। जैनग्रन्थों में षट्कर्मों की तान्त्रिक साधना की जो अनुशंसा है वह मात्र लोकल्याण के लिए ही है। जैनधर्म में संघ सर्वोच्च है और संघ के कल्याण के लिए जो भी किया जाता है वह विहित माना जाता है। चाहे उसे अपवाद के रूप में ही क्यों न स्वीकार किया हो। जैन परम्परा यह मानती है कि स्तम्भन आदि की तांत्रिक साधनाएँ मूलतः पाप हैं, आत्मा के बन्धन एवं पतन का कारण हैं। उनके इस दोष का निराकरण केवल तब ही सम्भव है, जब ये वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिये नहीं, अपितु जैनशासन की प्रभावना और धर्मसंघ के कल्याण के लिए की जायें।

जैन तंत्र के दार्शनिक आधार

जैन तत्त्व दर्शन के अनुसार जीव अनादिकाल से कर्मों के आवरण के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कर्म के कारण ही उसमें वासनाएँ और कषायें जन्म लेती रहती हैं और वे ही इसे बंधन में डालती हैं। जैनदर्शन में कर्म ही पाश है और कर्म युक्त जीव ही पशु है। जीव को कर्म संस्कारों या कर्म आवरण से पूर्णतः मुक्त करना—यही विमुक्ति या मोक्ष है जो जैन साधना का लक्ष्य है। जैनदर्शन में 'कर्म' जड़शक्ति है और जीव आध्यात्मिक शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति, जिसे शिव भी कहा गया है, का जड़शक्ति के पाश से मुक्त होना— यही विमुक्ति है। जड़शक्ति या भौतिक पक्ष के द्वारा जीव की विवेकात्मक आध्यात्मिक शक्ति का आवरण—यही बन्धन है और यही संसार है। जैन साधना में कर्मशक्ति या जड़शक्ति का चेतनशक्ति या विवेकशक्ति पर अधिकार होना— यही आस्रव और बन्धन है और जीवशक्ति को जड़शक्ति के प्रभाव से प्रभावित नहीं होने देना और उसके आवरण को समाप्त कर देना—यही संवर और निर्जरा की प्रक्रिया है, जो उसकी साधना का मूल आधार है और जिनसे अन्त में मुक्ति की प्राप्ति होती है। वस्तुतः जैन तत्त्वमीमांसा चित्शक्ति और जड़शक्ति अथवा विवेक और वासना के सम्बन्धों की कहानी ही कहती है।

ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से तंत्र को अनुभव पर आधारित दर्शन कहा जाता

है। वह अनुभूति को सर्वाधिक महत्त्व देता है। जैनदर्शन भी अनुभूतिपरक है। वह ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को अर्थात् अनुभूति को अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि अनुभूति के अभाव में ज्ञान की संभावना ही नहीं बनती है। अनुभूतियों के दो स्तर हैं--एक ऐन्द्रिक एवं मानसिक अनुभूति का और दूसरा आत्मिक (आध्यात्मिक) अनुभूति का। जैनदर्शन में इन्द्रियजन्य और मानसजन्य अनुभूति का स्तर सबसे निम्न माना गया है। यही कारण रहा है कि प्राचीन जैन आचार्यों ने इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष ही माना। (तत्त्वार्थसूत्र १/११) यद्यपि परवर्ती जैन आचार्यों ने लोकमत का अनुसरण करते हुए इन्द्रियजन्य और मनोजन्य प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का दर्जा तो दिया, किन्तु उसे सदैव ही आत्मिक प्रत्यक्ष से निम्न माना। उनके अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञान या आत्मिक ज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जो वरेण्य है। जैन ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से यह अतीन्द्रिय ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीनों भागों में विभक्त है। इसमें भी जैन साधना का अन्तिम लक्ष्य तो सदैव ही केवलज्ञान रहा है। केवलज्ञान वस्तुतः निरावरण ज्ञान है, सकलज्ञान है और यह तभी सम्भव होता है जब चित्शक्ति आत्मा के अनन्तचतुष्टय का घात करने वाली कर्मशक्ति के पाश से मुक्त हो जाती है।

जैनों के अनुसार अनुभूत्यात्मक आत्मिक ज्ञान ही सर्वोपरि है और उसकी दृष्टि में यही तृतीय नेत्र का उद्घाटित होना है, किन्तु वह ज्ञान ऐसा है जिसका हस्तांतरण संभव नहीं होता है, हस्तांतरण तो केवल श्रुतज्ञान का ही होता है। यह अनुभूत्यात्मक ज्ञान स्वयं के आध्यात्मिक विकास से या साधना से ही पाया जाता है। गुरु इसमें मार्गदर्शक तो हो सकता है किन्तु उस ज्ञान का प्रदाता नहीं। जैनदर्शन के अनुसार अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनों आत्मिक ज्ञानों की प्राप्ति मानव--जीवन में सम्भव तो है किन्तु मनुष्य जीवन में ये सहज न होकर साधनाजन्य ही हैं। अवधिज्ञान दूरस्थ भौतिक पदार्थों का अलौकिक या अतीन्द्रिय ज्ञान है, तो मनःपर्यय दूसरे के मनोभावों या विचारों को जानने की शक्ति है। किन्तु इन दोनों की उपलब्धि हेतु भी साधना आवश्यक है। जैनदर्शन में साधना के क्षेत्र में उपास्य और गुरु का स्थान तो है, किन्तु वे क्रमशः आदर्श एवं मार्गदर्शक ही हैं। आध्यात्मिक अनुभूति और कैवल्य की प्राप्ति अन्ततः व्यक्ति के अपने आध्यात्मिक विकास से ही संभव है। यह उच्चस्तरीय आत्मिक बोध न तो गुरुकृपा से ही सम्भव है न दैवीय कृपा से। क्योंकि जैनदर्शन में दैवीय कृपा (grace of God) और गुरुकृपा को कोई स्थान नहीं है क्योंकि उसमें कर्म का नियम सर्वोपरि है। जैनदर्शन में मार्ग दर्शक के रूप में गुरु का महत्त्व तो है, किन्तु गुरु कृपा का नहीं। उसका सिद्धान्त है कि सिद्धि तो स्व

के पुरुषार्थ से मिलती है, किसी की कृपा से नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों ने ज्ञान की उपलब्धि को भी साधना से जोड़ा है। उनके अनुसार उच्चस्तरीय ज्ञान केवल सहज उपलब्धि नहीं है। विशिष्ट ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक ओर कर्म आवरण का क्षयोपशम आवश्यक है तो दूसरी ओर उस क्षयोपशम के लिए विशिष्ट साधना भी आवश्यक है। जैन परम्परा में आगमों के अध्ययन के लिए विशिष्ट प्रकार का उपधान या तप करना होता है। किस आगम का अध्ययन करने के लिए कौन कब और कैसे अधिकारी होता है इसकी विस्तृत चर्चा जैन साहित्य में उपलब्ध होती है। जैन परम्परा में ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु का दिशानिर्देश तो अपनी जगह है ही, किन्तु तप साधना भी आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने ज्ञान को तप से या साधना से समन्वित किया है।

इस प्रकार तन्त्रदर्शन के परिप्रेक्ष्य में जैन तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की चर्चा के पश्चात् अब हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि जैन परम्परा में तांत्रिक साधना के कौन से तत्त्व किन–किन रूपों में उपस्थित हैं? और उनका उद्भव एवं विकास कैसे हुआ?

जैनधर्म में तान्त्रिक साधना का उद्भव एवं विकास

यदि तन्त्र का उद्देश्य वासना–मुक्ति और आत्मविशुद्धि है तो वह जैनधर्म में उसके अस्तित्व के साथ ही जुड़ी हुई है। किन्तु यदि तन्त्र का तात्पर्य व्यक्ति की दैहिक वासनाओं और लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देवता–विशिष्ट की साधना कर उसके माध्यम से अलौकिक शक्ति को प्राप्त कर या स्वयं देवता के माध्यम से उन वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना माना जाय तो प्राचीन जैन धर्म में इसका कोई स्थान नहीं था। इसे हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं। यद्यपि जैन आगमों में ऐसे अनेकों सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार उस युग में अपनी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देव–देवी या यक्ष–यक्षी की उपासना की जाती थी। अंतगड़दसाओ आदिआगमों में नैगमेषदेव के द्वारा सुलसा और देवकी के छः सन्तानों के हस्तांतरण की घटना, कृष्ण के द्वारा अपने छोटे भाई की प्राप्ति के लिए तीन दिवसीय उपवास के द्वारा नैगमेष देव की उपासना करना अथवा बहुपुत्रिका देवी की उपासना के द्वारा सन्तान प्राप्त करना आदि अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, किन्तु इस प्रकारकी उपासनाओं को जैनधर्म की स्वीकृति प्राप्त थी, यह कहना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक

जैनधर्म, विशेषरूप से महावीर की परम्परा में तन्त्र–मन्त्र की साधना मुनि के लिए सर्वथा वर्जित ही मानी गई थी। प्राचीन जैन आगमों में इसको न केवल हेय दृष्टि से देखा गया, अपितु इस प्रकार की साधना करने वाले को पापश्रमण या पार्श्वस्थ तक कहा गया है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक के सन्दर्भ पूर्व में दिये जा चुके हैं। आगमों में पार्श्वस्थ का तात्पर्य शिथिलाचारी साधु माना जाता है। यद्यपि महावीर की परम्परा ने प्रारम्भ में तन्त्र साधना को कोई स्थान नहीं दिया, किन्तु उनके पूर्ववर्ती पार्श्व (जिनका जन्म इसी वाराणसी नगरी में हुआ था) की परम्परा के साधु अष्टांगनिमित्त शास्त्र का अध्ययन और विद्याओं की साधना करते थे, ऐसे संकेत जैनागमों में मिलते हैं। यही कारण था कि महावीर की परम्परा में पार्श्व की परम्परा के साधुओं को पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिलाचारी कहकर हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्राकृत में 'पासत्थ' शब्द के तीन अर्थ होते हैं– १. पाशस्थ अर्थात् पाश में बँधा हुआ २. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व के संघ में स्थित या ३. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व में स्थित अर्थात् संयमी जीवन के समीप रहने वाला।

ज्ञाताधर्मकथा जैसे अंग आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में और आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें पार्श्वापत्य श्रमणों और श्रमणियों के द्वारा अष्टाङ्गनिमित्त एवं मन्त्र–तन्त्र आदि की साधना करने के उल्लेख हैं। आज भी जैन–परम्परा में जो तान्त्रिक साधनाएँ की जाती हैं उनमें आराध्यदेव महावीर न होकर मुख्यतः पार्श्वनाथ अथवा उनकी शासनदेवी पद्मावती ही होती है। जैन तांत्रिक साधनाओं में पार्श्व और पद्मावती की प्रधानता स्वतः ही इस तथ्य का प्रमाण है कि पार्श्व की परम्परा में तांत्रिक साधना की प्रवृत्ति रही होगी। यह माना जाता है कि पार्श्व की परम्परा के ग्रन्थों, जिन्हें 'पूर्व' के नाम से जाना जाता है, में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी था। यद्यपि वर्तमान में यह ग्रन्थ अप्राप्त है, किन्तु इसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो निर्देश उपलब्ध हैं उनसे इतना तो सिद्ध अवश्य होता है कि इसकी विषयवस्तु में विविध विद्याओं की साधना से सम्बन्धित विशिष्ट प्रक्रियाएँ निहित रही होंगी। न केवल पार्श्व की परम्परा के पूर्व साहित्य में अपितु महावीर की परम्परा के आगम साहित्य में भी, विशेषरूप से प्रश्नव्याकरणसूत्र में विविध–विद्याओं की साधना सम्बन्धी सामग्री थी, ऐसी टीकाकार अभयदेव आदि की मान्यता है। यही कारण था कि योग्य अधिकारियों के अभाव में उस विद्या को पढ़ने से कोई साधक चरित्र से भ्रष्ट न हो, इसलिए लगभग सातवीं शताब्दी में उसकी विषयवस्तु को ही बदल दिया गया। यह सत्य है कि महावीर की परम्परा में प्रारम्भ में तन्त्र–मन्त्र और विद्याओं की साधनाओं

को न केवल वर्जित माना गया था, अपितु इस प्रकार की साधना में लगे हुए लोगों की आसुरी योनियों में उत्पन्न होने वाला तक भी कहा गया। किन्तु जब पार्श्व की परम्परा का विलय महावीर की परम्परा में हुआ तो पार्श्व की परम्परा के प्रभाव से महावीर की परम्परा के श्रमण भी तांत्रिक परम्पराओं से जुड़े। महावीर के संघ में तान्त्रिक साधनाओं की स्वीकृति इस अर्थ में हुई कि उनके माध्यम से या तो आत्मविशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ा जाय, अथवा उन्हें सिद्ध करके उनका उपयोग जैनधर्म की प्रभावना या उसके प्रसार के लिए किया जाय।

इस प्रकार महावीर के धर्मसंघ में तन्त्र साधना का प्रवेश जिन शासन की प्रभावना के निमित्त हुआ और परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने जैनधर्म की प्रभावना के लिए तांत्रिक-साधनाओं से प्राप्त शक्ति का प्रयोग भी किया, जैन साहित्य में ऐसे संदर्भ विपुलता से उपलब्ध होते हैं। आज भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में किसी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या की साधना करनी होती है। मात्र यही नहीं श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रमण और श्रमणियाँ मन्त्रसिद्ध सुगन्धित वस्तुओं का एक चूर्ण जिसे वासक्षेप कहा जाता है, अपने पास रखते हैं और उपासकों को आर्शीवाद के रूप में प्रदान करते हैं। यह जैनधर्म में तन्त्र के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार मंत्रसिद्ध रक्षा कवच भी उपासकों को प्रदान किये जाते हैं। न केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारक परम्परा में अपितु वर्तमान दिगम्बर परम्परा में भी अनेक आचार्य और मुनि विशेषरूप से आचार्य विमलसागर जी की परम्परा के मुनिगण, तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। लगभग सातवीं शती से अनेक अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें जैन-मुनियों के द्वारा तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग के प्रसंग उपलब्ध हैं। वस्तुतः चैत्यवास के परिणामस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय में विकसित भट्टारक परम्परा और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विकसित यतिपरम्परा स्पष्टतया इन तान्त्रिक साधनाओं से सम्बन्धित रही है, यद्यपि आध्यात्मवादी मुनिवर्ग ने इन्हें सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है और समय-समय पर इन प्रवृत्तियों की आलोचना भी की है।

वस्तुतः जैन परम्परा में तान्त्रिक साधनाओं का विकास चौथी-पाँचवी शताब्दी के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। कल्पसूत्र पट्टावली में जैन श्रमणों की जो प्राचीन आचार्य परम्परा वर्णित है उसमें विद्याधरकुल का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः विद्याधर कुल जैन श्रमणों का वह वर्ग रहा होगा जो विविध विद्याओं की साधना करता होगा। यहाँ विद्या का तात्पर्य बुद्धि नहीं, अपितु देव अधिष्ठित

अलौकिक शक्ति की प्राप्ति ही है। प्राचीन जैन साहित्य में हमें जंघाचारी और विद्याचारी, ऐसे दो प्रकार के श्रमणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह माना जाता है कि ये मुनि अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेते थे, जिसकी सहायता से वे आकाश में गमन करने में समर्थ होते थे।

यह माना जाता है कि आर्य वज्रस्वामी (ईसा की प्रथमशती) ने दुर्भिक्षकाल में पट्टविद्या की सहायता से सम्पूर्ण जैन संघ को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया था। वज्रस्वामी के द्वारा किया गया विद्या का यह प्रयोग परवर्ती आचार्यों और साधुओं के लिए एक उदाहरण बन गया। वज्रस्वामी के सन्दर्भ में आवश्यक निर्युक्ति में स्पष्टरूप से कहा गया है कि उन्होंने अनेक विद्याओं का उद्धार किया था। लगभग दूसरी शताब्दी के मथुरा के एक शिल्पांकन में आकाशमार्ग से गमन करते हुए एक जैन श्रमण को प्रदर्शित भी किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की दूसरी–तीसरी शताब्दी से ही जैनों में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति हेतु तांत्रिक साधना के प्रति निष्ठा का विकास हो गया था।

वस्तुतः जैन धर्मसंघ में ईसा की चौथी–पाँचवी शताब्दी से चैत्यवास का आरम्भ हुआ और उसी के परिणामस्वरूप तन्त्र–मन्त्र की साधना को जैन संघ में स्वीकृति भी मिली।

जैन परम्परा में आर्य खपुट, (प्रथम शती), आर्य रोहण (द्वितीय शती), आचार्य नागार्जुन (चतुर्थ शती) यशोभद्रसूरि, मानदेवसूरि, सिद्धसेनदिवाकर (चतुर्थशती), मल्लवादी (पंचमशती) मानतुङ्गसूरि (सातवीं शती), हरिभद्रसूरि (आठवीं शती), बप्पभट्टसूरि (नवीं शती), सिद्धर्षि (नवीं शती), सुराचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनेश्वरसूरि (ग्यारहवीं शती), अभयदेवसूरि (ग्यारहवीं शती) वीराचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनदत्तसूरि (बारहवीं शती), वादिदेवसूरि (बारहवीं शती) हेमचन्द्र (बारहवीं शती), आचार्यमलयगिरि (बारहवीं शती), जिनचन्द्रसूरि (बारहवीं शती), पार्श्वदेवगणि (बारहवीं शती), जिनकुशल सूरि (तेरहवीं शती), आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने मन्त्र और विद्याओं की साधना के द्वारा जैन–धर्म की प्रभावना की। यद्यपि विविध ग्रंथों, प्रबन्ध और पट्टावलियों में वर्णित इनके कथानकों में कितनी सत्यता है, यह एक भिन्न विषय है, किन्तु जैन साहित्य में जो इनके जीवनवृत्त मिलते हैं वे इतना तो अवश्य सूचित करते हैं कि लगभग चौथी–पाँचवी शताब्दी से जैन आचार्यों का रुझान तांत्रिक साधनाओं की ओर बढ़ा था और वे जैनधर्म की प्रभावना के निमित्त उसका उपयोग भी करते थे।

मेरी दृष्टि में जैन परम्परा में तांत्रिक साधनाओं का जो उद्‌भव और विकास हुआ है, वह मुख्यतः दो कारणों से हुआ है। प्रथम तो यह कि जब वैयक्तिक साधना की अपेक्षा संघीय जीवन को प्रधानता दी गई तो संघ की रक्षा और अपने श्रावक भक्तों के भौतिक कल्याण को भी साधना का आवश्यक अंग मान लिया गया। दूसरे तंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन आचार्यों के लिए यह अपरिहार्य हो गया था कि वे मूलतः निवृत्तिमार्गी और आत्मविशुद्धिपरक इस धर्म को जीवित बनाए रखने के लिए तांत्रिक उपासना और साधना पद्धति को किसी सीमा तक स्वीकार करें, अन्यथा उपासकों का इतर परम्पराओं की ओर आकर्षित होने का खतरा था।

अध्यात्म के आदर्श की बात करना तो सुखद लगता है किन्तु उन आदर्शों को जीवन में जीना सहज नहीं है। जैन धर्म का उपासक भी वही व्यक्ति है जिसे अपने लौकिक और भौतिक मंगल की आकांक्षा रहती है। जैन धर्म को विशुद्ध रूप से मात्र आध्यात्मिक और निवृत्तिमार्गी बनाए रखने पर भक्तों या उपासकों के एक बड़े भाग के जैन धर्म से विमुख हो जाने की सम्भावनाएँ थीं। इन परिस्थितियों में जैन आचार्यों की यह विवशता थी कि वे उनके अनुयायियों की श्रद्धा जैनधर्म में बनी रहे इसके लिए उन्हें यह आश्वासन दें कि चाहे तीर्थंकर उनके, लौकिक–भौतिक कल्याण को करने में असमर्थ हों, किन्तु उन तीर्थंकरों के शासन रक्षक देव उनका लौकिक और भौतिक मंगल करने में समर्थ हैं। जैन देवमण्डल में विभिन्न यक्ष–यक्षियों, विद्यादेवियों, क्षेत्रपालों, आदि को जो स्थान मिला, उसका मुख्य लक्ष्य तो अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैनधर्म में बनाए रखना ही था।

यही कारण था कि आठवीं नौवीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक तांत्रिक विधि–विधानों को जैनसाधना और पूजापद्धति का अंग बना दिया। यह सत्य है कि जैन साधना में तांत्रिक साधना की अनेक विधाएँ क्रमिक रूप से विकसित होती रही हैं, किन्तु यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम थीं, जिसे जैन धर्म के उपासकों की निष्ठा को जैन धर्म में बनाए रखने के लिए स्वीकार किया गया था। जैन आचार्यों ने विभिन्न देवी–देवताओं, उनकी पूजा और उपासनाओं की पद्धतियों तथा पूजा उपासना के विभिन्न मंत्रों और यंत्रों का विकास किस प्रकार किया इसकी चर्चा करने के पूर्व सर्वप्रथम तो हम यह देखेंगे कि विविध हिन्दू, विशेष रूप से तन्त्र साधना के उपास्य देवी–देवताओं का प्रवेश जैनदेवमण्डल में किस प्रकार हुआ।

अध्याय २

जैन देवकुल के विकास में हिन्दू तंत्र का अवदान

वैसे तो प्रत्येक साधना पद्धति में किसी आराध्यदेवता का होना आवश्यक होता है, किन्तु तान्त्रिक साधना में तो आराध्य देवता का सर्वाधिक महत्त्व है। इन आराध्य देवों के भेद के आधार पर ही शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर्य, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि तन्त्रों के भेद भी अस्तित्व में आये हैं। जैनों ने अर्हत् (अरहंत), जिन या तीर्थंकर को ही अपना आराध्य देव माना है। उनके अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर हुए हैं। यद्यपि जैन साधना में किसी भी तीर्थंकर को आराध्य बनाया जा सकता है, फिर भी जैन तांत्रिक साधनाओं में मुख्य रूप से तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व को ही आराध्य बनाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से चौबीस तीर्थंकरों में से महावीर, पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ इन चार तीर्थंकरों के ही साहित्यिक उल्लेख एवं मूर्तियां अधिक प्राप्त होती हैं। उनमें भी सर्वाधिक मूर्तियाँ पार्श्व से ही संबंधित हैं, फिर भी ईसा की प्रथम शताब्दी या इससे भी कुछ पूर्व से चौबीस तीर्थंकरों की पूर्ण सूची हमें उपलब्ध होने लगती है। सर्वप्रथम यह सूची समवायांग के परिशिष्ट में हमें उपलब्ध होती है। इसके बाद न केवल भरतक्षेत्र के भूत एवं भावी तीर्थंकरों की, अपितु महाविदेह, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों की सूचियाँ भी मिलती हैं। वर्तमान तीर्थंकरों की उपासना की अपेक्षा से इनमें सीमंधर स्वामी को अधिक महत्त्व मिला है।

यह सत्य है कि जैन परम्परा में अपने आराध्य के रूप में तीर्थंकरों को सर्वोपरि स्थान दिया गया है किन्तु वे साधना के मात्र आध्यात्मिक आदर्श हैं। दैवीय कृपा का सिद्धान्त या भगवान के द्वारा भक्त के भौतिक कल्याण की अवधारणा जैनों को स्वीकार्य नहीं थी। अतः तीर्थंकर को जनसाधारण की भक्ति से प्रसन्न होकर उसके दैहिक, दैविक और भौतिक पीड़ाओं एवं दुःखों को समाप्त करने में असमर्थ ही माना गया। गीता के कृष्ण के समान जैन तीर्थंकर यह आश्वासन नहीं दे सकता कि 'तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सब पीड़ाओं से और दुःखों से मुक्त कर दूंगा'। जैन तीर्थंकरों के उपदेश का सार तो यही था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपना भाग्य–निर्माता है और स्वकृत कर्मों के फल भोग के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। उनके अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने सुख–दुःखों का कर्त्ता और भोक्ता होता है। कर्म–नियम की सर्वोपरिता और मुक्तात्मा में दूसरों का हित–अहित करने की असम्भावना–ये दो ऐसे तथ्य हैं जिनके कारण तीर्थंकर आराध्य अथवा आध्यात्मिक पूर्णता का आदर्श होकर भी अपने भक्तों का भौतिक

कल्याण करने में सक्षम नहीं है। किन्तु जनसाधारण तो आर्त या अर्थार्थी भक्त के रूप में ही एक ऐसे आराध्य की उपासना करना चाहता है जो उसके जागतिक कष्टों एवं संकटों का निवारण कर सके, और उसकी ऐहिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। फलतः जैन आचार्यों को अपने देवमण्डल में ऐसे देवी देवताओं को सम्मिलित करना पड़ा जो जिन भक्तों को जागतिक कष्टों से मुक्ति दिला सकें और उनकी लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें।

यद्यपि जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकरों के साथ–साथ १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव ऐसे ६३ शलाका पुरुषों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त मात्र बाहुबली एवं भरत को छोड़कर अन्य चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव को उपास्य या आराध्य माना गया हो ऐसा कहीं ज्ञात नहीं होता है। श्वेताम्बर परम्परा की तान्त्रिक साधना में बाहुबली से सम्बन्धित कुछ मंत्र उपलब्ध होते हैं किन्तु श्वेताम्बर मन्दिरों में भरत और बाहुबली की प्रतिष्ठित मूर्तियों का प्रायः अभाव ही है, जबकि दिगम्बर परम्परा में इनकी प्रतिष्ठित स्वतन्त्र मूर्तियाँ और उनके पूजा विधान उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि जैनों ने इन तिरसठ शलाका पुरुषों में राम और कृष्ण को भी समाहित किया है और जैन आचार्यों के द्वारा इनके जीवन–वृत्त को आधार बनाकर अनेक ग्रंथ भी लिखे गये हैं तथा कुछ जैन मंदिरों में बलराम–कृष्ण एवं राम–सीता के शिल्पांकन भी हुए हैं, किन्तु इन्हें किसी भी जैन मंदिर में पूजा और उपासना के लिए प्रतिष्ठित किया गया हो ऐसा संकेत नहीं मिलता। जैनों के अनुसार राम 'सिद्ध' हैं और कृष्ण भावी तीर्थंकर या अर्हत् हैं। केवल उन जिन मंदिरों में जहाँ भावी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, कृष्ण की प्रतिष्ठा और पूजा भावी तीर्थंकर के रूप में होती है, किन्तु अन्य तीर्थंकरों के समान उन्हें भी भक्तों के भौतिक हित साधन में अक्षम ही माना गया है। अतः राम या कृष्ण में विष्णु के अवतार के रूप में भक्तों के हित करने की जो सम्भावनाएँ हिन्दू धर्म में हैं वे जैन धर्म में नहीं हैं। फलतः भक्तों के जागतिक संकटों के निवारण के लिए जैन परम्परा में सर्वप्रथम जिन शासन रक्षक यक्ष–यक्षियों की कल्पना की गई।

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर तो मुक्त आत्माएँ हैं, किन्तु यक्ष–यक्षी बद्ध संसारी जीवों में आते हैं, उनके अनुसार संसारी जीवों के चार वर्ग हैं– १. देव, २. मनुष्य, ३. तिर्यंच और ४. नारक। पुनः दवों के भी पाँच वर्ग हैं– १. लोकोत्तर देव, २. वैमानिकदेव, ३. ज्योतिष्कदेव, ४. व्यन्तरदेव और ५. भवनवासी

देव। इनमें वैमानिकों में इन्द्र दस प्रकार देव आदि, ज्योतिष्कों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि, व्यन्तरों में भूत–प्रेत आदि और भवनवासियों में यक्ष–यक्षी को जैन तांत्रिक साधना में उपास्य माना जाता है। ये सभी पाँचों प्रकार के देव पुनः दो कोटियों में विभक्त है– सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि। इनमें मिथ्या दृष्टि देव जैसे– भूत–प्रेत, योगिनियाँ आदि उपासक के भौतिक कल्याण में समर्थ होकर भी उसकी आध्यात्मिक साधना में बाधक ही होते हैं। मिथ्यादृष्टि देवों का प्रयत्न यही होता है कि वे साधक को उसकी आध्यात्मिक साधना से च्युत करें। जबकि सम्यक् दृष्टि देव न केवल उसकी आध्यात्मिक साधना में आने वाली बाधाओं को दूर करते हैं अपितु उस जिन उपासक का भौतिक मंगल भी करते हैं।

जिनशासन रक्षक यक्ष–यक्षियों एवं क्षेत्रपालों के रूप में कुछ भैरव भी सम्यक् दृष्टि माने जाते हैं। यद्यपि समवायांग (चतुर्थ–पंचम शती) की सूची में तीर्थंकरों, उनके माता–पिता, जन्म–नगर, चैत्य वृक्ष आदि का उल्लेख तो है किन्तु उसमें उनके यक्ष–यक्षियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यक्ष–यक्षियों का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में कहावली (११–१२वीं शती) और प्रवचनसारोद्धार (१४वीं शती) में मिलता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में तिलोयपण्णत्ति (लगभग छठी–सातवीं शती) में इनका उल्लेख मिलता है, किन्तु विद्वानों की दृष्टि में यह अंश बाद में प्रक्षिप्त है। यद्यपि चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि के अंकन और स्वतंत्र मूर्तियाँ लगभग नवीं शताब्दी में मिलने लगती हैं, किन्तु २४ तीर्थंकरों के २४ यक्षों एवं २४ यक्षियों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ लगभग ११–१२ वीं शताब्दी में ही निर्धारित हुई हैं। यक्ष–यक्षियों की मूर्तियों के लक्षणों का उल्लेख इस काल के त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, प्रतिष्ठासारसंग्रह, निर्वाणकलिका आदि कई ग्रंथो में मिलता है। इनमें यक्ष–यक्षियों की चर्चा जिनशासन रक्षक देवता के रूप में मिलती है। यह माना गया है कि अपनी तथा अपने तीर्थंकर की पूजा, उपासना आदि से प्रसन्न होकर ये यक्ष–यक्षियां जिनभक्तों को दैहिक, दैविक और भौतिक संकटों से त्राण दिलाती हैं।

ये यक्ष–यक्षी अपनी पूर्व साधना के आधार पर देव रूप में जन्में हैं। यद्यपि ये कल्पवासी और कल्पातीत वैमानिक देवों की अपेक्षा निम्न श्रेणी के हैं–फिर भी जिनभक्तों का कल्याण करने में समर्थ हैं। यह ध्यातव्य है कि जैन धर्म में यक्ष–यक्षियों की उपासना को मान्यता लगभग छठी–सातवीं शताब्दी के पश्चात् ही तंत्र के प्रभाव से मिली। किन्तु इसके पूर्व भी जैन परम्परा में श्रुतदेवी के रूप

में सरस्वती की उपासना ईसा की प्रथम द्वितीय शती से ही होने लगी थी। ग्रन्थों के आदि मंगल में श्रुत–देवता के रूप सरस्वती के वंदन की परम्परा प्राचीन है। सरस्वती की स्तुति में अनेक स्तोत्रों की रचना जैन आचार्यों ने की है। उसे जिनवाणी का प्रतिनिधि माना जाता है। उपलब्ध सरस्वती की मूर्तियों में मथुरा से उपलब्ध जैन सरस्वती की प्रतिमा ही प्राचीनतम है, जो ईसा की प्रथम शती के लगभग की है। मथुरा के अतिरिक्त पल्लू–बीकानेर और लाडनूं की जैन सरस्वती की प्रतिमाएं अपने शिल्प–सौष्ठव के लिए लोक–विश्रुत हैं।

प्राचीन जैनागमों में मणिभद्र, पूर्णभद्र, तिन्दुक जैसे यक्षों और बहुपुत्रिका नामक यक्षी की उपासना के संकेत मिलते हैं। इसी प्रकार हरिणेगमेष की उपासना के संकेत अंग–आगमों में और मथुरा के शिल्पांकनों में मिलते हैं, किन्तु इन उपासनाओं को जैनधर्म की ओर से कोई वैधता नहीं दी गई थी। जैनधर्म में यक्ष–यक्षियों की उपासना को वैधानिक मान्यता तो तभी मिली जब इन यक्ष–यक्षियों को तीर्थंकरों के शासन रक्षक देवों के रूप में स्वीकार किया गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा के जैन अंकनों में नैगमेष, सरस्वती और लक्ष्मी के अंकन लगभग ईसा की प्रथम, द्वितीय शती से उपलब्ध होते हैं। 'जिन' की माता को दिखाई देने वाले चौदह स्वप्नों में भी चतुर्थ स्वप्न लक्ष्मी का तथा छठे एवं सातवें स्वप्न क्रमशः सूर्य और चन्द्र के माने गये हैं। इससे यह फलित होता है कि चौबीस तीर्थंकरों के बाद जैन परम्परा में लक्ष्मी और सरस्वती इन दो देवियों का प्रवेश हुआ। उसके बाद सोलह महाविद्याओं और चौबीस यक्षियों की उपासना प्रारम्भ हुई होगी। चौबीस यक्षियों में भी प्रमुखता पद्मावती की ही रही। जैनमंदिरों में पद्मावती की स्वतंत्र देवकुलिकाएँ प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। इनके बाद अम्बिका और चक्रेश्वरी की स्वतंत्र मूर्तियाँ बनीं। यक्षों में मणिभद्र प्रमुख रहे। इनकी भी स्वतंत्र देवकुलिकाएँ श्वेताम्बर मंदिरों में प्रायः पाई जाती हैं। बाद में प्रत्येक तीर्थ में क्षेत्रपाल के रूप में भैरवों की उपासना भी होने लगी।

जैनधर्म में यक्षियों की उपासना में तन्त्र का प्रभाव है। इसका प्रमाण यह है कि जैन परम्परा में यक्षियों की जो सूची है उनमें से अधिकांश का नामकरण तांत्रिक हिन्दू परम्परा के अनुसार ही है यथा–चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, गौरी, गान्धारी, तारा, चामुण्डा, अम्बिका, पद्मावती आदि। यह सत्य है कि जैनों ने हिन्दू देवकुल की देवियों को स्वीकार करके उन्हे तीर्थंकरों की उपासक देवियोंके रूप में प्रस्तुत किया है फिर भी जैन परम्परा में यक्षी उपासना

हिन्दू देवी–उपासना या शक्ति–उपासना का ही संशोधित रूप है। जिस प्रकार हिन्दूधर्म में प्रत्येक देवता की शक्ति के रूप में देवी की कल्पना आई–उसी प्रकार जैन धर्म में प्रत्येक तीर्थंकर की शक्ति के रूप में यक्षियों को जोड़ा गया। फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि ये यक्षियाँ तीर्थंकरों का अंश नहीं हैं। ये स्वतंत्र हैं और मात्र तीर्थंकरों की उपासिकाए हैं। इस प्रकार जैन परम्परा में क्रमशः सोलह महाविद्याओं, चौबीस यक्षियों, दस दिक्पालों, नौ ग्रहों और क्षेत्रपालों के रूप में अनेक हिन्दू देव–देवियाँ समाहित कर लिए गए हैं।

यक्ष–यक्षियों के साथ–साथ जैन मंदिरों में सोलह महाविद्याओं के भी अंकन उपलब्ध होते हैं। महाविद्याओं के ये अंकन खजुराहो के दिगम्बर मंदिरों के अतिरिक्त प्रायः श्वेताम्बर मंदिरों में अधिक लोकप्रिय हुए। यद्यपि महाविद्याओं की साधना के अनेकों संदर्भ जैन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं किन्तु जैन मंदिरों में इनकी पूजा, उपासना की परम्परा जीवित नहीं है, मात्र कुछ आचार्य वैयक्तिक रूप से इनकी साधना करते हैं। किन्तु शासनदेवता के रूप में यक्ष–यक्षियों तथा क्षेत्रपालों के रूप में भैरवों की उपासना जैन परम्परा में आज भी जीवित है। वर्तमान में भी भोमियाजी, नाकोड़ाजी आदि भैरव, घण्टाकर्णमहावीर, मणिभद्रवीर आदि यक्ष अतिप्रभावक माने जाते हैं। इसी प्रकार अष्टदिक्पाल और नौ ग्रहों को भी जैन देव मण्डल में सम्मिलित कर लिया गया था। इनके भी पूजाविधान एवं अंकन जैन मंदिरों में उपलब्ध होते हैं।

आश्यर्चजनक तथ्य यह भी है कि जैनदेवकुल में लगभग छठीं–सातवीं शताब्दी के पश्चात् चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव इन तिरसठ शलाका पुरुषों के अलावा चौबीस कामदेवों, नौ नारदों, एवं ग्यारह रुद्रों की चर्चा मिलती है, यद्यपि चौबीस कामदेव, नौ नारद और ग्यारह रुद्रों के उल्लेख प्रायः दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में ही मिलते हैं। तिलोयपण्णत्ति (४/१४७२) में मात्र इतना निर्देश उपलब्ध होता है कि २४ तीर्थंकरों के समय में अनुपम आकृति के धारक बाहुबली प्रमुख चौबीस कामदेव होते हैं। कामदेवों के अतिरिक्त नौ नारदों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। नौ नारदों के नाम हैं– भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख और अधोमुख (तिलोयपण्णत्ति, ४/१४६६)। इसी प्रकार ग्यारह रुद्रों के भी निर्देश उपलब्ध हैं। इनके नाम हैं– भीमावली, जितशत्रु, रुद्र, वैश्वानर, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितंधर, अजितनाभि, पीठ, और सात्यकि पुत्र (तिलोयपण्णत्ति, ४/१४३९–४४)। इन रुद्रों के सन्दर्भ में यह मान्यता है कि ये रुद्र विद्यानुवाद पूर्व, जिसे तांत्रिक साधना का ग्रंथ माना गया है, का अध्ययन

करते समय ऐन्द्रिक विषयों में अनुरक्त होने के कारण अपनी साधना से पतित हो जाते हैं और फलतः रुद्र के रूप में जन्म धारण करते हैं। यह निर्देश इस तथ्य का सूचक है कि तांत्रिक साधनाओं में चारित्रिक पतन की सम्भावना अधिक रहती है। जैन परम्परा में चौबीस यक्ष–यक्षियों के साथ–साथ चौबीस कामदेवों, नौ नारदों और ग्यारह रुद्रों के ये उल्लेख उस पर तंत्र परम्परा के प्रभाव के स्पष्ट सूचक हैं। तान्त्रिक प्रभाव के कारण ही निवृतिप्रधान जैन धर्म में विद्यादेवियों, यक्ष–यक्षियों, क्षेत्रपालों दिक्पालों, नवग्रहों, कामदेवों, नारदों और रुद्रों को स्थान मिला। आगे हम इन जैन तान्त्रिक साधना में मान्य इन देव–देवियों पर थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

महाविद्याएँ

तंत्र साधना में विद्या और मंत्र दोनों के स्थान, महत्त्व और उनके अन्तर सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। विद्या और मंत्र का अंतर करते हुए यह कहा गया है कि जो स्त्री–देवता से अधिष्ठित हो वे विद्याएँ हैं और जो पुरुष–देवता से अधिष्ठित हो वे मंत्र हैं। अन्य प्रसंग में जैनाचार्यों का यह भी कहना है कि जो मात्र पाठ करने से सिद्ध हो उसे मंत्र कहते हैं और जो जप, पूजा आदि से सिद्ध हो उसे विद्या कहते हैं। प्राचीन स्तर के जैन ग्रंथों में विद्याओं के उल्लेख अवश्य मिलते हैं, किन्तु वे मात्र विशिष्ट प्रकार की ज्ञानात्मक या क्रियात्मक योग्यताएं, क्षमताएँ या शक्तियाँ हैं, जिनमें लिपिज्ञान से लेकर अन्तर्ध्यान होने तक की कलाएँ सम्मिलित हैं। किन्तु इन ग्रंथों में उन्हें पापश्रुत ही कहा गया है। जैनधर्म में विद्याएँ सोलह मानी गयी हैं– १. रोहिणी, २. प्रज्ञप्ति, ३. वज्रश्रृंखला, ४. वज्रांकुशी, ५. अप्रतिचक्रा, ६. नरदत्ता, ७. काली, ८. महाकाली, ६. गौरी, १०. गांधारी, ११. महाज्वाला, १२. मानवी, १३. वैरोट्या, १४. अच्युता, १५. मानसी और १६. महामानसी। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि जहाँ तंत्र परम्परा में मात्र निम्न १० महाविद्याएँ हैं–१.काली, २. तारा, ३. षोडशी, ४. भुवनेश्वरी, ५. भैरवी, ६. छिन्नमस्ता, ७. धूमावती, ८. बगलामुखी, ६. मातंगी और १०.कमला–वहाँ जैन परम्परा में उपरोक्त १६ महाविद्याओं को स्वीकार किया गया है। इन काली आदि एक दो नामों को छोड़कर शेष नामों में कोई संगति नहीं है।

जैन परम्परा में इन १६ विद्याओं की इसी नाम वाली १६ अधिष्ठायिका देवियाँ भी हैं। आगे चलकर इन १६ महाविद्याओं को २४ तीर्थंकरों की २४ यक्षियों की तालिका में भी सम्मिलित कर लिया गया। निम्नलिखित विद्याएँ उनके नाम के आगे दर्शित संख्या वाले तीर्थंकरों की यक्षियां मानी गयी हैं– रोहिणी–२,

प्रज्ञप्ति–३, वज्रश्रृंखला–४, अंकुशा–१४, अप्रतिचक्रा–१, नरदत्ता–२०, काली–४, महाकाली–५,६, गौरी–११, गांधारी–१२, महाज्वाला–८, मानवी–१०, वैरोट्या–१३, अच्युता–६, मानसी–१५, महामानसी–१६।

ज्ञातव्य है कि इनमें से कुछ नाम श्वेताम्बर परम्परा सम्मत सूची में और कुछ नाम दिगम्बर परम्परा सम्मत सूची में पाये जाते हैं। इन १६ विद्याओं की सूची तिजएपहुत्थनविसति संहितासार (९३९ई०), स्तुतिचर्तुविंशांति, और बप्पभट्टसूरिकृत चर्तुविंशतिका में मिलता है। सोलह विद्याओं के अंकन का मुख्य रूप से श्वेताम्बर परम्परा में अधिक प्रचलन रहा है। इन का प्राचीनतम अंकन ओसिया (९वीं शती), कुम्भारिया (११ वीं शती), आबू (१२वीं शती), आबू लूणवसही (१३वीं शती) में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में महाविद्याओं का अंकन मात्र खजुराहो (११वीं शती) में ही उपलब्ध है। इन महाविद्याओं के नामों एवं प्रतिमा लक्षणों की एक सूची डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी ने अपने ग्रंथ 'जैन प्रतिमा विज्ञान' में दी है, वह निम्नानुसार है–

महाविद्या–मूर्तिविज्ञान–तालिका

सं०	महाविद्या		वाहन	भुजा–संख्या	आयुध
१	रोहिणी–	(क) श्वे०	गाय	चार	शर, चाप, शंख, अक्षमाला
		(ख) दि०	पद्म	चार	शंख, (या शुल), पद्म, फल, कलश या (वरदमुद्रा)
२	प्रज्ञप्ति–	(क) श्वे०	मयूर	चार	वरदमुद्रा, शक्ति, मातुलिंग, शक्ति (निर्वाणकलिका); त्रिशूल, दण्ड, अभयमुद्रा, फल (मन्त्राधिराजकल्प)
		(ख) दि०	अश्व	चार	चक्र, खड्ग, शंख, वरदमुद्रा
३	वज्रश्रृंखला–	(क) श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, दो हाथों में श्रृंखला, पद्म (या गदा)
		(ख) दि०	पद्म या गज	चार	श्रृंखला, शंख, पद्म, फल
४	वज्रांकुशा–	(क) श्वे०	गज	चार	वरदमुद्रा, वज्र, फल, अंकुश

सं० महाविद्या		वाहन	भुजा–संख्या	आयुध
				(निर्वाणकलिका); खड्ग, वज्र, खेटक, शूल (आचारदिनकर); फल, अक्षमाला, अंकुश, त्रिशूल (मन्त्राधिराजकल्प)
	(ख) दि०	पुष्पयान या गज	चार	अंकुश, पद्म, फल, वज्र
५ अप्रतिचक्रा या				
चक्रेश्वरी–श्वे०		गरुड़	चार	चारों हाथों में चक्र प्रदर्शित होगा
जांबूनदा–दि०		मयूर	चार	खड्ग, शूल, पद्म, फल
६ नरदत्ता या पुरुषदत्ता–				
	(क) श्वे०	महिष या पद्म	चार	वरदमुद्रा या अभयमुद्रा, खड्ग, खेटक, फल
	(ख) दि०	चक्रवाक (कलहंस)	चार	वज्र, पद्म, शंख, फल
७ काली या कालिका–				
	(क) श्वे०	पद्म	चार	अक्षमाला, गदा, वज्र, अभयमुद्रा (निर्वाणकलिका); त्रिशूल, अक्षमाला, वरदमुद्रा, गदा (मन्त्राधिराजकल्प)
	(ख) दि०	मृग	चार	मुसल, खड्ग, पद्म, फल
८ महाकाली–	(क) श्वे०	मानव	चार	वज्र या पद्म, फल या अभयमुद्रा, घण्टा, अक्षमाला
	(ख) दि०	शरभ (अष्टपदपशु)	चार	शर, कार्मुक, असि, फल
९ गौरी–	(क) श्वे०	गोधा या वृषभ	चार	वरदमुद्रा, मुसल या दण्ड, अक्षमाला, पद्म
	(ख) दि०	गोधा	हाथों की संख्या का अनुल्लेख	भुजाओं में केवल पद्म के प्रदर्शन का निर्देश है।
१० गान्धारी–	(क) श्वे०	पद्म	चार	वज्र या त्रिशूल, मुसल या दण्ड, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा

सं० महाविद्या		वाहन	भुजा–संख्या	आयुध
	(ख) दि०	कूर्म	चार	हाथों में केवल चक्र और खड्ग का उल्लेख है।
११ (i)सर्वास्त्रमहाज्वाला या ज्वाला–श्वे०		शूकर या कलहंस या बिल्ली	चार	दो हाथों में ज्वाला; या चारों हाथों में सर्प
(ii) ज्वालामालिनी–	दि०	महिष	आठ	धनुष, खड्ग, बाण या चक्र, फलक आदि। देवी ज्वाला से युक्त है।
१२ मानवी–	(क) श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, पाश, अक्षमाला, वृक्ष (विटप)
	(ख) दि०	शूकर	चार	मत्स्य, त्रिशूल, खड्ग, एक भुजा की सामग्री का अनुल्लेख है
१३ (i) वैरोट्या–श्वे०		सर्प या गरुड़ या सिंह	चार	सर्प, खड्ग, खेटक, सर्प या वरदमुद्रा
(ii) वैरोटी–दि०		सिंह	चार	करों में केवल सर्प के प्रदर्शन का उल्लेख है।
१४ (i) अच्छुप्ता–श्वे०		अश्व	चार	शर, चाप, खड्ग, खेटक
(ii) अच्युता–दि०		अश्व	चार	ग्रन्थों में केवल खड्ग और वज्र धारण करने के उल्लेख हैं।
१५ मानसी	(क) श्वे०	हंस या सिंह	चार	वरदमुद्रा, वज्र, अक्षमाला, वज्र या वरदमुद्रा
	(ख) दि०	सर्प	हाथों की संख्या का अनुल्लेख है।	दो हाथों के नमस्कार–मुद्रा में होने का उल्लेख है।
१६.. महामानसी–	(क)श्वे०	सिंह या मकर	चार	खड्ग, खेटक, जलपात्र, रत्न या वरद या अभयमुद्रा
	(ख) दि०	हंस	चार	देवी के हाथ प्रणाममुद्रा में होंगे (प्रतिष्ठासारसंग्रह); वरदमुद्रा, अक्षमाला, अंकुश, पुष्पहार (प्रतिष्ठासारोद्धार एवं प्रतिष्ठातिलकम्)

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में जैन परम्परा में स्त्री या शस्त्र से युक्त देवों या देव प्रतिमाओं को आराध्य या उपास्य मानने का स्पष्ट निषेध किया था, किन्तु कालान्तर में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से देव प्रतिमाओं में शस्त्रों का प्रदर्शन जैन परम्पराओं में भी मान्य हो गया है यद्यपि ज्ञातव्य है कि यह सब तीर्थंकरों से निम्न श्रेणी के देवों के सम्बन्ध में ही मान्य हुआ है।

चौबीस यक्ष–यक्षियाँ

जैसा कि हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके है जैन धर्म में चतुर्विध जैन संघ की रक्षा एवं उपासकों के भौतिक कल्याण के लिए तीर्थंकरों की शासन रक्षक यक्षियों के उपासना की पद्धति प्रारम्भ हुई। ये यक्षियाँ शासन देवता के रुप में जानी जाती हैं और अपने–अपने तीर्थंकरों के शासन की गरिमा एवं उनके चतुर्विध धर्मसंघ के रक्षण के साथ ही उपासक और उपासिकाओं के भौतिक कल्याण के दायित्व का भी निर्वहन करती हैं। जैन धर्म में शासन रक्षक देवता के रूप में यक्ष–यक्षियों की उपासना की अवधारणा का विकास हिन्दू धर्म में शक्ति–उपासना की अवधारणा के विकास के समानान्तर ही हुआ है और उस पर हिन्दू धर्म का स्पष्ट प्रभाव भी है। जिनसेन के हरिवंश पुराण (८वीं शती) के अन्तिम ६६वें अध्याय की प्रशस्ति में कहा गया है।

महोपसर्गे शरणं सुशान्तिकृत् सुशाकुनं शास्त्रमिदं जिनाश्रयम्।
प्रशासनाः शासनदेवताश्च या जिनाँश्चतुर्विंशतिमाश्रिताः सदा ।।४३।।
हिताः सतामप्रतिचक्रयान्विताः प्रयाचिताः सन्निहिता भवन्तु ताः।
गृहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने।।४४।।
ग्रहोरगा भूतपिशाचराक्षसा हितप्रवृत्तौ जनविघ्नकारिणः।
जिनेशिनां शासनदेवतागण प्रभावशक्त्याथ शमं श्रयन्ति ते ।।४५।।

''चौबीस तीर्थंकरों के आश्रित जो शासन देवता हैं, वे जिन शासन की रक्षा करें। चक्र को धारण करने वाले अप्रतिचक्र देवता–चक्रेश्वरी और गिरनार पर्वत पर निवास करने वाली सिंहवाहिनी–अम्बिका, जिस जिन शासन के कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहती है, उस पर विघ्न अपना प्रभाव कैसे जमा सकते हैं? मनुष्य के मांगलिक कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाले जो ग्रह, नाग, भूत, पिशाच और राक्षस आदि हैं वे भी शासन देवता की प्रभाव शक्ति से शांति को प्राप्त हो जाते हैं।'' आचार्य जिनसेन के उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन साधना में शासन–देवता की क्या भूमिका रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से महाविद्याओं की अवधारणा से ही यक्षियों की अवधारणा का विकास हुआ है। यह हम पूर्व में ही बता चुके है कि जैनधर्म में स्वीकृत १६ महाविद्याएँ कालान्तर में २४ यक्षियों में किस प्रकार समाहित हो गईं। जैन धर्म में २४ यक्षों एवं २४ यक्षियों की अवधारणा किस प्रकार हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म से प्रभावित है, इस संबंध में डॉ० मारुतिनंदन तिवारी का निम्नतम कथन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वे पार्श्वनाथ विद्याश्रम से प्रकाशित अपने शोध–प्रबन्ध में पृष्ठ १५५ पर लिखते

हैं कि ''२४ यक्षों एवं २४ यक्षियों की सूची में अधिकांश के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएँ हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवकुलों से प्रभावित हैं। जैन धर्म में हिन्दू देवकुल के विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रश्रृंखला, वज्रतारा एवं वज्राकुंशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को ग्रहण किया गया। जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के देवों के प्रभाव दो प्रकार से हैं– प्रथम जैनों ने इतर धर्मों के देवों के केवल नाम ग्रहण किये और स्वयं उनकी स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएं निर्धारित कीं। गरुड़, वरुण, कुमार आदि यक्षों और गौरी, काली, महाकाली, अम्बिका एवं पद्मावती आदि यक्षियों के सन्दर्भ में प्राप्त होने वाला प्रभाव इसी कोटि का है। द्वितीय, जैनों ने देवताओं के एक वर्ग की लाक्षणिक विशेषताएँ भी इतर धर्मों के देवों से ग्रहण की। कभी–कभी लाक्षणिक विशेषताओं के साथ ही साथ इन देवों के नाम भी हिन्दू और बौद्ध देवों से प्रभावित हैं। इस वर्ग में आने वाले यक्ष–यक्षियों में ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र एवं कुबेर यक्ष और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, तारा एवं वज्रश्रृंखला यक्षियां प्रमुख हैं।

यह स्पष्ट है कि आगम साहित्य और उन पर छठीं–सातवीं शताब्दी तक लिखी गई निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में तथा पउमचरियं जैसे पाँचवी–छठीं शती के पूर्व के प्राचीन काव्यों में तीर्थंकरों के यक्ष–यक्षियों के नाम और उनकी उपासना संबंधी विवरण अनुपलब्ध है। अगमों में जो यक्षपूजा के उल्लेख उपलब्ध है, वे वस्तुतः जैन धर्म से सम्बन्धित नहीं है। जैसा कि पूर्व में निर्दिष्ट हैं, सर्वप्रथम तिलोयपण्णत्ति में चौबीस तीर्थंकरों में २४ यक्ष–यक्षियों का निरूपण हुआ है। चाहे इस अंश को प्रक्षिप्त न भी मानें तो भी इतना निश्चित सत्य है कि जैन धर्म में शासन देवता के रूप में यक्ष–यक्षियों की उपासना लगभग छठी शती से ही प्रारम्भ हुई है। इसके पूर्व के साहित्यक साक्ष्यों और पुरातात्त्विक अवशेषों में इनके सम्बन्ध में कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि लगभग आठवीं शती में २४ तीर्थंकरों के २४ यक्ष और २४ यक्षियों की पूरी सूची बन गई थी। क्योंकि जिनसेन परोक्ष रूप से इसका निर्देश करते हैं। प्रारम्भ में सर्वानुभूति (यक्षेश्वर) और अम्बिका का निरूपण ही प्रमुख रूप से हुआ है। जिनसेन (आठवीं शती) ने अप्रतिचक्रा अर्थात् चक्रेश्वरी एवं अम्बिका का उल्लेख किया है (हरिवंशपुराण ६६/४४०)। बप्पभट्टसूरि (नवीं शती) ने सर्वानुभूति (यक्षराज) और अम्बिका की लाक्षणिक विशेषताओं का निरूपण अपने ग्रंथ चतुर्विंशतिका (२३/६२) में किया है। पुष्पदन्त के महापुराण (दशवीं शती) में चक्रेश्वरी अम्बिका के साथ–साथ सिद्धायिका, गौरी, गान्धारी आदि के भी

उल्लेख हैं। निर्वाणकलिका (११–१२वीं शती), त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित (१२वीं शती), प्रवचनसारोद्धार (१३वीं शती) की सिद्धसेनसूरी की टींका, प्रतिष्ठासारोद्धार (१३वीं शती) आदि ग्रंथों में इन यक्ष–यक्षी युगलों और अनके प्रतिमा लक्षणों का भी निरूपण हुआ है। इन विविध ग्रंथों के आधार पर इन २४ यक्ष–यक्षी युगलों की जो सूची डॉ० मारुतिनंदन तिवारी ने तैयार की है उसे हम अविकल रूप से नीचे दे रहे हैं–

तीर्थंकरों के लांछन एवं यक्ष–यक्षिणियों की तालिका

सं०	जिन	लांछन	यक्ष	यक्षी
१.	ऋषभनाथ या आदिनाथ	वृषभ	गोमुख	चक्रेश्वरी (श्वे०,दि०)[1], अप्रतिचक्रा (श्वे०)
२.	अजितनाथ	गज	महायक्ष	अजिता (श्वे०), रोहिणी (दि०)
३.	सम्भवनाथ	अश्व	त्रिमुख	दुरितारी (श्वे०), प्रज्ञप्ति (दि०)
४.	अभिनन्दन	कपि	यक्षेश्वर (श्वे०,दि०), ईश्वर (श्वे०)	कालिका (श्वे०), वज्रश्रृंखला (दि०)
५.	सुमतिनाथ	क्रौंच	तुम्बरु (श्वे०,दि०), तुम्बर (दि०)	महाकाली (श्वे०), पुरुषदत्ता, नरदत्ता (दि०), सम्मोहिनी (श्वे०)
६.	पद्मप्रभ	पद्म	कुसुम (श्वे०), पुष्प (दि०)	अच्युता, मानसी (श्वे०), मनोवेगा (दि०)
७.	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक (श्वे०, दि०), नंद्यावर्त (दि०)	मातंग	शान्ता (श्वे०), काली (दि०)
८.	चन्द्रप्रभ	शशि	विजय (श्वे०), श्याम (दि०)	भृकुटि, ज्वाला (श्वे०), ज्वालिनी (दि०)
९.	सुविधिनाथ (श्वे०) पुष्पदंत (श्वे०,दि०)	मगर	अजित (श्वे०,दि०), जय	सुतारा (श्वे०), महाकाली (दि०)
१०.	शीतलनाथ	श्रीवत्स (श्वे०) स्वस्तिक (दि०)	ब्रह्म	अशोक (श्वे०), मानवी (दि०)

सं०	जिन	लांछन	यक्ष	यक्षी
११.	श्रेयांसनाथ	खड्गी (गेंडा)	ईश्वर (श्वे०,दि०), यक्षराज, मनुज (श्वे०)	मानवी, श्रीवत्सा (श्वे०), गौरी (दि०)
१२.	वासुपूज्य	महिष	कुमार	चण्डा–प्रचण्डा, अजिता, चन्द्रा (श्वे०), गान्धारी (दि०)
१३.	विमलनाथ	वराह	षण्मुख (श्वे०,दि०), चतुर्मुख (दि०)	विदिता (श्वे०), वैरोटी (दि०)
१४.	अनन्तनाथ	श्येनपक्षी (श्वे०), रीछ (दि०)	पाताल	अंकुशा (श्वे०), अनन्तमती (दि०)
१५.	धर्मनाथ	वज्र	किन्नर	कन्दर्पा, पन्नगा (श्वे०), मानसी (दि०)
१६.	शान्तिनाथ	मृग	गरुड़	निर्वाणी (श्वे०), महामानसी (दि०)
१७.	कुंथुनाथ	छाग	गन्धर्व	बला, अच्युता, गान्धरिणी (श्वे), जया (दि०)
१८.	अरनाथ	नन्द्यावर्त (श्वे०), मत्स्य (दि०)	यक्षेन्द्र, यक्षेश्वर (श्वे०), खेन्द्र (दि०)	धारणी, धारिणी (श्वे०), तारावती (दि०)
१९.	मल्लिनाथ	कलश	कुबेर	वैरोट्या, धरणप्रिया (श्वे०), अपराजिता (दि०)
२०.	मुनिसुव्रत	कूर्म	वरुण	नरदत्ता, वरदत्ता (श्वे०), बहुरूपिणी (दि०)
२१.	नमिनाथ	नीलोत्पल	भृकुटि	गांधारी (श्वे०) चामुण्डा (दि०)
२२.	नेमिनाथ या अरिष्टनेमि	शंख	गोमेध	अम्बिका (श्वे०,दि०), कुष्माण्डी (श्वे०) कुष्माण्डिनी (दि०)
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प	पार्श्व, वामन (श्वे०) धरण (दि०)	पद्मावती
२४.	महावीर (या वर्धमान)	सिंह	मातंग	सिद्धायिका (श्वे०,दि०), सिद्धायिनी (दि०)

* प्रस्तुत तालिका डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी की पुस्तक 'जैन प्रतिमा विज्ञान' के परिशिष्ट १ से उद्धृत की गई है। एतदर्थ लेखक उनका आभारी है।

यक्ष–यक्षी मूर्तिविज्ञान–तालिका

(क) २४–यक्ष

सं०	यक्ष	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्य लक्षण
१.	गोमुख– (क) श्वे०	गज या वृषभ	चार	वरदमुद्रा, अक्षमाला, मातुलिंग, पाश	गोमुख, पार्श्व में गज या वृषभ का अंकन
	(ख) दि०	वृषभ	चार	परशु, फल, अक्षमाला, वरदमुद्रा	शीर्षभाग में धर्म चक्र
२.	महायक्ष–(क) श्वे०	गज	आठ	वरदमुद्रा, मुद्गर, अक्षमाला, पाश (दक्षिण); मातुलिंग, अभयमुद्रा, अंकुश, शक्ति (वाम)	चतुर्मुख
	(ख) दि०	गज	आठ	खड्ग (निस्त्रिंश), दण्ड, परशु, वरदमुद्रा (दक्षिण); चक्र, त्रिशूल, पद्म, अंकुश (वाम)	चतुर्मुख
३.	त्रिमुख (क) श्वे०	मयूर (या सर्प)	छह	नकुल, गदा, अभयमुद्रा (दक्षिण); फल, सर्प, अक्षमाला (वाम)	त्रिमुख, त्रिनेत्र
	(ख) दि०	मयूर	छह	दण्ड, त्रिशूल, कटार (दक्षिण); चक्र, खड्ग, अंकुश (वाम)	त्रिमुख, त्रिनेत्र
४.	(i) ईश्वर–श्वे०	गज	चार	फल, अक्षमाला, नकुल, अंकुश	
	(ii) यक्षेश्वर–दि०	गज या हंस	चार	संकपत्र या बाण, खड्ग, कार्मुक, खेटक। सर्प, पाश, वज्र, अंकुश (अपराजितपृच्छा)	चतुरानन
५.	तुम्बरु (क) श्वे०	गरुड	चार	वरदमुद्रा, शक्ति, नाग या गदा, पाश	
	(ख) दि०	गरुड	चार	सर्प, सर्प, वरदमुद्रा, फल	नागयज्ञोपवीत

* प्रस्तुत तालिका डॉ मारुतिनन्दन तिवारी की कृति जैन प्रतिमा विज्ञान के परिशिष्ट २ से उद्धृत की गई है। एतदर्थ लेखक उनका आभारी है।

सं०	यक्ष	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्य लक्षण
६. कुसुम या पुष्प–					
	(क) श्वे०	मृग या मयूर या अश्व	चार	फल, अभयमुद्रा, नकुल, अक्षमाला	
	(ख) दि०	मृग	दो या चार	(i) गदा, अक्षमाला (ii) शूल, मुद्रा, खेटक, अभयमुद्रा या खेटक	
७. मातंग–	(क) श्वे०	गज	चार	बिल्वफल, पाश या नागपाश, नकुल या वज्र, अंकुश	
	(ख) दि०	सिंह या मेष	दो	वज्र या शूल, दण्ड। गदा, पाश (अपराजितपृच्छा)	
८. (i) विजय–श्वे०		हंस	दो	चक्र या खड्ग, मुद्गर	त्रिनेत्र
(ii) श्याम–दि०		कपोत	चार	फल, अक्षमाला, परशु, वरदमुद्रा	त्रिनेत्र
९. अजित–	(क) श्वे०	कूर्म	चार	मातुलिंग, अक्षसूत्र या अभयुद्रा, नकुल, शूल या अतुल रत्नराशि	
	(ख) दि०	कूर्म	चार	फल, अक्षसूत्र, शक्ति, वरदमुद्रा	
१०. ब्रह्म–	(क) श्वे०	पद्म	आठ या दस	मातुलिंग, मुद्गर, पाश, या वरदमुद्रा (दक्षिण); नकुल, गदा, अंकुश, अक्षसूत्र (वाम); मातुलिंग, मुद्गर, पाश, अभयमुद्रा, नकुल, गदा, अंकुश, पाश, पद्म (आचारदिनकर)	त्रिनेत्र, चतुर्मुख
	(ख) दि०	सरोज	आठ	बाण, खड्ग, वरदमुद्रा, धनुष, दण्ड, खेटक, परशु, वज्र	चतुर्मुख
११. ईश्वर–	(क) श्वे०	वृषभ	चार	मातुलिंग, गदा, नकुल; अक्षसूत्र	त्रिनेत्र
	(ख) दि०	वृषभ	चार	फल, अक्षसूत्र, त्रिशूल, दण्ड या वरदमुद्रा	त्रिनेत्र

सं०	यक्ष	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्य लक्षण
१२.	कुमार– (क) श्वे०	हंस	चार	बीजपूरक, बाण या वीणा, नकुल, धनुष	
	(ख) दि०	हंस या मयूर	चार या छह	वरदमुद्रा, गदा, धनुष, फल (प्रतिष्ठासारोद्धार); बाण, गदा, वरदमुद्रा, धनुष, नकुल, मातुलिंग (प्रतिष्ठातिलकम्)	त्रिमुख या षण्मुख
१३.	(i) षण्मुख–श्वे०	मयूर	बारह	फल, चक्र, बाण या शक्ति, खड्ग, पाश, अक्षमाला, नकुल, चक्र, धनुष, फलक, अंकुश, अभयमुद्रा	
	(ii) चतुर्मुख–दि०	मयूर	बारह	ऊपर के आठ हाथों में परशु और शेष चार में खड्ग, अक्षसूत्र, खेटक, दण्डमुद्रा	
१४.	पाताल–(क) श्वे०	मकर	छह	पद्म, खड्ग, पाश, नकुल, फलक, अक्षसूत्र	त्रिमुख, त्रिनेत्र
	(ख) दि०	मकर	छह	अंकुश, शूल, पद्म, कषा, हल, फल। वज्र, अंकुश, धनुष, बाण, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	त्रिमुख, शीर्षभाग में त्रिसर्पफण
१५.	किन्नर–(क) श्वे०	कूर्म	छह	बीजपूरक, गदा, अभयमुद्रा, नकुल, पद्म, अक्षमाला	त्रिमुख
	(ख) दि०	मीन	छह	मुद्गर, अक्षमाला, वरदमुद्रा, चक्र, वज्र, अंकुश; पाश, अंकुश, धनुष, बाण, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	त्रिमुख
१६.	गरुड–(क) श्वे०	वराह या गज	चार	बीजपूरक, पद्म, नकुल या पाश, अक्षसूत्र	वराहमुख
	(ख) दि०	वराह या शुक	चार	वज्र, चक्र, पद्म, फल। पाश, अंकुश, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	
१७.	गन्धर्व–(क) श्वे०	हंस या सिंह?	चार	वरदमुद्रा, पाश, मातुलिंग, अंकुश	
	(ख) दि०	पक्षी या शुक	चार	सर्प, पाश, बाण, धनुष; पद्म, अभयमुद्रा, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	

सं० यक्ष	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्य लक्षण
१८. (i) यक्षेन्द्र–श्वे०	शंख या वृषभ या शेष	बारह	मातुलिंग, बाण या कपाल, खड्ग, मुद्गर, पाश या शूल, अभयमुद्रा, नकुल, धनुष, खेटक, शूल, अंकुश, अक्षसूत्र	षण्मुख, त्रिनेत्र
(ii) खेन्द्र या यक्षेश–दि०	शंख या खर	बारह या छह	बाण, पद्म, फल, माला, अक्षमाला, लीलामुद्रा, धनुष, वज्र, पाश, मुद्गर, अंकुश, वरदमुद्रा। वज्र, चक्र, धनुष, बाण, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	षण्मुख, त्रिनेत्र
१९. कुबेर या यक्षेस–(क) श्वे०	गज	आठ	वरदमुद्रा, परशु, शूल, अभयमुद्रा, बीजपूरक, शक्ति, मुद्गर, अक्षसूत्र	चतुर्मुख, गरुडवदन (निर्वाणकलिका)
(ख) दि०	गज या सिंह	आठ या चार	फलक, धनुष, दण्ड, पद्म, खड्ग, बाण, पाश, वरदमुद्रा। पाश, अंकुश, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	चतुर्मुख
२०. वरुण–(क) श्वे०	वृषभ	आठ	मातुलिंग, गदा बाण, शक्ति, नकुलक, पद्म या अक्षमाला, धनुष, परशु	जटामुकुट, त्रिनेत्र, चतुर्मुख, द्वादशाक्ष (आचारदिनकर)
(ख) दि०	वृषभ	चार या छह	खेटक, खड्ग, फल, वरदमुद्रा। पाश, अंकुश, कार्मुक, शर, उरग, वज्र (अपराजितपृच्छा)	जटामुकुट, त्रिनेत्र, अष्टानन
२१. भृकुटि–(क) श्वे०,	वृषभ	आठ	मातुलिंग, शक्ति, मुद्गर, अभयमुद्रा, नकुल, परशु, वज्र, अक्षसूत्र	चतुर्मुख, त्रिनेत्र (द्वादशाक्ष आचारदिनकर)
(ख) दि०	वृषभ	आठ	खेटक, खड्ग, धनुष, बाण, अंकुश, पद्म, चक्र, वरदमुद्रा	चतुर्मुख
२२. ˆ ोमेध (क) श्वे०	नर	छह	मातुलिंग, परशु, चक्र, नकुल, शूल, शक्ति	त्रिमुख, समीप ही अम्बिका के निरूपण का निर्देश (आचारदिनकर)

सं०	यक्ष	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्य लक्षण
	(ख) दि०	पुष्प या नर	छह	मुद्गर या द्रुघण, परशु, दण्ड, फल, वज्र, वरदमुद्रा। प्रतिष्ठातिलकम् में द्रुघण के स्थान पर धन के प्रदर्शन का निर्देश है।	त्रिमुख
२३.	(i) पार्श्व–श्वे०	कूर्म	चार	मातुलिंग, उरग या गदा, नकुल, उरग	गजमुख, सर्पफणों के छत्र से युक्त
	(ii) धरण–दि०	कूर्म	चार	नागपाश, सर्प, सर्प, वरदमुद्रा।	सर्पफणों के छत्र से युक्त
			या छह	धनुष, बाण, भृण्डि, मुद्गर, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	
२४.	मातंग–(क) श्वे०	गज	दो	नकुल, बीजपूरक	
	(ख) दि०	गज	दो	वरमुद्रा, मातुलिंग	मस्तक पर धर्मचक्र

यक्ष–यक्षी–मूर्तिविज्ञान–तालिका

(ख) २४–यक्षी

सं० यक्षी	वाहन	भुजा–सं०	आयुध
१. चक्रेश्वरी या अप्रति चक्रा–(क) श्वे०	गरुड	आठ या बारह	(i) वरदमुद्रा, बाण, चक्र, पाश, (दक्षिण); धनुष, वज्र, चक्र, अंकुश (वाम) (ii) आठ हाथों में चक्र, शेष चार में से दो में वज्र और दो में मातुलिंग, अभयमुद्रा
(ख) दि०	गरुड	चार या बारह	(i) दो में चक्र और अन्य दो में मातुलिंग, वरदमुद्रा (ii) आठ हाथों में चक्र और शेष चार में से दो में वज्र और दो में मातुलिंग और वरदमुद्रा या अभयमुद्रा
२. (i) अजिता या अजित–बला–श्वे०	लोहासन या गाय	चार	वरदमुद्रा, पाश, अंकुश, फल
(ii) रोहिणी–दि०	लोहासन	चार	वरदमुद्रा, अभयमुद्रा, शंख, चक्र
३. (i) दुरितारी–श्वे०	मेष या मयूर या महिष	चार	वरदमुद्रा, अक्षमाला, फल या सर्प, अभयमुद्रा
(ii) प्रज्ञप्ति–दि०	पक्षी	छह	अर्द्धेन्दु, परशु, फल, वरदमुद्रा, खड्ग, इढ़ी या पिंडी
४. (i) कालिका या काली–श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, पाश, सर्प, अंकुश
(ii) वज्रश्रृंखला–दि०	हंस	चार	वरदमुद्रा, नागपाश, अक्षमाला, फल
५. (i) महाकाली–श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, पाश या नागपाश, मातुलिंग, अंकुश
(i) पुरुषदत्ता या नर–दत्ता–दि०	गज	चार	वरदमुद्रा, चक्र, वज्र, फल
६. (i) अच्युता या श्यामा या मानसी–श्वे०	नर	चार	वरदमुद्रा, वीणा या पाश या बाण, धनुष या मातुलिंग, अभयमुद्रा या अंकुश
(ii) मनोवेगा–दि०	अश्व	चार	वरदमुद्रा, खेटक, खड्ग, मातुलिंग

सं० यक्षी	वाहन	भुजा–सं०	आयुध
७. (i) शान्ता–श्वे०	गज	चार	वरदमुद्रा, अक्षमाला, मुक्ता माला, शूल या त्रिशूल, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, अक्षमाला, पाश, अंकुश (मन्त्राधिराजकल्प)
(ii) काली–दि०	वृषभ	चार	घण्टा, त्रिशुल या शूल, फल, वरदमुद्रा
८ (i) भृकुटि या ज्वाला–श्वे०	वराह या वराल या मराल या हंस	चार	खड्ग, मुद्गर, फलक या मातुलिंग, परशु
(ii) ज्वालामालिनी–दि०	महिष	आठ	चक्र, धनुष, पाश या नागपाश, चर्म या फलक, त्रिशुल या शूल, बाण, मत्स्य, खड्ग
९. (i) सुतारा या चाण्डालिका–श्वे०	वृषभ	चार	वरदमुद्रा, अक्षमाला, कलश, अंकुश
(ii) महाकाली–दि०	कूर्म	चार	वज्र, मुदगर या गदा, फल या अभयमुद्रा, वरदमुद्रा
१०. (i) अशोका या गोमेधिका–श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, पाश या नागपाश, फल, अंकुश
(ii) मानवी–दि०	शूकर(नाग)	चार	फल, वरदमुद्रा, झष, पाश
११. (i) मानवी या श्रीवत्सा–श्वे०	सिंह	चार	वरदमुद्रा, मुद्गर (या पाश), कलश या वज्र या नकुल, अंकुश या अक्षसूत्र
(ii) गौरी–दि०	मृग	चार	मुद्गर या पाश, अब्ज, कलश या अंकुश, वरदमुद्रा
१२. (i) चण्डा या प्रचण्डा या अजिता–श्वे०	अश्व	चार	वरदमुद्रा, शक्ति, पुष्प या पाश, गदा
(ii) गान्धारी–दि०	पद्म या मकर	चार या दो	मूसल, पद्म, वरदमुद्रा, पद्म। पद्म, फल (अपराजितपृच्छा)
१३. (i) विदिता–श्वे०	पद्म	चार	बाण, पाश, धनुष, सर्प
(ii) वैरोट्या या वैरोटी–दि०	सर्प या व्योमयान	चार या छह	सर्प, सर्प, धनुष, बाण। दो में वरदमुद्रा, शेष में खड्ग, खेटक, कार्मुक, शर (अपराजितपृच्छा)

सं०	यक्षी	वाहन	भुजा–सं०	आयुध
१४.	(i) अंकुशा–श्वे०	पद्म	चार या दो	खड्ग, पाश, खेटक, अंकुश। फलक, अंकुश (पद्मानन्दमहाकाव्य)
	(ii) अनन्तमती–दि०	हंस	चार	धनुष, बाण, फल, वरदमुद्रा
१५.	(i) कन्दर्पा या पन्नगा–श्वे०	मत्स्य	चार	उत्पल, अंकुश, पद्म, अभयमुद्रा
	(ii) मानसी–दि०	व्याघ्र	छह	दो में पद्म और शेष में धनुष, वरदमुद्रा, अंकुश, बाण। पाश, चक्र डमरु, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)
१६.	(i) निर्वाणी–श्वे०	पद्म	चार	पुस्तक, उत्पल, कमण्डलु, पद्म या वरदमुद्रा
	(ii) महमानसी–दि०	मयूर या गरुड	चार	फल, सर्प या इढ़ि या खड्ग?, चक्र, वरदमुद्रा बाण, धनुष, वज्र, चक्र (अपराजितपृच्छा)
१७.	(i) बला–श्वे०	मयूर	चार	बीजपूरक, शूल या त्रिशूल, मुषुण्ढि या पद्म, पद्म
	(ii) जया–दि०	शूकर	चार या छह	शंख, खड्ग, चक्र, वरदमुद्रा वज्र, चक्र, पाश, अंकुश, फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)
१८.	(i) धारणी या काली–श्वे०	पद्म	चार	मातुलिंग, उत्पल, पाश या पद्म, अक्षसूत्र
	(ii) तारावती या विजया –दि०	हंस या सिंह	चार	सर्प, वज्र, मृग या चक्र, वरदमुद्रा या फल
१९.	(i) वैरोट्या–श्वे०	पद्म	चार	वरदमुद्रा, अक्षसूत्र, मातुलिंग, शक्ति
	(ii) अपराजिता–दि०	शरभ	चार	फल, खड्ग, खेटक, वरदमुद्रा
२०.	(i) नरदत्ता–श्वे०	भद्रासन या सिंह	चार	वरदमुद्रा, अक्षसूत्र, बीजपूरक, कुम्भ या शूल या त्रिशूल
	(ii) बहुरूपिणी–दि०	कालानाग	चार या दो	खेटक, खड्ग, फल, वरदमुद्रा, खड्ग, खेटक (अपराजितपृच्छा)
२१.	(i) गान्धारी या मालिनी–श्वे.	हंस	चार या आठ	वरदमुद्रा, खड्ग, बीजपूरक, कुम्भ या शूल या फलक। अक्षमाला, वज्र, परशु, नकुल, वरदमुद्रा, खड्ग, खेटक, मातुलिंग (देवतामूर्तिप्रकरण)
	(ii) चामुण्डा या कुसुम–मालिनी–श्वे०	मकर या मर्कट	चार या आठ	दण्ड, खेटक, अक्षमाला, खड्ग शूल, खड्ग, मुद्गर, पाश, वज्र, चक्र, डमरू, अक्षमाला (अपराजितपृच्छा)

सं०	यक्षी	वाहन	भुजा–सं०	आयुध	अन्यलक्षण
२२.	अम्बिका या कुष्माण्डी या आम्रादेवी–(क) श्वे०	सिंह	चार	मातुलिंग या आम्रलुम्बि, पाश, पुत्र, अंकुश	एक पुत्र समीप ही निरूपित होगा
	(ख) दि०	सिंह	दो	आम्रलुम्बि, पुत्र। फल, वरदमुद्रा (अपराजितपृच्छा)	दूसरा पुत्र आम्रवृक्ष की छाया में अवस्थित यक्षी के समीप होगा
२३.	पद्मावती–(क) श्वे०	कुक्कुट–सर्प या कुक्कुट	चार	पद्म, पाश, फल, अंकुश	शीर्षभाग में त्रिसर्पफणछत्र
	(ख) दि०	पद्म या कुक्कुट–सर्प या कुक्कुट	चार, छह, चौबीस	(i) अंकुश, अक्षसूत्र या पाश, पद्म, वरदमुद्रा (ii) पाश, खड्ग, शूल, अर्धचन्द्र, गदा, मुसल (iii) शंख, खड्ग, चक्र, अर्धचन्द्र, पद्म, उत्पल, धनुष, शक्ति, पाश, अंकुश, घण्टा, बाण, मुसल, खेटक, त्रिशूल, परशु, कुन्त, भिण्ड, माला, फल, गदा, पत्र, पल्लव, वरदमुद्रा	शीर्षभाग में तीन सर्पफणों का छत्र
२४.	(i) सिद्धायिका–श्वे०	सिंह या गज	चार या छह	पुस्तक, अभयमुद्रा, मातुलिंग या पाश, बाण या वीणा या पद्म। पुस्तक, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, खरायुध, वीणा, फल (मन्त्राधिराजकल्प)	
	(ii) सिद्धायिनी–दि०	भद्रासन या सिंह	दो	वरदमुद्रा या अभयमुद्रा, पुस्तक	

यदि हम इन यक्ष–यक्षी युगलों के नामों एवं प्रतिमा लक्षणों पर विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट लगता है इस सन्दर्भ में जैन परम्परा हिन्दू परम्परा से बहुत कुछ प्रभावित है। फिर भी कहीं कहीं उसने अपनी दृष्टि से या बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं के प्रभाव से उसमें परिवर्तन भी किये हैं। डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी ने हिन्दू परम्परा से प्रभावित यक्ष–यक्षी युगलों को तीन भागों में विभाजित किया है वे लिखते हैं कि हिन्दू देवकुल से प्रभावित यक्ष–यक्षी युगल तीन भागों में विभाज्य हैं। पहली कोटि में ऐसे यक्ष–यक्षी युगल आते हैं जिनके मूल–देवता

हिन्दू देवकुल में आपस में किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है। जैन यक्ष–यक्षी युगलों में अधिकांश इसी वर्ग के हैं। दूसरी कोटि में ऐसे यक्ष–यक्षी युगल हैं जो पूर्वरूप में हिन्दू देवकुल में भी परस्पर सम्बन्धित हैं, जैसे श्रेयांशनाथ के यक्ष–यक्षी ईश्वर एवं गौरी। तीसरी कोटि में ऐसे युगल हैं जिनमें यक्ष एक और यक्षी दूसरे स्वतन्त्र सम्प्रदाय के देवता से प्रभावित हैं। ऋषभनाथ के गोमुख यक्ष एवं चक्रेश्वरी यक्षी इसी कोटि के हैं जो क्रमशः शैव एवं वैष्णव धर्मों के प्रतिनिधि देव हैं।" इस प्रकार दो बातें स्पष्ट हैं प्रथम तो यह कि जैन देवमण्डल के सदस्य के रूप में यक्ष–यक्षियों की अवधारणा एक परवर्ती घटना है। इसका प्रारम्भ लगभग चतुर्थ–पञ्चमशती से होता है और अपने पूर्ण विकसित रूप में यह लगभग दसवीं–ग्यारहवीं शती में अस्तित्व में आई है क्योंकि पाँचवीं शती के पूर्व इन शासन रक्षक यक्ष–यक्षियों का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता है। जिन यक्ष–यक्षियों के उल्लेख आगमों में है वे लौकिक देवता के रूप में है, न कि जैन देवमण्डल के सदस्य के रूप में। आगमों से मात्र इतना ही संकेत अवश्य मिलता है कि कुछ यक्ष जिन शासन के प्रति अनुग्रहशील थे। जैसे उत्तराध्ययन के १२वें अध्याय में उल्लिखित–तिंदुक यक्ष आदि दूसरे यह भी स्पष्ट है कि इन यक्ष–यक्षियों में से अनेक नाम हिन्दू तान्त्रिक परम्परा से लिये गये है और मात्र यही नहीं इनके मूर्ति लक्षणों का निर्धारण भी उसी परम्परा के प्रभावित है।

इन महाविद्याओं एवं यक्ष–यक्षियों के अतिरिक्त नवग्रह, दस दिक्पाल, चौसठ योगिनियाँ, बावन वीर तथा अनेक क्षेत्रपाल (भैरव) भी जैन देवकुल के सदस्य बना लिये गये हैं। इन सबका ग्रहण मूलतः तान्त्रिक एवं क्षेत्रीय लौकिक परम्पराओं से हुआ है।

लोकपाल–दिक्पाल

जैन परम्परा में दिक्पालों की अवधारणाओं का विकास लोकपालों की अवधारणा के पश्चात् ही हुआ है। जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में दिक्पालों की अवधारणा थी, उसी प्रकार जैन परम्परा में लोकपालों की अवधारणा थी। तिलोयपण्णत्ति में चार लोकपालों का उल्लेख है। इनके नाम हैं–सोम, यम, वरुण और धनद या कुबेर, जिन्हें वैश्रमण भी कहा गया है। जैन परम्परा में इन चारों का प्राचीनतम उल्लेख ऋषिभाषित (४–३ री शती ई० पू०) में अर्हत् ऋषि के रूप में मिलता है। तिलोयपण्णत्ति(३/७१) में इन लोकपालों में सोम को पूर्व दिशा का यम को दक्षिण दिशा का, वरुण को पश्चिम दिशा का और कुबेर को उत्तर दिशा का लोकपाल माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चार लोकपालों

की कल्पना से ही अष्ट दिक्पालों की कल्पना अस्तित्व में आई थी। मुझे ऐसा लगता है कि इन्हीं चार लोकपालों की अवधारणा को ब्राह्मण परम्परा की अष्ट दिक्पालों की अवधारणा से समन्वित करते हुए प्रारम्भ में अष्ट दिक्पालों और उसके पश्चात् दस दिक्पालों की अवधारणा जैनों में भी विकसित हुई।

जैनों में अष्ट दिक्पालों की अवधारणा

प्रतिष्ठासारोद्धार (३/१८६–१९५) में आठ दिक्पालों की ही अवधारणा मिलती है। इसमें इन्द्र को पूर्व दिशा का अग्नि को दक्षिण–पूर्व अर्थात् आग्नेय कोण का, यम को दक्षिण दिशा का नैऋति को दक्षिण–पश्चिम दिशा का अर्थात् नैऋत्य कोण का, वरुण को पश्चिम दिशा का, वायु को उत्तर–पश्चिम दिशा का अर्थात् वायव्य कोण का, कुबेर का उत्तर दिशा का और ईशान को उत्तर–पूर्व दिशा का अर्थात् ईशान कोण का अधिपति माना गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिन जैन ग्रन्थों में दस दिक्पालों की अवधारणा उपलब्ध होती है, उनमें ब्रह्म या सोम को उर्ध्व लोक का और नागदेव या धरणेन्द्र को अधोदिशा का स्वामी बतलाया गया है। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जहाँ जैन साहित्यिक स्रोतों में प्रायः दस दिक्पालों का भी उल्लेख मिलता है, वहीं जैन मंदिरों में प्रायः आठ दिक्पालों का ही अंकन पाया जाता है। डॉ० मारुतिनंदन तिवारी की सूचना के अनुसार केवल धानेराव, राजस्थान जिला पालीके एक अपवाद को छोड़कर जहाँ दस दिक्पालों का अंकन है शेष सभी मंदिरों में आठ दिक्पालों का ही अंकन हुआ है। यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा में लोकपालों दिक्पालों/दिक्पालों की यह अवधारणा काल क्रम में विकसित है और हिन्दू परम्परा के समरूप ही है।

हिन्दुओं में अष्ट दिक्पालों की अवधारणा

दिक्पालों की यह अवधारणा प्रायः सभी भारतीय धर्मो में सामान्य रूप से स्वीकृत रही है और सभी तान्त्रिक साधनाओं में भी इनकी उपासनाओं के संकेत मिलते हैं। ब्राह्मण परंपरा में भी इन्हें दिशाओं के देवता ही माना गया और आठ दिशाओं के आधार पर ही दिक्पालों की संख्या भी आठ मानी गई है। हिन्दू परम्परा के अष्ट दिक्पाल इसप्रकार हैं–(१) इन्द्र (२) अग्नि (३) यम (४) निर्ऋति (५) वरुण (६) वायु (७) कुबेर और (८) ईशान। हिन्दू तांत्रिक परम्परा में भी इन्द्र को पूर्व दिशा का अग्नि को दक्षिण–पूर्व का, यम को दक्षिण का, निर्ऋति को दक्षिण–पश्चिम का, वरुण को पश्चिम का, वायु को उत्तर–पश्चिम का, कुबेर को उत्तर का और ईशान को उत्तर–पूर्व का अधिनायक माना जाता है। हिन्दू

परम्परा में जहाँ कहीं दस दिक्पालों की अवधारणा उपलब्ध होती है वहाँ उसमें वासुकी को अधो दिशा का और ब्रह्म (सोम) को उर्ध्व दिशा का अधिनायक स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा से इसकी तुलना करने पर प्रायः समानता ही पायी जाती है।

जैन परम्परा में अष्ट या दस दिक्पालों की अवधारणा कब आयी, यह निश्चित रूप से कह पाना तो कठिन है, किन्तु इन अष्ट दिक्पालों में से सोम, यम, वरुण और वैश्रमण (कुबेर) इन चार का उल्लेख सर्वप्रथम अर्हत् ऋषि के रूप में ऋषिभाषित सूत्र (ई० पू० चतुर्थ शती) में मिलता है। आगे चलकर यही नाम पहले लोकपालों की सूची में और फिर दिक्पालों की सूची में सम्मिलित किये गये। इन्द्र का उल्लेख तो भगवतीसूत्र कल्पसूत्र, आदि आगमों एवं पउमचरिय जैसे प्राचीन ग्रन्थों मे भी मिलता है। यद्यपि इन ग्रन्थों में इन्द्र को जिनों के सेवक के रूप में ही उपस्थित किया गया है। ईशान को भी जैन परम्परा में इन्द्र के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। इसी प्रकार कुबेर और ब्रह्मा की स्वीकृति सर्वानुभूति यक्ष और ब्रह्मशांति यक्ष के रूप में मिलती है।

दिक्पाल अर्चा:

क्योंकि दिक्पालों के उल्लेख जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते है अथवा उनके अंकन जैन मंदिरों में मिलते है, केवल इसी आधार पर उन्हें जैन देव मण्डल का सदस्य नहीं माना जा सकता है, अपितु उन्हें इसलिए जैन देव मण्डल का सदस्य माना जाता है कि तीर्थंकरों और यक्ष यक्षियों के पूजा विधानों के साथ–साथ प्रतिष्ठातिलक आदि ग्रन्थो में उनके पूजा सम्बन्धी विधान भी मिलते हैं। इन पूजा विधानों में भी जिन पूजा विधान के समान ही आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण पूजन और विसर्जन के साथ–साथ अष्टद्रव्यों से पूजा के भी उल्लेख हैं। उस पूजा के आहुतिमंत्र इसप्रकार हैं– आँ क्रों ही इंद्राय स्वाहा। ॐ आँ अग्नये स्वाहा। ॐ आँ यमाय स्वाहा। ॐ आँ नैऋत्याय स्वाहा। ॐ आँ वरुणाय स्वाहा। ॐ आँ पवनाथ स्वाहा। ॐ आँ धनदाय स्वाहा। ॐ आँ ईशानाम स्वाहा। ॐ आँ धरणेन्द्राय स्वाहा। ॐ आँ सोमाय स्वाहा।। इत्याहुतयः।।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन परम्पराओं में दिक्पाल अर्चा हिन्दू तान्त्रिक परम्परा के समरूप है और उससे प्रभावित भी है। क्योंकि जैन परम्परा में दिक्पाल अर्चा के जो भी उल्लेख हैं वे सभी दसवीं शती के पश्चात् के ही हैं।

लोकान्तिक देव

दिक्पाल और लोकपाल से मिलती जुलती एक अवधारणा लोकान्तिक देवों की भी मिलती है। लोकान्तिक देवों की यह अवधारणा समवायांग जैसे आगमों और तत्त्वार्थसूत्र के मूल पाठ में उपस्थित होने से प्राचीन प्रतीत होती है। तत्त्वार्थसूत्र में जिन लोकान्तिक देवों का उल्लेख है, वे इसप्रकार हैं– (१) सारश्वत (२) आदित्य (३) वह्नि (४) वरुण (५) गर्दतोय (६) तूषित (७) अव्याबाध और (८) अरिष्ट । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आगमों में लोकान्तिक देवों की संख्या के संदर्भ में आठ और नौ के उल्लेख मिलते हैं। स्वयं स्थानांग में भी आठवें स्थान में आठ लोकान्तिक देवों की और नौवें स्थान में नौ लोकान्तिक देवों का उल्लेख मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में नौ लोकान्तिक देवों का उल्लेख है, उसमें मरुत् नाम अधिक है इससे यह लगता है कि इनकी संख्या में विकास हुआ है। तिलोयपण्णति और राजवार्तिक में भी तो दो लोकान्तिक देवों की कल्पना की गई है। लोकान्तिक देव तीर्थंकर की दीक्षा के पूर्व उनके सामने उपस्थित होकर उन्हें वैराग्य के लिए प्रेरित करते हैं। इन देवों में विषय–रति (काम–वासना) न होने से ये 'देवर्षि' भी कहलाते हैं। पुनः ये देव एक भव अवतारी होते हैं अर्थात् देवलोक से च्युत होकर मनुष्य जीवन को प्राप्त कर धर्म–साधना से मुक्ति को प्राप्त होते हैं। इसलिए जैन परम्परा में इन्हें अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इनका निवास स्थान भी आठों दिशाओं में और नौवें अरिष्ट का उनके मध्य में होने से लोकान्तिक देवों की अवधारणा की कुछ समानता दिक्पालों या लोकपालों की अवधारणा से है। फिर भी अधिकांश नामों की भिन्नता को लेकर यही मानना होगा कि इनकी अवधारणा दिक्पालों और लोकपालों से भिन्न ही है। ये लोकान्तिक देव भी दिक्पालों या लोकपालों के समान ही प्रत्येक दिशा, प्रत्येक विदिशा और मध्यभाग में निवास करते हैं, जैसे पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण में सारस्वत, पूर्व में आदित्य, पूर्व–दक्षिण (अग्निकोण) में वह्नि, दक्षिण में वरुण, दक्षिणपश्चिम (नैर्ऋत्यकोण) में गर्दतोय, पश्चिम में तुषित, पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अव्याबाध, उत्तर में मरुत् और बीच में अरिष्ट। इनके सारस्वत आदि नाम विमानों के नाम के आधार पर प्रसिद्ध हैं। पंचकल्याणक आदि में दीक्षा कल्याणक के समय लोकान्तिक देवों के आह्वान एवं पूजन का निर्देश है। ज्ञातव्य है कि जहाँ लोकपालों/दिक्पालों की अवधारणा हिन्दू परम्परा से प्रभावित है वहां लोकान्तिक देवों की अवधारणा जैनों की अपनी अवधारणा है। इसमें उसके निवृत्तिपरक तत्त्वों को सुरक्षित रखा गया है।

नवग्रह

तान्त्रिक साधना में विद्यादेवियों, यक्ष–यक्षियों, दिक्पालों आदि की उपासना के साथ–साथ नवग्रह की उपासना भी प्रचलित रही है। जनसामान्य का यह विश्वास रहा है कि विभिन्न ग्रहों और नक्षत्रों का प्रभाव व्यक्ति की जीवन–यात्रा पर पड़ता है और उसके आधार पर ही उसके जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दों में ग्रह और नक्षत्रों के द्वारा व्यक्ति का जीवन चक्र निर्धारित होता है। जहाँ विज्ञान ने ग्रह–नक्षत्रों को आकाशीय पिण्ड माना है, वहाँ अन्य भारतीय परम्पराओं के समान ही जैन परम्परा ने ग्रह–नक्षत्रों को एक देवता के रूप में माना है तथा पिण्डों को उन देवों का आवास स्थल माना है। इसीलिये वैयक्तिक जीवन की विपत्तियों की समाप्ति और सुख समृद्धि की प्राप्ति के लिये इन ग्रह–नक्षत्रों की उपासना भी प्रारम्भ हुई। यद्यपि ग्रह नक्षत्रों की इस उपासना का मूलभूत प्रयोजन वैयक्तिक जीवन में विपत्तियों के शमन के द्वारा भौतिक कल्याण अर्थात् इहलौकिक सुख–सुविधाओं की प्राप्ति ही रहा है।

चूँकि जैनधर्म मूलतः निवृत्तिप्रधान धर्म है इसलिये प्रारम्भिक जैन–ग्रन्थों में नवग्रहों की पूजा–उपासना के कोई उल्लेख नहीं मिलते हैं। ग्रह–नक्षत्रों के प्रभाव के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम उल्लेख उपलब्ध हैं, वे सूर्य–प्रज्ञप्ति (ईसा पूर्व तीसरी–दूसरी शती) के हैं। उसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार के नक्षत्र में किस प्रकार की वस्तुओं का सेवन करने से कार्य सिद्ध होता है। फिर भी ये उल्लेख न तो निवृत्तिमार्गी एवं अहिंसाप्रधान जैन धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होते हैं और न उसमें इनका धर्म–कृत्य के रूप में उल्लेख है, यह मात्र लौकिक मान्यता का प्रस्तुतीकरण है। यद्यपि जैन–आगम साहित्य में चन्द्र, सूर्य आदि की देवों के रूप में स्वीकृति तो अवश्य है, किन्तु लौकिक मंगल के लिये उनकी पूजा–उपासना के कोई उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध नहीं होते हैं। यह सत्य है कि प्राचीन जैन–आगमों में न केवल निमित्तविद्या के उल्लेख उपलब्ध होते हैं अपितु यह भी निर्देश है कि केवल गृहस्थ ही नहीं, किन्तु कुछ मुनि एवं आचार्य भी निमित्तशास्त्र में पारंगत होते थे। यद्यपि निमित्त–शास्त्रों का सम्बन्ध ग्रह–नक्षत्रों से भी रहा है फिर भी निवृत्ति प्रधान प्रारम्भिक जैन धर्म में ग्रहों की उपासना के कोई निर्देश नहीं मिलते।

यह सुनिश्चित है कि जैन तान्त्रिक साधना के पूजा–अर्चा विधान में नवग्रहों की पूजा–उपासना की परम्परा लगभग आठवीं शती से वर्तमान काल

तक यथावत रूप में चली आ रही है। जैन प्रतिष्ठा विधानों में नवग्रहों की स्थापना और पूजा की इसके दोनों सम्प्रदायों में जीवत परम्परा है और उनका पूजा विधान भी लगभग हिन्दूपरम्परा के समानान्तर है। इससे यह फलित होता है कि जैन परम्परा में नवग्रहों की पूजा—अर्चा का प्रारम्भ ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से हुआ है दोनों परम्पराओं के नवग्रहों के नाम और उनके स्वरूप लक्षण भी प्रायः समान ही हैं। प्रारम्भ में तो जैन धर्म की निवृत्तिमार्गी अस्मिता को ध्यान में रखकर यह कहा गया कि पञ्चपरमेष्ठि के अमुक पद के जाप से अथवा अमुक तीर्थंकर की उपासना से अमुक ग्रह या नक्षत्र का प्रकोप शान्त होता है। इस सम्बन्ध में निम्न गाथा उपलब्ध होती है—

सरि—सुक्के अरिहंते, रवि—मंगल सिद्ध, गुरु—बुहा सूरि।

सरस उवज्झाय केउ कमेण साहू सणी—राहू ।।१४।।

इस प्रकार यह माना गया कि अरहंत की उपासना से चन्द्र और शुक्र का, सिद्ध की उपासना से सूर्य और मंगल का, आचार्य की उपासना से गुरु और बुध का, उपाध्याय की उपासना से केतु का और साधु की उपासना से शनि और राहु ग्रहों का प्रकोप शान्त हो जाता है।

इसी क्रम में आगे चलकर किस—किस ग्रह की शान्ति के लिये किस किस तीर्थंकर की उपासना की जानी चाहिए ऐसा विचार भी उत्पन्न हुआ और तदनुरूप यह माना गया कि सूर्य के लिये पद्मप्रभु की, चन्द्र के लिये चन्द्रप्रभु की, बुध के लिये वासुपूज्य की अथवा विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु, अर, नमि तथा वर्द्धमान जिन की उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकर गुरु के दोषों की शांति के लिये ऋषभ, अजित, सुपार्श्व, अभिनन्दन, शीतल, सुमति, संभव और श्रेयांस प्रभु की उपासना करनी चाहिए। शुक्र के लिये सुविधिनाथ और शनि के लिये मुनि सुव्रत की, राहु के लिये नेमिनाथ की और केतु के लिये मल्लि और पार्श्वनाथ की उपासना की जानी चाहिए। इस सन्दर्भ में निम्न ग्रहशान्तिस्तोत्र भी मिलता है—

नवग्रहशांति स्तोत्र

जगद्गुरुं नमस्कृत्य,श्रुत्वा सद्गुरुभाषितं।
ग्रहशांतिं प्रवक्ष्यामि, लोकानां सुखहेतवे।।

जिनेन्द्राः खेचरा ज्ञेया, पूजनीया विधिक्रमात्।
पुष्पैविलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यै स्तुष्टिहेतवे।।
पद्मप्रभस्य मार्तण्डश्चन्द्रश्चन्द्रप्रभस्य च।
वासुपूज्यस्य भूपुत्रो, बुधश्चाष्टजिनेशिनां।।
विमलानन्तधर्मस्य, शांतिकुन्थनमेस्तथा।
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य, पादपद्मं बुधो नमेत्।।
ऋषभाजितसुपार्श्वाः साभिनन्दनशीतलो।
सुमतिः सम्भवस्वामी, श्रेयांसेषु बृहस्पतिः।।
सुविधिः कथितः शुक्रे, सुव्रतश्च शनैश्चरे।
नेमिनाथो भवेद्राहोः, केतुः श्रीमल्लिपार्श्वयोः।।
जन्मलग्नं च राशिं च, यदि पीडयन्ति खेचराः।
तदा संपूजयेद् धीमान्–खेचरान् सह तान् जिनान्।।
भद्रबाहुगुरुर्वाग्मी, पंचमः श्रुतकेवली।
विद्याप्रसादतः पूर्वं ग्रहशांतिविधिः कृता।।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय, शुचिर्भूत्वा समाहितः।
विपत्तितो भवेच्छांतिः क्षेमं तस्य पदे पदे।।

योगिनियाँ

यद्यपि जैन देवमण्डल की चर्चा के प्रसंग में सीधे–सीधे कहीं भी योगिनियों का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु ब्राह्मण तान्त्रिक साधना में योगिनियों की साधना की जो परम्परा रही है, वहीं से आगे चलकर यह जैन परम्परा में प्रविष्ट हुई हैं। लगभग दसवीं ग्यारहवीं शती से ब्राह्मण परम्परा के समान ही जैन परम्परा में भी चौंसठ योगिनियों के उल्लेख मिलने लगते हैं। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि जैनाचार्य इन योगिनियों की साधना कर उन्हें अपने वश में कर लेते थे और उनसे धर्म–प्रभावना के निमित्त इच्छित कार्य करवाते थे। नेमिचन्द्रसूरिविरचित आख्यानकमणिकोश (११वीं शती) में उल्लेख है कि राजानन्द के रोग को दूर करने के लिए योगिनीपूजा की गई थी। निर्वाणकलिका में (११वीं–१२वीं शती) में तो योगिनीस्तोत्र भी मिलता हैं। श्वेताम्बर पट्टावलियों में भी अनेक जैन आचार्यों द्वारा योगिनियों को सिद्ध करने के उल्लेख हैं। खरतरगच्छ पट्टावली में आचार्य जिनदत्त सूरि द्वारा योगिनियों को सिद्ध करने के स्पष्ट उल्लेख हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि चाहे योगिनी

साधना का सम्बन्ध मूलतः ब्राह्मण परम्परा से रहा हो, किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा में भी स्वीकृति हो गई। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में सामान्यतया इन योगिनियों को आत्म साधना में बाधक या विघ्न उपस्थित करने वाली ही माना गया है, किन्तु सम्यक् दृष्टि क्षेत्रपाल (भैरव) के माध्यम से ही इन्हें वशीभूत किया जा सकता है और यही कारण है कि जैन परम्परा में क्षेत्रपाल (भैरव) उपासना और योगिनी–साधना साथ–साथ ही रही है। खरतरगच्छ पट्टावली के अनुसार जिनदत्तसूरि ने भैरव के माध्यम से ही इन ६४ योगिनियों की साधना की थी। भैरवपद्मावतीकल्प में निम्न योगिनी स्तोत्र मिलता है– जिसके आधार पर इन ६४ योगिनियों के नामों की भी जानकारी हो जाती है–

चतुःषष्टियोगिनीस्तोत्रम्

ऊँ ह्रीं दिव्ययोगी १ महायोगी २ सिद्धयोगी ३ गणेश्वरी ४।
प्रताशी ५ डाकिनी ६ काली ७ कालि (ल) रात्रि ८ निशाचरी ९ ।।१।।
हुंकारी १० सिद्धवैताली ११ ह्रींकारी १२ भूतडामरी १३।
ऊर्ध्वकेशी १४ विरूपाक्षी १५ शुक्लाङ्गी १६ नरभोजिनी १७ ।।२।।
षट्कारी १८ वीरभद्रा च १९ धूम्राक्षी २० कलहप्रिया २१।
राक्षसी २२ घोररक्ताक्षी २३ विश्वरूपा २४ भयंकरी २५ ।।३।।
वैरी २६ कुमारिका २७ चण्डी २८ वाराही २९ मुण्डधारिणी ३०।
भास्करी ३१ राष्ट्रटङ्कारी ३२ भीषणी ३३ त्रिपुरान्तका ३४ ।।४।।
रौरवी ३५ ध्वंसिनी ३६ क्रोधा ३७ दुर्मुखी ३८ प्रेतवाहिनी ३९।
खट्वाङ्गी ४० दीर्घलंबोष्ठी ४१ मालिनी ४२ मन्त्रयोगिनी ४३ ।।५।।
कालिनी ४४ त्राहिनी ४५ चक्री ४६ कंकाली ४७ भुवनेश्वरी ४८।
कटी ४९ निकटी ५० माया च ५१ वामदेवा कपर्दिनी ५२ ।।६।।
केशमर्दी च ५३ रक्ता च ५४ रामजंघा ५५ महषिणी ५६ ।
विशाली ५७ कार्मुकी ५८ लोला काकदृष्टिरधोमुखी ५९ ।।७।।
मडोयधारिणी ६० व्याघ्री ६१ भूतादिप्रेतनाशिनी ६२।
भैरवी च महामाया ६३ कपालिनी वृथाङ्गनी ६४ ।।८।।
चतुषष्टिः समाख्याता योगिन्यो वरदाः प्रदा। ।
त्रैलोक्ये पूजिता नित्यं देवमानवयोगिभिः ।।९।।
चतुर्दश्यां तथाष्टम्यां संक्रांतौ नवमीषु च ।

य: पठेत् पुरतो भूत्वा तस्य विघ्नं प्रणश्यति ।।१०।।
राजद्वारे तथोद्वेगे संग्रामे अरिसंकटे।
अग्नि चौरनिपातेषु सर्वग्रहविनाशिनि ।।११।।
य इमां जपते नित्यं शरीरे भयमागते।
स्मृत्वा नारायणी देवी सर्वोपद्रवनाशिनी ।।१२।।

प्रस्तुत स्तोत्र इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन साधना में योगिनियों की साधना का मुख्य प्रयोजन लौकिक जीवन में उपस्थित विघ्नों का उपशमन ही है।

अध्याय—३

पूजा विधान और धार्मिक अनुष्ठान

पूजाविधान, अनुष्ठान और कर्मकाण्डपरक साधनाएँ प्रत्येक तांत्रिक उपासना पद्धति के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्डपरक अनुष्ठान और पूजा विधान उसका शरीर है तो अध्यात्म साधना उसका प्राण है। भारतीय धर्मों में प्राचीनकाल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म कर्मकाण्डात्मक अधिक रहा है, वहाँ प्राचीन श्रमण परम्पराएँ आध्यात्मिक साधनात्मक अधिक रहीं हैं।

जैन परम्परा मूलतः श्रमण परम्परा का ही एक अंग है और इसलिए यह भी अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना प्रधान रही है। मात्र यही नहीं उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड का विरोध ही परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग ने यज्ञ,श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने उनका खुला विरोध किया और इस विरोध में उन्होंने इन सबको एक नया अर्थ प्रदान किया । भारतीय अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों में यज्ञ, स्नान आदि अति प्राचीनकाल से प्रचलित रहे हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (१२/४०—४४) में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि "जो पाँच संवरों से पूर्णतया सुसंवृत हैं अर्थात् इन्द्रियजयी हैं जो जीवन के प्रति अनासक्त हैं, जिन्हें शरीर के प्रति ममत्वभाव नहीं है, जो पवित्र हैं और जो विदेह भाव में रहते हैं, वे आत्मजयी महर्षि ही श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं। उनके लिए तप ही अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है। मन,वचन और काय की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है। यही यज्ञ संयम से युक्त होने के कारण शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञों की प्रशंसा की है"। स्नान के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसमें कहा गया है— धर्म ही ह्रद (तालाब) है, ब्रह्मचर्य तीर्थ (घाट) है और अनाकुल दशारूप आत्म प्रसन्नता ही जल है, जिसमें स्नान करने से साधक दोषरहित होकर विमल एवं विशुद्ध हो जाता है (उत्तराध्ययनसूत्र १२/४६)।

बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय के सुत्तनिपात में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन किया है। उसमें उन्होंने बताया है कि कौन सी अग्नियाँ त्याग करने योग्य हैं और कौन सी अग्नियाँ सत्कार करने योग्य हैं। वे कहते हैं कि "कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि त्याग करने योग्य हैं और आह्वानीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि अर्थात् माता–पिता की सेवा, पत्नी और सन्तान की सेवा तथा श्रमण–ब्राह्मणों की सेवा करने योग्य हैं। महाभारत के शान्तिपर्व और गीता (४/२६–३३) में भी यज्ञों के ऐसे ही आध्यात्मिक और सेवापरक अर्थ किये गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा ने प्रारम्भ में धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों का विरोध किया और अपने उपासकों तथा साधकों को ध्यान, तप आदि की अध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरित किया। साथ ही साधना के क्षेत्र में किसी देवी देवता की उपासना एवं उससे किसी प्रकार की सहायता या कृपा की अपेक्षा को अनुचित ही माना। जैन धर्म के प्राचीनतम ग्रंथों में हमें धार्मिक कर्मकाण्डों एवं विधि–विधानों के सम्बन्ध में केवल तप एवं ध्यान की विधियों के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पार्श्वनाथ ने तो तप के कर्मकाण्डात्मक स्वरूप का भी विरोध किया था। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नवॉ अध्ययन महावीर की जीवनचर्या के प्रसंग में उनकी ध्यान एवं तप साधना की पद्धति का उल्लेख करता है। इसके पश्चात् आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों में हमें मुनिजीवन से सम्बन्धित भिक्षा, आहार, निवास एवं विहार सम्बन्धी विधि–विधान मिलते हैं। उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय में तपस्या के विविध रूपों की चर्चा भी हमें उपलब्ध होती है। इसी प्रकार की तपस्याओं की विविध विधियों की चर्चा हमें अन्तकृतदशा में भी उपलब्ध होती है जो कि उत्तराध्ययनसूत्र के तप सम्बन्धी उल्लेखों की अपेक्षा परवर्ती एवं अनुष्ठानपरक है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अंतगडदसाओ (अंतकृतदशा) का वर्तमान स्वरूप ईसा की ५ वीं शताब्दी के पश्चात् का ही है। उसमे आठवें वर्ग में गुणरत्नसंवत्सरतप, रत्नावलीतप, लघुसिंहक्रीड़ातप, कनकावलीतप, मुक्तावलीतप, महासिंहनिष्क्रीडिततप, सर्वतोभद्रतप, भद्रोत्तरतप, महासर्वतोभद्रतप और आयम्बिलवर्धमानतप आदि के उल्लेख मिलते हैं। हरिभद्र ने तप पंचाशक में आगमानुकूल उपरोक्त तपों की चर्चा के साथ ही कुछ लौकिक व्रतों एवं तपों की भी चर्चा की है जो तांत्रिक साधनों के प्रभाव से जैनधर्म में विकसित हुए थे।

षडावश्यकों का विकास

जहाँ तक जैन श्रमण साधकों के नित्यप्रति के धार्मिक कृत्यों का सम्बन्ध है, हमें ध्यान एवं स्वाध्याय के ही उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन के अनुसार मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करें। इसी प्रकार रात्रि के चार प्रहरों में भी प्रथम में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करें। नित्य कर्म के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख 'प्रतिक्रमण' अर्थात्– अपने दुष्कर्मों की समालोचना और प्रायश्चित के मिलते हैं। पार्श्वनाथ और महावीर की धर्मदेशना का एक मुख्य अन्तर प्रतिक्रमण की अनिवार्यता रही है। महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण धर्म कहा गया है। महावीर के धर्मसंघ में सर्वप्रथम प्रतिक्रमण एक दैनिक अनुष्ठान बना। इसी से षडावश्यकों की अवधारणा का विकास हुआ। आज भी प्रतिक्रमण षडावश्यकों के साथ किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यकसूत्र एवं दिगम्बर और यापनीय परम्परा के मूलाचार (६/२२; ७/१५) में इन षडावश्यकों के उल्लेख हैं। ये षडावश्यक कर्म हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग (ध्यान) और प्रत्याख्यान। यद्यपि प्रारम्भ में इन षडावश्यकों का सम्बन्ध मुनि–जीवन से ही था किन्तु आगे चलकर उनको गृहस्थ उपासकों के लिए भी आवश्यक माना गया। आवश्यकनिर्युक्ति में वंदन (१२२०–२६), कायोत्सर्ग (१५६०–६१) आदि की विधि एवं दोषों की जो चर्चा है, उससे इतना अवश्य फलित होता है कि क्रमशः इन दैनन्दिन क्रियाओं को भी अनुष्ठानपरक बनाया गया था। आज भी एक रूढ़ क्रिया के रूप में ही षडावश्यकों को सम्पन्न किया जाता है।

जहाँ तक गृहस्थ उपासकों के धार्मिक कृत्यों या अनुष्ठानों का प्रश्न है हमें उनके सम्बन्ध में भी ध्यान एवं उपोषथ या प्रौषध विधि के ही प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उपासकदशांग में शकडालपुत्र एवं कुण्डकौलिक के द्वारा मध्याह्न में अशोकवन में शिलापट्ट पर बैठकर उत्तरीय वस्त्र एवं आभूषण उतारकर महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति की साधना अर्थात् सामायिक एवं ध्यान करने का उल्लेख है। बौद्ध त्रिपिटक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि निर्ग्रंथ श्रमण अपने उपासकों को ममत्वभाव का विसर्जनकर कुछ समय के लिए समभाव एवं ध्यान की साधना करवाते थे। इसी प्रकार भगवतीसूत्र में भोजनोपरान्त अथवा निराहार रहकर श्रावकों के द्वारा प्रौषध करने के उल्लेख मिलते हैं। त्रिपिटक में बौद्धों ने निर्ग्रंथों के उपोषथ की आलोचना भी की है। इससे यह बात पुष्ट होती है कि सामायिक, प्रतिक्रमण एवं प्रौषध की परम्परा महावीरकालीन तो है ही।

सूत्रकृतांग में महावीर की जो स्तुति उपलब्ध होती है, वह सम्भवतः जैन परम्परा में तीर्थंकरों के स्तवन का प्राचीनतम रूप है। उसके बाद कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र एवं राजप्रश्नीय में हमें वीरासन से शक्रस्तव (नमोत्थुण) का पाठ करने का उल्लेख प्राप्त होता है। दिगम्बर परम्परा में आज वंदन के अवसर पर जो 'नमोऽस्तु' कहने की परम्परा है वह इसी 'नमोत्थुणं' का संस्कृत रूप है। दुर्भाग्य से दिगम्बर परम्परा में यह प्राकृत का सम्पूर्ण पाठ सुरक्षित नहीं रह सका। चतुर्विंशतिस्तव का एक रूप आवश्यकसूत्र में उपलब्ध है इसे 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। यह पाठ कुछ परिवर्तन के साथ दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में भी उपलब्ध है। तीन आवर्तों के द्वारा 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीर्थंकर, गुरु एवं मुनि-वंदन की प्रक्रिया भी प्राचीनकाल में प्रचलित रही है। अनेक आगमों में तत्सम्बन्धी उल्लेख हैं। श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित 'तिखुत्तो' के पाठ का ही एक परिवर्तित रूप हमें षट्खण्डागम के कर्म अनुयोगद्वार के २८वें सूत्र में मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए दोनों पाठ विचारणीय हैं। गुरुवंदन के लिए 'खमासमना' के पाठ की प्रक्रिया उसकी अपेक्षा परवर्ती है। यद्यपि यह पाठ आवश्यक जैसे अपेक्षाकृत प्राचीन आगम में मिलता है फिर भी इसमें प्रयुक्त क्षमाश्रमण या क्षपकश्रमण (खमासमणो) शब्द के आधार पर इसे चौथी, पांचवीं शती के लगभग का माना जाता हैं। क्योंकि तब से जैनाचार्यों के लिए 'क्षमाश्रमण' पद का प्रयोग होने लगा था। गुरुवंदन पाठों से ही चैत्यों का निर्माण होने पर चैत्यवंदन का विकास हुआ और चैत्यवंदन की विधि को लेकर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये हैं।

जिनपूजा विधि का विकास

इसी स्तवन एवं वंदन की प्रक्रिया का विकसित रूप जिन पूजा में उपलब्ध होता है, जो कि जैन अनुष्ठान का महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत प्राचीन अंग है। वस्तुतः वैदिक यज्ञ-याग परक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी परम्पराओं में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजाविधि का विकास हुआ था और श्रमण परम्परा में तपस्या और ध्यान का। यक्षपूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। फिर इसी भक्तिमार्गीधारा का प्रभाव जैन और बौद्ध धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामतः सर्वप्रथम स्तूप, चैत्य-वृक्ष आदि के रूप में प्रतीक पूजा प्रारम्भ हुई फिर सिद्धायतन (जिनमन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन प्रतिमाओं की पूजा होने लगी। फलतः जिन पूजा एवं दान को गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य माना गया। दिगम्बर परम्परा में तो गृहस्थ के लिए प्राचीन

षडावश्यकों के स्थान पर निम्न षट् दैनिक कृत्यों की कल्पना की गयी— जिनपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान।

हमें आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि प्राचीन आगमों में जिनपूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अपेक्षाकृत परवर्ती आगमों—स्थानांग आदि में जिन प्रतिमा एवं जिनमन्दिर (सिद्धायतन) के उल्लेख तो हैं, किन्तु उनमें भी पूजा सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है। जबकि 'राजप्रश्नीय' में सूर्याभदेव और ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी के द्वारा जिनप्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीय के वे अंश जिसमें सूर्याभदेव के द्वारा जिनप्रतिमा—पूजन एवं जिन के समक्ष नृत्य, नाटक, गान आदि के जो उल्लेख हैं, वे ज्ञाताधर्मकथा से परवर्ती है और गुप्तकाल के पूर्व के नहीं हैं। चाहे 'राजप्रश्नीय' का प्रसेनजित्—सम्बन्धी कथा पुरानी हो, किन्तु सूर्याभदेव सम्बन्धी कथा प्रसंग में जिनमन्दिर के पूर्णतः विकसित स्थापत्य के जो संकेत हैं,वे उसे गुप्तकाल से पूर्व का सिद्ध नहीं करते हैं। फिर भी यह सत्य है कि जिन—पूजा—विधि का इससे विकसित एवं प्राचीन उल्लेख श्वे० परम्परा के आगम साहित्य में अन्यत्र नहीं है।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी रयणसार में दान और पूजा को गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना है, वे लिखते हैं—

दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्ख जइ धम्मे ण तं विणा सो वि।।

रयणसार ६०,

अर्थात् गृहस्थ के कर्तव्यों में दान और पूजा मुख्य और यति/श्रमण के कर्तव्यों में ध्यान और स्वाध्याय मुख्य हैं। इस प्रकार उसमें भी पूजा सम्बन्धी अनुष्ठानों को गृहस्थ के कर्त्तव्य के रूप में प्रधानता मिली। परिणामतः गृहस्थों के लिए अहिंसादि अणुव्रतों का पालन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया, जितना पूजा आदि के विधि—विधानों को सम्पन्न करना। प्रथम तो पूजा को कृतिकर्म (सेवा) का एक रूप माना गया, किन्तु आगे चलकर उसे अतिथिसंविभाग का अंग बना दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में भी जैन अनुष्ठानों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्द रचित 'दस भक्तियों' में एवं यापनीय परम्परा में मूलाचार के षडावश्यक अध्ययन में मिलता है। जैन शौरसेनी में रचित इन सभी भक्तियों के प्रणेता कुन्दकुन्द हैं— यह कहना कठिन है, फिर भी कुन्दकुन्द के नाम से उपलब्ध भक्तियों

में से पाँच पर प्रभाचन्द्र की 'क्रियाकलाप' नामक टीका है। अतः किसी सीमा तक इनमें से कुछ के कर्ता के रूप में कुन्दकुन्द (लगभग पांचवीं शती) को स्वीकार किया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत भाषा में रचित 'बारह भक्तियाँ' भी मिलती हैं। इन सब भक्तियों में मुख्यतः पंचपरमेष्ठि–तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य, मुनि एवं श्रुत आदि की स्तुतियाँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार नमोत्थुणं (शक्रस्तव), लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव), चैत्यवंदन आदि उपलब्ध हैं। उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी ये भक्तियाँ उपलब्ध हैं। इनके आधार पर ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में जिनप्रतिमाओं के सम्मुख केवल स्तवन आदि करने को परम्परा रही होगी। वैसे मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन पुरातत्त्वीय अवशेषों में कमल के द्वारा जिन प्रतिमा के अर्चन के प्रमाण मिलते हैं, इसकी पुष्टि 'राजप्रश्नीय' से भी होती है। यद्यपि भावपूजा के रूप में स्तवन की यह परम्परा–जो कि जैन अनुष्ठान विधि का सरलतम एवं प्राचीनरूप है, आज भी निर्विवाद रूप से चली आ रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ मुनियों के लिए तो केवल भावपूजा अर्थात् स्तवन का ही विधान करती हैं। द्रव्यपूजा का विधान तो मात्र गृहस्थों के लिए ही है। मथुरा के कुषाणकालीन जैन अंकनों में मुनि को स्तुति करते हुए एवं गृहस्थों को कमलपुष्प से पूजा करते हुए प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि पुष्प–जैसे सचित्त द्रव्य से पूजा करना जैन धर्म के सूक्ष्म अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिकूल कहा जा सकता है किन्तु दूसरी शती से यह प्रचलित रही– इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पांचवीं शती या उसके बाद के सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में इसके उल्लेख उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा आगे की गई है।

द्रव्यपूजा के सम्बन्ध में राजप्रश्नीय में वर्णित सूर्याभदेव द्वारा की जाने वाली पूजा–विधि आज भी (श्वेताम्बर परम्परा में) उसी रूप में प्रचलित है। उसमें प्रतिमा के प्रमार्जन, स्नान, अंगप्रोच्छन, गंध विलेपन, अथवा गंध माल्य, वस्त्र आदि के अर्पण के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीय में उल्लिखित पूजाविधि भी जैन परम्परा में एकदम विकसित नहीं हुई है। स्तवन से चैत्यवंदन और चैत्यवंदन से पुष्प आदि से द्रव्य अर्चा प्रारम्भ हुई। यह सम्भव है कि जिनमन्दिरों और जिनबिम्बों के निर्माण के साथ, ही हिन्दू परम्परा के प्रभाव से जैनों में भी द्रव्यपूजा प्रचलित हुई होगी। फिर क्रमशः पूजा की सामग्री में वृद्धि होती गई और अष्टद्रव्यों से पूजा होने लगी। डॉ० नेमिचन्द शास्त्री के शब्दों में– "पूजन सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है। आरम्भ में पूजन विधि केवल पुष्पों द्वारा सम्पन्न की जाती थी, फिर क्रमशः धूप, चंदन और नैवेद्य आदि पूजा द्रव्यों का विकास हुआ।" पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं जटासिंहनन्दि के वरांगचरित

से भी हमारे उक्त कथन का सम्यक समर्थन होता है।

यापनीय परम्परा के ग्रन्थ वरांगचरित (लगभग छठी–सातवीं शती) में नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गंध से भगवान् की पूजा करने का उल्लेख है (१५/१४१,२३/६१–७०)। ज्ञातव्य है कि इस ग्रन्थ में पूजा में वस्त्राभूषण समर्पित करने का उल्लेख भी है (२३/६७)।

इसी प्रकार दूसरे यापनीय ग्रन्थ पद्मपुराण में उल्लिखित है कि रावण स्नान कर धौतवस्त्र पहन, स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा। उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा सामग्री में धूप, चंदन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। देखें–

स्थापयित्वा धनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः
धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः।। –पद्मपुराण, १०/८६

अतः स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बरों की अपेक्षा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में जिनसेन ने पूजा सामग्री में चंदन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं है और न जल का पृथक् निर्देश ही है। अभिषेक में दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दधि एवं जल का निर्देश है, पर पूजन सामग्री में जल का कथन नहीं आया है। स्मरण रहे कि प्रक्षालन की प्रकिया का अग्रिम विकास अभिषेक है, जो अपेक्षाकृत परवर्ती है। पूजा के अष्टद्रव्यों का विकास भी शनैः–शनैः हुआ है, इस कथन की पुष्टि अमितगतिश्रावकाचार से भी होती है, क्योंकि इसमें गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और अक्षत इन छः द्रव्यों का ही उल्लेख उपलब्ध होता है।

वरांगचरित, पद्मपुराण, पद्मनन्दिकृत पंचविंशति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रंथों में इन पूजा द्रव्यों का फलादेश भी है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने से ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। इसीप्रकार भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्–पृथक् फलादेश बताया गया है।

डॉ० नेमिचन्दजी शास्त्री एवं मेरे द्वारा प्रस्तुत यह विवरण श्वेताम्बर–दिगम्बर परम्पराओं में पूजा द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है।

श्वेताम्बर परम्परा में पंचोपचारी पूजा से अष्टप्रकारी पूजा और उसी से सर्वोपचारी या सत्रहभेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारीपूजा का ही रूप है। बहुत कुछ रूप में इसका उल्लेख राजप्रश्नीय एवं वरांगचरित (२३/६१–८३) में उपलब्ध है।

राजप्रश्नीय में वर्णित पूजा विधान

राजप्रश्नीय सूत्र में सूर्याभदेव द्वारा की गई जिनपूजा का वर्णन इस प्रकार है– "सूर्याभदेव ने व्यवसाय सभा में रखे हुए पुस्तकरत्न को अपने हाथ में लिया, हाथ में लेकर उसे खोला, खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर धार्मिक क्रिया करने का निश्चय किया, निश्चय करके पुस्तकरत्न को वापस रखा, रखकर सिंहासन से उठा और नन्दा नामक पुष्करिणी पर आया। नन्दा पुष्करिणी में प्रविष्ट होकर उसने अपने हाथ–पैरों का प्रक्षालन किया तथा आचमन कर पूर्णरूप से स्वच्छ और शुचिभूत होकर स्वच्छ श्वेत जल से भरी हुई भृंगार (झारी) तथा उस पुष्करिणी में उत्पन्न शतपत्र एवं सहस्रपत्र कमलों को ग्रहण किया फिर वहाँ से चलकर जहाँ सिद्धायतन (जिनमंदिर) था, वहाँ आया। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछन्दक और जिनप्रतिमा थी वहाँ आकर जिनप्रतिमाओं को प्रणाम किया। प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली, प्रमार्जनी से जिनप्रतिमा को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुगन्धित जल से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके उन पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। गोशीर्ष चंदन का लेप करने के पश्चात् उन्हें सुवासित वस्त्रों से पोंछा, पोंछकर जिनप्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्पमाला, गंधचूर्ण एवं आभूषण चढ़ाये। तदनन्तर नीचे लटकती लम्बी–लम्बी गोल मालाएँ पहनायीं। मालाएँ पहनाकर पंचवर्ण के पुष्पों की वर्षा की। फिर जिनप्रतिमाओं के समक्ष विभिन्न चित्रांकन किये एवं श्वेत तन्दुलों से अष्टमंगल का आलेखन किया। उसके पश्चात् जिन प्रतिमाओं के समक्ष धूपक्षेप किया। धूपक्षेप करने के पश्चात् विशुद्ध, अपूर्व, अर्थसम्पन्न महिमाशाली १०८ छन्दों से भगवान की स्तुति की। स्तुति करके सात–आठ पैर पीछे हटा। पीछे हटकर बाँया घुटना ऊँचा किया तथा दायाँ घुटना जमीन पर झुकाकर तीन बार मस्तक पृथ्वीतल पर नमाया। फिर मस्तक ऊँचा कर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अँजलि करके 'नमोत्थुणं अरहन्ताणं.........ठाणं संपत्ताणं नामक शक्रस्तव का पाठ किया। इस प्रकार अर्हन्त और सिद्ध भगवान्

की स्तुति करके फिर जिनमंदिर के मध्य भाग में आया। उसे प्रमार्जित कर दिव्य जलधारा से सिंचित किया और गोशीर्ष चंदन का लेप किया तथा पुष्पसमूहों की वर्षा की। तत्पश्चात् उसी प्रकार उसने मयूरपिच्छि से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्यालों को प्रमार्जित किया तथा उनका प्रक्षालन कर उनको चंदन से अर्चित किया तथा धूपक्षेप करके पुष्प एवं आभूषण चढ़ाये। इसी प्रकार उसने मणिपीठिकाओं एवं उनकी जिनप्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की तथा महेन्द्र ध्वजा की पूजा–अर्चना की। इससे स्पष्ट है कि राजप्रश्नीय के काल में पूजा सम्बन्धी मन्त्रों के अतिरिक्त जिनपूजा की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया निर्मित हो चुकी थी। लगभग ऐसा ही विवरण वरांगचरित के २३वे सर्ग में भी है।

जैन एवं तान्त्रिक पूजा–विधानों की तुलना

इष्ट देवता की पूजा भक्तिमार्गीय एवं तांत्रिक साधना का भी आवश्यक अंग हैं। इन सम्प्रदायों में सामान्यतया पूजा के तीन रूप प्रचलित रहे हैं–

१. पञ्चोपचार पूजा, २. दशोपचार पूजा और ३. षोडशोपचार पूजा।

पञ्चोपचार पूजा में गंध पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये पांच वस्तुएं देवता को समर्पित की जाती हैं। दशोपचार पूजा में पादप्रक्षालन, अर्घ्यसमर्पण, आचमन, मधुपर्क, जल, गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसमर्पण इन दस प्रक्रियाओं द्वारा पूजा विधि सम्पन्न की जाती है। इसी प्रकार षोडशोपचार पूजा में १. आह्वान, २. आसन–प्रदान ३, स्वागत, ४. पाद–प्रक्षालन, ५. आचमन, ६. अर्घ्य, ७. मधुपर्क, ८. जल, ९. स्नान, १०, वस्त्र, ११. आभूषण, १२. गन्ध, १३. पुष्प, १४. धूप, १५ दीप और १६. नैवेद्य से पूजा की जाती है।

प्रकारान्तर से गायत्रीतंत्र में षोडशोपचार पूजा के निम्न अंग भी मिलते हैं–

१. आह्वान, २. आसनप्रदान, ३. पादप्रक्षालन, ४. अर्घ्यसमर्पण, ५. आचमन, ६. स्नान, ७. वस्त्रअर्पण, ८. लेपन, ९. यज्ञोपवीत, १०. पुष्प, ११. धूप, १२. दीप (आरती), १३. नैवेद्य–प्रसाद, १४. प्रदक्षिणा १५. मंत्रपुष्प और १६. शय्या।

षोडशोपचार पूजा की उक्त दोनों सूचियों में मात्र नाम और क्रम का आंशिक अन्तर है। इस पशोपचार, दञ्चोपचार और षोडशोपचार पूजा के स्थान पर जैनधर्म में अष्टप्रकारी और सत्रह भेदी पूजा प्रचलित रही है। पूजा विधान

के ये दोनों प्रकार पूजा के द्रव्यों की संख्या एवं पूजा के अंगों के आधार पर हैं। सिद्धान्ततः इनमें कोई भिन्नता नहीं है।

जैनों की सत्रहभेदी पूजा में निम्न विधि से पूजा सम्पन्न की जाती है–

१. स्नान, २. विलेपन, ३. वस्त्र युगल समर्पण ४. वासक्षेप समर्पण, ५. पुष्पसमर्पण, ६.पुष्पमालासमर्पण, ७. पंचवर्ण की अंगरचना (अंगविन्यास), ८. गन्ध समर्पण, ६. ध्वजा समर्पण, १०. आभूषण समर्पण, ११. पुष्पगृहरचना, १२. पुष्पवृष्टि १३. अष्ट मंगल रचना, १४. धूप समर्पण, १५. स्तुति, १६.नृत्य और १७. वांजित्र पूजा (वाद्य बजाना)।

यहां दोनों परम्पराओं के पूजा विधानों में जो बहुत अधिक समरूपता है, वह उनके पारस्परिक प्रभाव की सूचक है। इनमें भी पञ्च के स्थान पर अष्ट और षोडश के स्थान पर सत्रह उपचारों के उल्लेख यह बताते है कि जैनों ने हिन्दू परम्परा से ही इसे ग्रहण किया है।

इसी प्रकार जहां तक पूजा के अंगों का प्रश्न है, जैन परम्परा में भी हिन्दू तांत्रिक परम्पराओं के ही समान आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन की प्रक्रिया समान रूप से सम्पन्न की जाती है। इसमें देवता के नाम को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मन्त्र भी समान ही हैं। पूजाविधान की इन समरूपताओं का फलितार्थ यही है कि जैन परम्परा इन विधिविधानों के सम्बन्ध में हिन्दू परम्परा से प्रभावित हुई है।

'राजप्रश्नीय' के अतिरिक्त अष्टप्रकारी एवं सत्रह भेदी पूजा का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति एवं उमास्वाति के 'पूजाविधि प्रकरण' में भी उपलब्ध है। यद्यपि यह कृति उमास्वाति की ही है अथवा उनके नाम से अन्य किसी की रचना है, इसका निर्णय करना कठिन है। अधिकांश विचारक इसे अन्यकृत मानते हैं। इस पूजाविधिप्रकरण में यह बताया गया है कि पश्चिम दिशा में मुख करके दन्तधावन करे फिर पूर्वमुख हो स्नानकर श्वेत वस्त्र धारण करे और फिर पूर्वोत्तर मुख होकर जिनबिंब की पूजा करे। इस प्रकरण में अन्य दिशाओं और कोणों में स्थित होकर पूजा करने से क्या हानियाँ होती हैं, यह भी बतलाया गया है। पूजाविधि की चर्चा करते हुए यह भी बताया गया है कि प्रातः काल वासक्षेप–पूजा करनी चाहिए। इसमें पूजा में जिनबिंब के भाल, कंठ आदि नव स्थानों पर चंदन के तिलक करने का भी उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि मध्याह्नकाल में कुसुम से

तथा संध्या को धूप और दीप से पूजा की जानी चाहिए। इसमें पूजा के लिए कीट आदि से रहित पुष्पों के ग्रहण करने का उल्लेख है। साथ–साथ यह भी बताया गया है कि पूजा के लिए पुष्प के टुकड़े करना या उन्हें छेदना निषिद्ध है। इसमें गंध, धूप, अक्षत, दीप, जल, नैवेद्य, फल आदि अष्टद्रव्यों से पूजा का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रंथ भी श्वेताम्बर जैन परम्परा की पूजा–पद्धति का प्राचीनतम आधार कहा जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में जिनसेन के महापुराण में एवं यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में जिनप्रतिमा की पूजा के उल्लेख हैं।

इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैनपरम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या स्तुति का स्थान भी था। उसी से आगे चलकर भावपूजा और द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई। उसमें भी द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिए हुआ। तत्पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में जिनपूजा–सम्बन्धी जो जटिल विधिविधानों का विस्तार हुआ, वह सभी ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव था। फिर आगे चलकर जिनमंदिर के निर्माण एवं जिन बिंबों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विधि–विधान बने। पं० फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री ज्ञानपीठ पूजांजलि की भूमिका में और स्व० डॉ० नेमिचंदजी शास्त्री ने, अपने एक लेख पुष्पकर्म–देवपूजा: विकास एवं विधि, जो उनकी पुस्तक भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान (प्रथम खण्ड) पृ० ३७६ में प्रकाशित है, में इस बात को स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि जैन परंपरा में पूजा–द्रव्यों का क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि पुष्पपूजा प्राचीनकाल से प्रचलित है फिर भी यह जैनपरंपरा के आत्यन्तिक अहिंसा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो जैन पूजा विधान पाठ में ऐसे हैं, जिनमें मार्ग में होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो, यथा–

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादात्,
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकाय बाधा।
निदर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे।।

स्मरणीय है कि श्वे० परंपरा में चैत्यवंदन में भी 'इरियाविहि विराहनाये' नामक पाठ मिलता है– जिसका तात्पर्य भी चैत्यवंदन के लिए जाने में हुई एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी प्रायश्चित्त किया जाता है: तो दूसरी ओर उनपूजाविधानों

में, पृथ्वी, वायु, अप, अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का विधान है, यह एक आन्तरिक असंगति तो है ही। यद्यपि यह भी सत्य है कि चौथी–पाँचवीं शताब्दी से ही जैन ग्रंथों में इसका समर्थन देखा जाता है। सम्भवतः ईसा की छठी–सातवीं शती तक जैनधर्म में पूजा–प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें कर्मकाण्डों का मुनियों के लिए निषेध करना पड़ा। ज्ञातव्य है कि हरिभद्र ने सम्बोधप्रकरण के कुगरु अधिकार में चैत्यों में निवास, जिनप्रतिमा की द्रव्यपूजा, जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैनमुनि के लिए निषेध किया है। यद्यपि पंचाशक में उन्होंने इन पूजा–विधानों को गृहस्थ के लिए करणीय माना है।

जैनधर्म का अनुष्ठानपरक जैन साहित्य–

अनुष्ठान सम्बन्धी विधि–विधानों को लेकर जैन परंपरा के दोनों ही सम्प्रदायों में अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं। इनमें श्वेताम्बर परंपरा में उमास्वाति का 'पूजाविधिप्रकरण', पाद्लिप्तसूरि की 'निर्वाणकलिका' अपरनाम 'प्रतिष्ठा–विधान' एवं हरिभद्रसूरि का 'पंचाशकप्रकरण' प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। हरिभद्र के १९ पंचाशकों में श्रावकधर्म पंचाशक, दीक्षा पंचाशक, वंदन पंचाशक, पूजा पंचाशक (इसमें विस्तार से जिनपूजा का उल्लेख है), प्रत्याख्यान पंचाशक, स्तवन पंचाशक, जिनभवननिर्माण पंचाशक, जिनबिंबप्रतिष्ठा पंचाशक, जिनयात्रा विधान पंचाशक, श्रमणोपासकप्रतिमा पंचाशक, साधुधर्मपंचाशक, साधुसमाचारी पंचाशक, पिण्डविशुद्धि पंचाशक, शील–अंग पंचाशक, आलोचना पंचाशक, प्रायश्चित्त पंचाशक, दसकल्प पंचाशक, भिक्षुप्रतिमा पंचाशक, तप पंचाशक आदि हैं। प्रत्येक पंचाशक ५०–५० गाथाओं में अपने–अपने विषय का विवरण प्रस्तुत करता है। इस पर चन्द्रकुल के नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि का विवरण भी उपलब्ध है। जैन धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'अनुष्ठानविधि' है। यह धनेश्वर सूरि के शिष्य चन्द्रसूरि की रचना है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है तथा इसमें सम्यक्त्व आरोपणविधि, व्रत आरोपणविधि, षाण्मासिक सामायिक विधि, श्रावकप्रतिमा– वहनविधि, उपधानविधि, प्रकरणविधि, मालाविधि, तपविधि, आराधनाविधि, प्रव्रज्याविधि उपस्थापनाविधि, केशलोचविधि, पंचप्रतिक्रमणविधि, आचार्य उपाध्याय एवं महत्तरा पद–प्रदान विधि, पोषधविधि, ध्वजरोपणविधि, कलशरोपणविधि आदि के साथ आत्मरक्षा कवच एवं सकलीकरण जैसी तान्त्रिक क्रियाओं के निर्देश मिलते हैं। इस कृति के पश्चात् तिलकाचार्य की 'समाचारी'

नामक कृति भी लगभग इन्हीं विषयों का विवेचन करती है। जैन कर्मकाण्डों का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थों में सोमसुन्दरसूरि का 'समाचारी शतक', जिनप्रभसूरि (वि०सं० १३६३) की 'विधिमार्गप्रपा, वर्धमानसूरि का 'आचारदिनकर', हर्षभूषणगणि (वि०सं० १४८०) का 'श्राद्धविधिविनिश्चय' तथा समयसुन्दर का 'समाचारीशतक' भी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त प्रतिष्ठाकल्प के नाम से अनेक लेखकों की कृतियाँ हैं– जिनमें जैन परंपरा के अनुष्ठानों की चर्चा है। दिगम्बर परंपरा में धार्मिक क्रियाकाण्डों को लेकर वसुनन्दि का 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' (वि०सं० ११५०),आशाधर का 'जिनयज्ञकल्प' (सं० १२८५) एवं महाभिषेककल्प, सुमति–सागर का 'दसलाक्षणिकव्रतोद्यापन', सिंहनन्दी का 'व्रततिथिनिर्णय', जयसागर का 'रविव्रतोद्यापन', ब्रह्मजिनदास का 'जम्बूद्वीपपूजन', 'अनन्तव्रतपूजन', 'मेघमालोद्यापनपूजन' (१५वीं शती), विश्वसेन का षण्णवतिक्षेत्रपाल पूजन (१६वीं शती), विद्याभूषण के 'ऋषिमण्डलपूजन', बृहत्कलिकुण्डपूजन' और 'सिद्धचक्रपूजन' (१७वीं शती), बुधवीरु 'धर्मचक्रपूजन' एवं 'बृहद्धर्मचक्रपूजन' (१६वीं शती), सकलकीर्ति के 'पंचपरमेष्ठिपूजन', 'षोडशकारणपूजन' एवं 'गणधरवलयपूजन' (१६ वीं शती) श्रीभूषण का 'षोडशसागारव्रतोद्यापन', नागनन्दि का 'प्रतिष्ठाकल्प' आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं।

जैन पूजा–अनुष्ठानों पर तंत्र का प्रभाव

जैन अनुष्ठानों का उद्देश्य तो लौकिक उपलब्धियों एवं विघ्न–बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मि विकास ही है। जैन साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्वस्वरूप या जिनगुणों की उपलब्धि के लिए है। आचार्य समन्तभद्र स्पष्टरूप से कहते हैं कि हे नाथ! चूंकि आप वीतराग हैं, अतः आप अपनी पूजा या स्तुति से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं और आप विवान्तवैर हैं इसलिए निन्दा करने पर भी आप अप्रसन्न होने वाले नहीं हैं। आपकी स्तुति का मेरा उद्देश्य तो केवल अपने चित्तमल को दूर करना है–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरितान्जनेभ्यः।।

इसीप्रकार एक गुजराती जैन कवि कहता है–

अजकुलगतकेशरि लहेरे निजपद सिंह निहाल।
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे निज आतम संभार।।

जैन परम्परा का उद्घोष है– 'वन्दे तद्गुणलब्धये' अर्थात् वन्दन करने का उद्देश्य प्रभु के गुणों की उपलब्धि करना है। जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्त्वतः समान है, अतः वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है स्वस्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार जैन अनुष्ठान मूलतः आत्मविशुद्धि और स्वस्वरूप की उपलब्धि के लिए है। जैन अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है उनमे भी अधिकांशतः तो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्मा के लिए पतनकारी प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं। जिनपूजा के विविध प्रकारों में जिन पाठों का पठन किया जाता है या जो स्तोत्र आदि प्रस्तुत किये जाते हैं उनका मुख्य उद्देश्य आत्मविशुद्धि ही है। साधक आत्मा, आत्म–विशुद्धि में बाधक शक्तियों के निवर्तन के लिए ही धर्म–साधना करता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के शमन का साधन मानता है।

किन्तु जैसाकि हम पूर्व में बताचुके हैं मनुष्य की वासनात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि जैन परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका, उसमें विकृति आयी। जैनधर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य है, जो भौतिक जीवन में सुख–समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है। अतः जैन आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैनधर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिए जैनधर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें जो अपने उपासकों के भौतिक,कल्याण में सहायक हों। निवृत्तिप्रधान अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिए यह न्याय संगत तो नहीं था फिर भी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति विकसित हुई है।

यह हम पूर्व में कह चुके हैं कि जैनधर्म का तीर्थंकर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अतः जैन अनुष्ठानों में जिनपूजा के साथ यक्ष–यक्षियों के रूप में शासनदेवता तथा देवी की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि अपने उपास्य तीर्थंकर की अथवा अपनी उपासना से शासनदेवता (यक्ष–यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का सभी प्रकार से कल्याण करते हैं।

शासनरक्षक देवी–देवता के रूप में सरस्वती, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष, आदि यक्षों, नवग्रहों, अष्ट दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) के पूजा विधानों

को जैनपरम्परा में स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिए जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दू तांत्रिक परम्परा से ग्रहण कर लिया। भैरवपद्मावतीकल्प आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जैनपूजा और प्रतिष्ठा की विधि में तान्त्रिक परम्परा के अनेक ऐसे तत्त्व भी जुड़ गये जो जैन परम्परा के मूलभूत मन्तव्यों से भिन्न हैं। हम यह देखते हैं कि तन्त्र के प्रभाव से जैन परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा भैरव, भूमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि की उपासना प्रमुख और तीर्थंकरों की उपासना गौण होती गई। हमें अनेक ऐसे पुरातत्त्वीय साक्ष्य मिलते हैं जिनके अनुसार जिनमन्दिरों में इन देवियों की स्थापना होने लगी थी। जैन अनुष्ठानों का एक प्रमुख ग्रन्थ 'भैरवपद्मावतीकल्प' है, जो मुख्यतया वैयक्तिक जीवन की विघ्न–बाधाओं के उपशमन और भौतिक उपलब्धियों के लिए विविध अनुष्ठानों का प्रतिपादन करता है। इस ग्रन्थ में वर्णित अनुष्ठानों पर जैनेतर तन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है।

ईस्वी छठी शती से लेकर आज तक जैन परम्परा के अनेक आचार्य भी शासनदेवियों, क्षेत्रपालों और यक्षों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं और अपने अनुयायियों को भी ऐसे अनुष्ठानों के लिए प्रेरित करते रहे हैं। जैनधर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष जो हमारे सामने आया, वह मूलतः तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव ही है। जिनपूजा एवं अनुष्ठान विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय उसका आह्वान, स्थापन, विसर्जन आदि किया जाता है उसी प्रकार जैन परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं– यथा–

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवौषट् –आह्वानम्

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः –स्थापनम्

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भव भव वषट्–सन्निधायनम्

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ जः जः जः विसर्जनम्।

ये मन्त्र जैनदर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। क्योंकि जहाँ ब्राह्मण परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते हैं। वहाँ जैन परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थंकर या सिद्ध न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करने पर जाते ही हैं। पं० फूलचन्दजी ने 'ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि' नामक पुस्तक की भूमिका में विस्तार से इसकी समीक्षा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन संम्बन्धी जैन पूजा–मन्त्रों को ब्राह्मण मन्त्रों का अनुकरण माना है। तुलना कीजिए–

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर।।२।।
–विसर्जनपाठ।

इनके स्थान पर हिन्दूधर्म में ये श्लोक उपलब्ध होते हैं--

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वरम।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे।।२।।

इसी प्रकार अष्टद्रव्यपूजा एवं सत्रह भेदी पूजा में सचित्त द्रव्यों का उपयोग, प्रभु को वस्त्राभूषण, गंध, माल्य, आदि का समर्पण; यज्ञ का विधान, विनायकयन्त्र स्थापना, यज्ञोपवीतधारण आदि भी जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है। इधर जब तान्त्रिक साधना का प्रभाव बढ़ने लगा, तो उसमें भी इनपूजा विधियों का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इन विधि–विधानों को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, फलतः पूर्व प्रचलित आध्यात्मिक उपासना गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य स्थान प्राप्त हुआ। पूजा के समय सामायिक या ध्यान की मूलभावना में परिवर्तन हुआ। द्रव्यपूजा को अतिथिसंविभाग व्रत का अंग मान लिया गया। उसे गृहस्थ का एक अनिवार्य कर्तव्य बताया गया। यह भी हिन्दू परम्परा की अनुकृति ही थी। जहाँ यह माना जाता हो कि तीर्थंकरों ने दीक्षा के समय सचित्तद्रव्यों, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गंध, माल्य आदि का त्याग कर दिया था, मात्र यही नहीं जिस जैन परम्परा में एक वर्ग ऐसा भी हो जो तीर्थंकर के कवलाहार का भी निषेध करता हो, वही

परम्परा तीर्थंकर की पूजा में वस्त्र, आभूषण, गंध, माल्य, नवैद्य आदि अर्पित करे यह क्या सिद्धान्त की विडम्बना नहीं कही जायेगी? मंदिर एवं जिनबिम्ब प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण अनुष्ठान जैन परम्परा में ब्राह्मण परम्परा की देन हैं और उसकी मूलभूत प्रकृति के प्रतिकूल कहे जा सकते हैं। वस्तुतः किसी भी परम्परा के लिए अपनी सहवर्ती परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि जैन परम्परा की पूजा अनुष्ठान विधियों में हिन्दू तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव आया।

जैन परम्परा के विविध पूजाविधान

तन्त्र युग में जैन परम्परा के विविध अनुष्ठानों में गृहस्थ के नित्यकर्म के रूप में सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षडावश्यकों के स्थान पर जिनपूजा को प्रथम स्थान दिया गया। जैन परम्परा में स्थानकवासी, श्वेताम्बर-तेरापंथ तथा दिगम्बर तारणपंथ को छोड़कर शेष परम्पराएँ जिनप्रतिमा के पूजन को श्रावक का एक आवश्यक कर्त्तव्य मानती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में पूजा सम्बन्धी जो विविध अनुष्ठान प्रचलित हैं उनमें प्रमुख हैं— अष्टप्रकारीपूजा, स्नात्रपूजा या जन्मकल्याणकपूजा, पंचकल्याणकपूजा, लघुशान्तिस्नात्रपूजा, बृहद्शान्ति स्नात्रपूजा, नमिऊणपूजा, अर्हत्पूजा, सिद्धचक्रपूजा, नवपदपूजा, सत्रहभेदीपूजा, अष्टकर्म की पूजा, अन्तरायकर्म की पूजा, भक्तामरपूजा आदि। दिगम्बर परम्परा में प्रचलित पूजाअनुष्ठानों में अभिषेकपूजा, नित्यपूजा, देवशास्त्रगुरुपूजा, जिनचैत्यपूजा, सिद्धपूजा आदि प्रचलित हैं। इन सामान्य पूजाओं के अतिरिक्त पर्वदिनपूजा आदि विशिष्ट पूजाओं का भी उल्लेख हुआ है। पर्वपूजाओं में षोडशकारणपूजा, पंचमेरुपूजा, दशलक्षणपूजा, रत्नत्रयपूजा आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा की पूजा पद्धति में बीसपंथ और तेरापंथ में कुछ मतभेद है। जहाँ बीसपंथ पुष्प आदि सचित द्रव्यों से जिनपूजा को स्वीकार करता है वहाँ तेरापंथ सम्प्रदाय में उसका निषेध किया गया है। पुष्प के स्थान पर वे लोग रंगीन अक्षतों (तन्दुलों) का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार जहाँ बीसपंथ में बैठकर वहीं तेरापंथ में खड़े रहकर पूजा करने की परम्परा है।

यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में अष्टद्रव्यों से पूजा के उल्लेख मिलते हैं। यापनीय ग्रंथ वारांगचरित (त्रयोविंशसर्ग) में जिनपूजा सम्बन्धी जो उल्लेख हैं वे श्वेताम्बर परम्परा के राजप्रश्नीय के पूजा सम्बन्धी उल्लेखों से बहुत कुछ मिलते है।

जैनपूजा विधान की आध्यात्मिक प्रकृति

यह सत्य है कि जैन पूजा—विधान और धार्मिक अनुष्ठानों पर भक्तिमार्ग एवं तन्त्र साधना का व्यापक प्रभाव है और उनमें अनेक स्तरों पर समरूपताएँ भी हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि इन पूजा विधानों में भी जैनों की आध्यात्मिक जीवन शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, क्योंकि उनका प्रयोजन भिन्न है। यह उनमें बोले जाने वाले मंत्रों से स्पष्ट हो जाता है—

"ॐ ह्रीं परमपरमात्मने अनन्तानन्तज्ञानशक्त्ये **जन्मजरामृत्युनिवारणाय** श्रीमदजिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा।"

इसी प्रकार चन्दन आदि के समर्पण के समय जल के स्थान पर चन्दन आदि शब्द बोले जाते हैं, शेष मंत्र वहीं रहता है, किन्तु पूजा के प्रयोजनभेद से इसका स्वरूप बदलता भी है। जैसेः—

ॐ ह्रीं अर्हं परमात्मने अन्तरायकर्म समूलोच्छेदाय श्रीवीर जिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा।

ॐ ह्रीं अर्हं परमात्मने अनन्तान्तज्ञानशक्तये श्री **समकितव्रतदृढ करणाय / प्राणातिपातविरमणव्रतग्रहणाय** जलं यजामहे स्वाहा।

इसीप्रकार अष्टद्रव्यों के समर्पण में भी प्रयोजन की भिन्नता परिलक्षित होती हैः—

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **जन्मजरामृत्यु विनाशाय** जलं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **भवतापविनाशाय** चंदनं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **अक्षयपदप्राप्तये** अक्षतं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **कामबाणविध्वंसनाय** पुष्पं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **मोहांधकारविनाशाय** दीपं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **अष्टकर्मदहनाय** धूपं निर्वापमिति स्वाहा।

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय **मोक्षफल प्राप्तेये** फलं निर्वापमिति स्वाहा।

इन पूजा मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा से इन सभी पूजा में विधानों का अन्तिम प्रयोजन तो आध्यात्मिक विशुद्धि ही माना गया है। यह माना गया है कि जलपूजा आत्मविशुद्धि के लिए की जाती है। चन्दनपूजा का प्रयोजन कषायरुपी अग्नि को शान्त करना अथवा समभाव में अवस्थित होना

है। पुष्पपूजा का प्रयोजन अन्तःकरण में सद्भावों का जागरण है। धूपपूजा कर्मरूपी इन्धन को जलाने के लिये है, तो दीपपूजा का प्रयोजन ज्ञान के प्रकाश को प्रकट करना है। अक्षत पूजा का तात्पर्य अक्षतों के समान कर्म के आवरण से रहित अर्थात् निरावरण होकर अक्षय पद प्राप्त करना है। नैवेद्य पूजा का तात्पर्य चित्त में आकांक्षाओं और इच्छाओं की समाप्ति हैं। इसी प्रकार फल पूजा मोक्षरूपी फल की प्राप्ति के लिये की जाती है। इस प्रकार जैन पूजा की विधि में और हिन्दूभक्तिमार्गीय और तांत्रिक पूजा विधियों में बहुत कुछ समरूपता होते हुए भी उनके प्रयोजन भिन्न रूप में माने गये हैं। जहां समान्यतया हिन्दू एवं तांत्रिक पूजा विधियों का प्रयोजन इष्टदेवता को प्रसन्न कर उसकी कृपा से अपने लौकिक संकटों का निराकरण करना रहा है। वहां जैन पूजा–विधानों का प्रयोजन जन्म–मरण रूप संसार से विमुक्ति ही रहा। दूसरे, इनमें पूज्य से कृपा की कोई आकांक्षा भी नहीं होती है मात्र अपनी आत्मविशुद्धि की आकांक्षा की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि दैवीयकृपा (grace of God) का सिद्धान्त जैनों के कर्म सिद्धान्त के विरोध में जाता है।

जैन पूजा विधान और लौकिक एवं भौतिक मंगल की कामना

यहाँ भी ज्ञातव्य है कि तीर्थंकरों की पूजा–उपासना में तो यह आत्मविशुद्धि प्रधान जीवनदृष्टि कायम रही, किन्तु जिनशासन के रक्षक देवों की पूजा–उपासना में लौकिकमंगल और भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना किसी न किसी रूप में जैनों में भी आ गई। इस कथन की पुष्टि भैरवपद्मावती–कल्प में पद्मावतीस्तोत्र के निम्न मन्त्र से होती है–

विविधदुःखविनाशी दुष्टदारिद्रयपाशी
कलिमलभवक्षाली भव्यजीवकृपाली।
असुरमदनिवासी देवनागेन्द्रनारी
जिनमुनिपदसेव्यं ब्रह्मपुण्याब्धिपूज्यम् ।।११।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं मन्त्ररूपायै विश्वविघ्नहरणायै सकलजनहितकारिकायै
श्री पद्मावत्यै जयमालार्थं निर्वापामीति स्वाहा।
लक्ष्मीसौभाग्यकरा जगत्सुखकरा वन्ध्यापि पुत्रार्पिता
नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजने रक्षिका।
रङ्कानां धनदायिका सुफलदा वाञ्छार्थिचिन्तामणिः
त्रैलोक्याधिपतिर्भवार्णवत्राता पद्मावती पातु वः ।।१२।।
इत्याशीर्वादः
स्वस्तिकल्याणभद्रस्तु क्षेमकल्याणमस्तु वः।

यावच्चन्द्रदिवानाथौ तावत् पद्मावतीपूजा।।१३।।
ये जनाः पूजन्ति पूजां पद्मावती जिनान्विता।
ते जनाः सुखमायान्ति यावन्मेरुर्जिनालयः ।।१४।।

प्रस्तुत स्तोत्र में पद्मावती पूजन का प्रयोजन वैयक्तिक एवं लौकिक एषणाओं की पूर्ति तो है ही, इससे भी एक कदम आगे बढ़कर इसमें तन्त्र के मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की पूर्ति की आकांक्षा भी देवी से की गई है। प्रस्तुत पद्मावती स्तोत्र का निम्न अंश इसका स्पष्ट प्रमाण है--

ॐ नमो भगवति! त्रिभुवनवशंकारी सर्वाभरणभूषिते पद्मनयने! पद्मिनी पद्मप्रभे! पद्मकोशिनि! पद्मवासिनि! पद्महस्ते! ह्रीं ह्रीं कुरु कुरु मम हृदयकार्यं कुरु कुरु, मम सर्वशान्तिं कुरु कुरु, मम सर्वराज्यवश्यं कुरु कुरु, सर्वलोकवश्यं कुरु कुरु, मम सर्व स्त्रीवश्यं कुरु कुरु, मम सर्वभूतपिशाचप्रेतरोषं हर हर, सर्वरोगान् छिन्द छिन्द, सर्वविघ्नान् भिन्द भिन्द, सर्वविषं छिन्द छिन्द, सर्वकुरुमृगं छिन्द छिन्द, सर्वशाकिनी छिन्द छिन्द, श्रीपार्श्वजिनपदाम्भोजभृङ्गि नमोदत्ताय देवी नमः। ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रौँ ह्रः स्वाहा। सर्वजनराज्यस्त्रीपुरुषवश्यं सर्व २ ॐ आँ कौं ऐं क्लीं ह्रीं देवि! पद्मावति। त्रिपुरकामसाधिनी दुर्जनमतिविनाशिनी त्रैलोक्यक्षोभिनी श्रीपार्श्वनाथोपसर्गहारिणी क्लीं ब्लूं मम दुष्टान् हन हन, मम सर्वकार्याणि साधय साधय हुं फट् स्वाहा।

आँ क्रौँ ह्रीं क्लीं ह्सौँ पद्मे! देवि! मम सर्वजगद्वश्यं कुरु कुरु, सर्वविघ्नान् नाशय नाशय, पुरक्षोभं कुरु कुरु, ह्रीं संवौषट् स्वाहा।

ॐ आँ क्रौँ ह्रौँ द्राँ द्रीं क्लीँ ब्लूं सः ह्म्ल्व्र्यं पद्मावती-सर्वपुरजनान् क्षोभय क्षोभय, मम पादयोः पातय पातय, आकर्षणीं ह्रीं नमः।

ॐ ह्रीं क्रौँ अर्हं मम पापं फट् दह दह हन हन पच पच पाचय पाचय हं भ्मं भ्मां हं क्ष्वीं हंस भ्मं वंह्य यहः क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षं क्षः क्षिं ह्राँ ह्रीं हं हे हों हौं हः हिः हिं द्रां द्रिं द्रावय द्रावय नमोऽर्हते भगवते श्रीमते ठः ठः मम श्रीरस्तु, पुष्टिरस्तु, कल्याणमस्तु स्वाहा।।

ज्वालामालिनीस्तोत्र

इससे यह फलित होता है कि तान्त्रिक साधना के षट्कर्मों की सिद्धि के लिए भी जैन परम्परा में मंत्र, जप, पूजा आदि प्रारम्भ हो गये थे उपरोक्त पद्मावती स्तोत्र के अतिरिक्त भैरवपद्मावतीकल्प में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत निम्न ज्वालामालिनी मन्त्र स्तोत्र से भी इस कथन की पुष्टि होती है। यह स्तोत्र

निम्न है–

ॐ नमो भगवते श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय शशाङ्कशङखगोक्षीरहारधवल–गात्राय घातिकर्मनिर्मलोच्छेदनकराय जातिजरामरणविनाशनाय त्रैलोक्यवशङ्कराय सर्वासत्त्वहितङ्कराय सुरासुरेन्द्रमुकुट– कोटिघृष्टापादपीठाय संसारकान्ता–रोन्मूलनाय अचिन्त्यबलपराक्रमाय अप्रतिहतचक्राय त्रैलोक्यनाथाय देवाधिदेवाय धर्मचक्राधीश्वराय सर्वविद्यापरमेश्वराय कुविद्यानिधनाय,

तत्पादकङ्कजाश्रमनिषेविणि! देवि! शासनदेवते! त्रिभुवनसङ्क्षोभिणि! त्रैलोक्याशिवापहारकारिणि! स्थावरजङ्गमविषमविषसंहारकारिणि! सर्वाभिचारकर्माभ्यवहारिणि! परविद्याच्छेदिनि! परमन्त्रप्रणाशिनि! अष्टमहानागकुलोच्चाटनि! कालदुष्टमृतकोत्थापिनि! सर्वविघ्नविनाशिनि! सर्वरोगप्रमोचनि! ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रचन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रोत्पातमरणभयपीडासम्मर्दिनि! त्रैलोक्यमहिते!भव्यलोकहितङ्करि! विश्वलोकवशङ्करि! अत्र महाभैरवरूपधारिणि! महाभीमे! भीमरूपधारिणि! महारौद्रि! रौद्ररूपधारिणि! प्रसिद्धसिद्ध–विद्याधरयक्षराक्षसगरुडगन्धर्वकिन्नरकिंपुरुषदैत्योरगरुद्रेन्द्रपूजिते! ज्वालामालाकरालितदिगन्तराले! महामहिषवाहने! खेटककृपाणत्रिशूलहस्ते! शक्तिचक्रपाशशरासनविशिखपविराजमाने! षोडशार्द्धभुजे! एहि एहि ह्म्ल्व्र्यूं ज्वालामालिनि! ह्रीं क्लीं ब्लूँ फट् द्राँ द्रीं ह्राँ ह्रीं हूँ ह्रै ह्रौं ह्रः ह्रीं देवान् आकर्षय आकर्षय, सर्वदुष्टग्रहान् आकर्षय आकर्षय, नागग्रहान् आकर्षय आकर्षय, यक्षग्रहान् आकर्षय आकर्षय, राक्षसग्रहान् आकर्षय आकर्षय, गान्धर्वग्रहान् आकर्षय आकर्षय, गान्धार्थग्रहान् आकर्षय आकर्षय ब्रह्मग्रहान् आकर्षय आकर्षय, भूतग्रहान् आकर्षय आकर्षय, सर्वदुष्टान् आकर्षय आकर्षय, चोरचिन्ताग्रहान् आकर्षय आकर्षय, कटकट कम्पावय कम्पावय, शीर्षं चालय चालय, बाहुं चालय चालय, गात्रं चालय चालय, पाद्टं चालय चालय, सर्वाङ्गं चालय चालय, लोलय लोलय, धूनय धूनय, कम्पय कम्पय, शीघ्रमवतारं गृण्ह गृण्ह, ग्राहय ग्राहय, अचेलय अचेलय, आवेशय आवेशय झ्म्ल्व्र्यूं ज्वालामालिनि! ह्रीं क्लीं ब्लूँ द्राँ द्रीं ज्वल ज्वल र र र र र र रां प्रज्वल, प्रज्वल हूँ प्रज्वल प्रज्वल, धगधगधूमान्धकारिणि! ज्वल ज्वल, ज्वलितशिखे! देवग्रहान् दह दह, गन्धर्वग्रहान् दह दह, यक्षग्रहान् दह दह, भूतग्रहान् दह दह, ब्रह्मराक्षसग्रहान् दह दह, व्यन्तरग्रहान् दह दह, नागग्रहान् दह दह, सर्वदुष्टग्रहान् दह दह, शतकोटिदैवतान् दह दह, सहस्रकोटिपिशाचराजान् दह दह, घे घे स्फोटय स्फोटय, मारय मारय, दहनाक्षि! प्रलय प्रलय, धगधगितमुखे! ज्वालामालिनि! ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्वग्रहहृदयं दह दह, पच पच, छिन्द छिन्द, भिन्धि

भिन्धि हः हः हाः हाः हेः हेः हुं फट् फट् घे घे क्ष्म्ल्व्र्यूं क्ष्राँ क्ष्रीं क्ष्रूँ क्ष्रौं क्ष्रः स्तम्भय स्तम्भय, हा पूर्वं बन्धय बन्धय, दक्षिणं बन्धय बन्धय, पश्चिमं बन्धय बन्धय, उत्तरं बन्धय बन्धय, भ्म्ल्व्र्यूं भ्राँ भ्रीं भ्रूँ भ्रौं भ्रः ताडय ताडय, म्म्ल्व्र्यूं म्राँ म्रीं म्रूँ म्रौं म्रः नेत्रे यः स्फोटय स्फोटय, दर्शय दर्शय, ह्म्ल्व्र्यूं प्राँ प्रीं प्रूँ प्रौं प्रः प्रेषय प्रेषय, घ्म्ल्व्र्यूं घ्राँ घ्रीं घ्रूँ घ्रौं घ्रः जठरं भेदय भेदय, झ्म्ल्व्र्यूं झ्राँ झ्रीं झ्रूं झ्रों झ्रः मुष्टिबन्धेन बन्धय बन्धय, ख्म्ल्व्यू खाँ खीं खूँ खे खौं खः ग्रीवां भञ्जय भञ्जय, छ्म्ल्व्यूँ छ्राँ छ्रीं छ्रूँ छ्रौं छ्रः अन्तराणि छेदय छेदय, ठ्म्ल्व्यूँ द्रां द्रीं द्रूँ द्रौं द्रः महाविद्यापाषाणास्त्रैः हन हन, ब्ल्व्यूँ ब्राँ ब्रीं ब्रूँ ब्रौं ब्रः समुद्रे! जृम्भय जृम्भय, झौं झ्रः घ्रौं डौं घ्रः सर्वडाकिनीः मर्दय मर्दय, सर्वयोगिनीः तर्जय तर्जय, सर्वशत्रून् ग्रस ग्रस, खं खं खं खं खं खं खादय खादय, सर्वदैत्यान् विध्वंसय विध्वंसय सर्वमृत्यून् नाशय नाशय, सर्वोपद्रव महाभय स्तम्भय स्तम्भय, दह २ पच २ मथ २ ययः २ धम २ धरू २ खरू २ खड्गरावणसुविद्या घातय २ पातय २ सच्चन्द्रहासशस्त्रेण छेदय २ भेदय २ झरू २ छरू२ हरू २ फट् २ घेः हाँ हाँ आँ क्रौं क्ष्वीं ह्रीं क्लीं ब्लूँ द्रां द्रीं क्रौं क्षीं क्षीं क्षीं क्षीं ज्वालामालिनी आज्ञापयति स्वाहा ।।इति सर्वरोगहरस्तोत्रम्।।

(श्री भैरवपद्मावतीकल्प ज्वालामालिनीमन्त्रस्तोत्रम्, परिशिष्ट २५, पृष्ठ १०२–१०३)

इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा ने किन्हीं स्थितियों में हिन्दू तान्त्रिक परम्परा का अन्धानुकरण भी किया है और अपने पूजा विधान में ऐसे तत्त्वों को स्थान दिया है, जो उसकी आध्यात्मिक, निवृत्तिप्रधान और अहिंसक दृष्टि के प्रतिकूल हैं, फिर भी इतना अवश्य है कि इस प्रकार पूजा विधान तीर्थंकरों से सम्बन्धित न होकर प्रायः अन्य देवी देवताओं से ही सम्बन्धित है।

प्रस्तुत स्तोत्र की भी यही विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए उनसे आध्यात्मिक विकास की कामना की गई है। लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना अथवा मारण, मोहन, वशीकरण आदि की सिद्धि की कामना तो मात्र उनकी शासन देवी ज्वालामालिनी से की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती जैनाचार्यों ने भी तीर्थंकर–पूजा का प्रयोजन तो आत्मविशुद्धि ही माना है, किन्तु लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए यक्ष–यक्षी, नवग्रह, दिक्पाल एवं क्षेत्रपाल (भैरव) की पूजा सम्बन्धी विधान भी निर्मित किये हैं। यद्यपि ये सभी पूजाविधान हिन्दू परम्परा से प्रभावित हैं और उनके समरूप भी हैं।

पूजा विधानों के अतिरिक्त अन्य जैन अनुष्ठानों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषणपर्व, नवपदओली, बीस स्थानक की पूजा आदि सामूहिक रूप से मनाये जानेवाले जैन अनुष्ठान हैं। उपधान नामक तप अनुष्ठान भी श्वेताम्बर परम्परा में बहुप्रचलित है। आगमों के अध्ययन एवं आचार्य आदि पदों पर प्रतिष्ठित होने के लिए भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनसंघ में मुनियों को कुछ अनुष्ठान करने होते हैं जिनको सामान्यतया 'योगोद्वहन एवं सूरिमंत्र की साधना कहते हैं। विधिमार्गप्रपा में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, निशीथसूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगमों के अध्ययन सम्बन्धी अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

दिगम्बर परम्परा में प्रमुख अनुष्ठान या व्रत निम्न हैं– दशलक्षणव्रत, अष्टाह्निकाव्रत, द्वारावलोकनव्रत, जिनमुखावलोकनव्रत, जिनपूजाव्रत, गुरुभक्ति एवं शास्त्रभक्तिव्रत, तपांजलिव्रत, मुक्तावलीव्रत, कनकावलिव्रत, एकावलिव्रत, द्विकावलिव्रत, रत्नावलीव्रत, मुकुटसप्तमीव्रत, सिंहनिष्क्रीडितव्रत, निर्दोषसप्तमीव्रत, अनन्तव्रत, षोडशकारणव्रत, ज्ञानपच्चीसीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत, रोहिणीव्रत, अक्षयनिधिव्रत, पंचपरमेष्ठिव्रत, सर्वार्थसिद्धिव्रत, धर्मचक्रव्रत, नवनिधिव्रत, कर्मचूरव्रत, सुखसम्पत्तिव्रत, इष्टासिद्धिकारकनिःशल्य अष्टमीव्रत आदि। इनके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में पंचकल्याण बिम्बप्रतिष्ठा, वेदीप्रतिष्ठा एवं सिद्धचक्र विधान, इन्द्रध्वज विधान, समवसरण विधान, ढाई–द्वीप विधान, त्रिलोक विधान, बृहद्–चारित्रशुद्धि विधान, महामस्तकाभिषेक आदि ऐसे प्रमुख अनुष्ठान हैं जो कि बृहद् स्तर पर मनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मावती आदि देवियों एवं विभिन्न यक्षों, क्षेत्रपालों–भैरवों आदि के भी पूजा विधान जैन परम्परा में प्रचलित है। जिन पर तन्त्र परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है।

मन्दिरनिर्माण तथा जिनबिम्बप्रतिष्ठा के सम्बन्ध में जो भी अनेक जटिल विधि–विधानों की व्यवस्था जैनसंघ में आई है और इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठातिलक या प्रतिष्ठाकल्प आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई है वे सभी हिन्दू तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण जैन परम्परा में मृत और जीवित अनेक अनुष्ठानों पर किसी न किसी रूप में तन्त्र का प्रभाव है जिनका समग्र तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवरण तो किसी विशालकाय ग्रंथ में ही दिया जा सकता है।

अतः इस विवेचन को यही विराम देते हैं। आगे हम पूजा विधानों में विविध कलाओं के प्रवेश की एवं पूजा–अनुष्ठानों में प्रयुक्त मन्त्रों और यन्त्रों की चर्चा करेंगे।

अध्याय–४

जैनधार्मिक अनुष्ठानों में कला तत्त्व

अनेक कलाएँ धार्मिक जीवन के विधि–विधानों या अनुष्ठानों का अंग बन गयीं। वैष्णवों की भक्ति की अवधारणा के विकास ने जैनों को भी शुष्क तप एवं ध्यान के साधना मार्ग से मोड़कर भक्ति की धारा में जोड़ दिया और जैन परम्परा में भक्ति मार्ग का विकास ही धार्मिक जीवन में इन कृत्यात्मक कलाओं के उपयोग का आधार बना। सर्वप्रथम यह अवधारणा आयी कि देवगण तीर्थंकर के समक्ष भक्तिवशात् विभिन्न मंगलगान, नृत्य एवं नाटक प्रस्तुत करते हैं। हमें श्वेताम्बर आगम राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव द्वारा महावीर के समक्ष संगीत एवं नृत्य के साथ नाटक करने की कथा मिलती है। न केवल इतना अपितु वह गौतम आदि श्रमणों के सम्मुख इन्हें प्रस्तुत करने की अनुमति भगवान महावीर से माँगता है। महावीर मौन रहते हैं। उनके मौन को स्वीकृति का लक्षण मानकर वह इनका प्रदर्शन करता है। टीकाकारों ने महावीर के मौन का कारण श्रमणों के स्वाध्याय आदि में बाधा बताया है। वस्तुतः यह कथानक आगम में रखने और उसके सम्बध में महावीर का मौन दिखाने का उद्देश्य इन कलाओं की धार्मिक साधना के क्षेत्र में दबी जबान से स्वीकृति करना था।

जैनों के धार्मिक विधि–विधानों के रूप में स्तवन की स्वीकृति थी ही। इसी को भक्ति भावना के प्रदर्शन का आधार बनाकर पहले देवों के द्वारा इनके प्रदर्शन का अनुमोदन हुआ फिर गृहस्थों के द्वारा भी इनको किये जाने का अनुमोदन हुआ तथा गौतम आदि श्रमणों के माध्यम से यह बताया गया कि श्रमणों के लिए ऐसे नृत्य, संगीत के भक्ति कार्यक्रमों में उपस्थित रहना वर्जित नहीं है।

इस प्रकार तीर्थंकरों के प्रति भक्तिभाव के प्रदर्शन के रूप में नृत्य, संगीत और नाटक तीनों जैन अनुष्ठानों के साथ जुड़ गये। सर्वप्रथम स्तवन के रूप में सस्वर भक्ति–स्तोत्रों का गान प्रारम्भ हुआ और संगीत का सम्बन्ध जैन उपासना की पद्धति के साथ जुड़ा। जैन श्रमण एवं गृहस्थ उपासक भक्ति रस में डूबने लगे। फिर यह विचार स्वाभाविक रूप से सामने आया होगा कि जब देवगण नृत्य, संगीत और नाटक के द्वारा प्रभु की भक्ति कर सकते हैं तो कम से कम गृहस्थ उपासक को भी इस प्रकार से भक्ति करने का अवसर मिलना चाहिए। अतः जैन प्रतिमाओं के समक्ष न केवल वैराग्य प्रधान संगीत की स्वर

लहरियाँ गुंजित होने लगीं, अपितु नृत्य और नाटक भी उसके साथ जुड़ गये। हमें साहित्यिक और पुरातात्त्विक ऐसे अनेक साक्ष्य मिलते हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में ही नृत्य, संगीत और नाटक जैन धार्मिक विधि–विधानों के अंग बन चुके थे।

तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक के अवसर पर देवी–देवताओं के द्वारा संगीत, नृत्य और नाटक करने के उल्लेख कल्पसूत्र आदि प्राचीन ग्रंथों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। न केवल देवी–देवताओं के द्वारा, अपितु तीर्थंकर के पारिवारिक जन भी उनके जन्म आदि के अवसर पर नृत्य, संगीत आदि का आयोजन करते थे, ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यह प्रचलित लोक व्यवहार ही जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठान का अंग बन गया। जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि जैन धार्मिक अनुष्ठानों में जिन षडावश्यकों की प्रतिष्ठा है उनमें एक आवश्यक कृत्य स्तवन भी है। तीर्थंकरों की स्तुति को धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग मान ही लिया गया था अतः इस स्तुति के साथ ही संगीत को जैन साधना में स्थान मिल गया। भक्तिरस से परिपूर्ण स्तवन पूजा तथा प्रतिक्रमण में गाये जाने लगे। आज भी जैनधर्म की सभी परम्पराओं में विभिन्न धार्मिक विधि–विधानों के अवसर पर भक्ति गीतों के गाये जाने का प्रचलन है मुख्यरूप से भक्ति गीत जिनपूजा के अवसर पर तथा प्रातःकालीन एवं सायंकालीन प्रतिक्रमणों के पश्चात् गाये जाते हैं। अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों में जहाँ जिन प्रतिमा की पूजा–परम्परा नहीं है वहाँ भी प्रातःकालीन एवं सायंकालीन प्रतिक्रमणों के पश्चात् तथा प्रार्थना और सामायिक में भक्ति गीतों के गाने की परम्परा मिलती है। न केवल इतना ही हुआ अपितु जैन मुनियों के प्रवचन में भी संगीत का तत्त्व जुड़ गया। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान समय तक जैन आचार्यों ने अनेक काव्य एवं गीत लिखे हैं और ये काव्य एवं गीत अक्सर मुनियों के प्रवचनों में गेय रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं। आज भी प्रवचनों में विशेषरूप से अमूर्तिपूजक परम्परा के साधुओं के प्रवचन में ढाल, चौपाई आदि के रूप में गाकर प्रवचन देने की परम्परा उपलब्ध होती है। मूर्तिपूजक सम्प्रदायों में विविध प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हैं और ये सभी पूजाएँ गेय रूप में ही पढ़ी जाती हैं। इसी प्रकार जिनप्रतिमा की प्रातःकालीन एवं सायंकालीन आरती के अवसर पर भी भक्ति–गीतों के गाने की परम्परा है। इस प्रकार संगीत जैन धार्मिक अनुष्ठानों का एक आवश्यक अंग बन गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के जैन आचार्यों ने लगभग चौदहवीं शताब्दी में संगीत समयसार, संगीतोपनिषद्सारोद्धार आदि संगीत के

ग्रंथों की रचना भी की है।

जिनभक्ति के रूप में संगीत की स्वीकृति का आगमिक आधार राजप्रश्नीय सूत्र है। उसमें सूर्याभदेव के द्वारा भगवान महावीर एवं अन्य श्रमणों के सम्मुख विविध राग–रागिनियों एवं विविध वाद्यों के साथ संगीत एवं नाटक प्रस्तुत किये जाने के उल्लेख हैं। वस्तुतः राजप्रश्नीय का यह स्थल लाक्षणिक रूप से इस बात का संकेत करता है कि उसके रचनाकाल तक जैन मुनियों के लिए धार्मिक गीतों का गाना और सुनना वर्जित नहीं रह गया था। परिणामतः चैत्यवास के विकास के साथ जैन परम्परा में जैन मुनियों ने संगीत कला को प्रश्रय देना प्रारम्भ किया, जिसकी आलोचना सम्बोधप्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने की है। वैराग्य की साधना में संगीत का क्या स्थान होना चाहिए यह एक विवादास्पद प्रश्न है किन्तु इतना निश्चित है कि मनुष्य को तनावों से मुक्त करने और अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने में संगीत का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कृत्यसाध्य कलाओं में नृत्य और नाटक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतया नाटक लोकजीवन का एक अंग प्राचीनकाल से रहा है। अतः धार्मिक कृत्य के रूप में न सही किन्तु लोक व्यवहार के रूप में नाटक की परम्परा जैन धर्म के साथ प्राचीनकाल से जुड़ी हुई है। सर्वप्रथम तो तीर्थंकर के जन्मोत्सव आदि मांगलिक अवसरों पर देवी–देवताओं के द्वारा तथा सामान्य जनों के द्वारा नाटक किये जाने के उल्लेख श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य एवं दिगम्बर जैन पुराणसाहित्य में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः देवता तीर्थंकरों के सम्मुख नाटक करते हैं यह बात नाटक को धार्मिक जीवन का एक अंग बनाने की दृष्टि से ही प्रचलित हुई होगी क्योंकि इसी आधार पर कहा जा सकता है कि देवता जब तीर्थंकरों के सम्मुख नृत्य–नाटक आदि कर सकते हैं तो गृहस्थजनों को भी जिनप्रतिमा के सम्मुख नृत्य, नाटक आदि करके अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करना चाहिए। जैन परम्परा में धार्मिक जीवन के अंग के रूप में नृत्य एवं नाटक की परम्परा के मुख्य तीन उद्‌देश्य थे, १. तीर्थंकरों के प्रति अपनी भक्तिभावना का प्रदर्शन करना, २. ऐसे रुचिकर कार्यक्रमों के द्वारा लोगों को धार्मिक क्रियाकलापों में आकर्षित करना और ३–उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना। इस आधार पर जैन नाटकों का भक्ति और वैराग्य प्रधान रूप विकसित हुआ। हमें ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि इस प्रकार के नाटक पर्याप्त प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में मंचित भी किये जाते थे।

जैन पुराणों के आधार पर यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है कि तीर्थंकर अपने व्यावहारिक जीवन में नृत्य आदि देखते थे। यद्यपि पुराणों में तीर्थंकरों के द्वारा अपने गृहस्थ जीवन में नृत्य आदि में भाग लेने के उल्लेख मिलते हैं किन्तु इससे हम नृत्य एवं नाटक को धार्मिक साधना का एक अंग नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः नृत्य एवं नाटक जैनों के धार्मिक जीवन का अंग तभी बने जब जैनधर्म अपने निवृत्तिमूलक तपस्याप्रधान स्वरूप को छोड़कर भक्ति–प्रधान धर्म के रूप में विकसित हुआ। जैन कर्मकाण्डों के साथ नृत्य नाटक का सम्बन्ध 'जिन' के प्रति भक्तिभावना के प्रदर्शन के रूप में ही हुआ है। जिन प्रतिमाओं के सम्मुख नृत्य करने की यह परम्परा वर्तमान में भी जीवित है। विशेष रूप से पूजा और आरती के अवसरों पर भक्त–मण्डली के द्वारा जिनप्रतिमा के सम्मुख नृत्य का प्रदर्शन आज भी किया जाता है। आज भी जिनमन्दिर संगीत, नृत्य और नाट्यशाला के प्रदर्शन केन्द्र बने हुए हैं। यद्यपि जैन परम्परा में संगीत और नृत्य दोनों का उद्देश्य जिन के प्रति भक्तिभावना का प्रदर्शन ही है, मनोरंजन नहीं। इसी उद्देश्य को लेकर जैन कथानकों के आधार पर जैन आचार्यों ने मंचन योग्य अनेक नाटक लिखे हैं। आज भी विशिष्ट महोत्सवों एवं पंचकल्याणकों के अवसर पर जैन नाटकों का मंचन होता है। राजप्रश्नीय में संगीत कला, वादनकला, नृत्यकला और अभिनयकला का एक विकसित रूप हमें मिलता है जो किसी भी स्थिति में ईसा की छठी–सातवीं शती से परवर्ती नहीं है जिसकी संक्षिप्त झांकी नीचे प्रस्तुत है:–

"सूर्याभदेव ने हर्षित चित्त से महावीर को वन्दन कर निवेदन किया कि हे भदन्त! मैं आपकी भक्तिवश गौतम आदि निर्ग्रन्थों के सम्मुख इस दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देवद्युति एवं दिव्य देवप्रभाव तथा बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। सूर्याभदेव के इस निवेदन पर भगवान महावीर ने उसके कथन का न आदर ही किया और न उसकी अनुमोदना ही की अपितु मौन रहे। तब सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर से दो तीन बार पुनः इसी प्रकार निवेदन किया और ऐसा कहकर उसने भगवान महावीर की प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन–नमस्कार कर उत्तर–पूर्व दिशा में गया। वैक्रियसमुद्घात करके बहुरमणीय भूमिभाग की रचना की, जो समतल था एवं मणियों से सुशोभित था। उस सम तथा रमणीय भूमि के मध्यभाग में एक प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) की रचना की, जो सैकड़ों स्तम्भों पर सन्निविष्ट था। उस प्रेक्षागृह के अन्दर रमणीय भूभाग, चन्दोवा, रंगमंच तथा मणिपीठिका की रचना की और फिर उसने उस मणिपीठिका के ऊपर पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिंहासन की रचना की,

जिसका ऊर्ध्व भाग मुक्तादामों से सुशोभित हो रहा था। तब सूर्याभदेव ने भगवान महावीर को प्रणाम किया और कहा हे भागवन! मुझे आज्ञा दीजिए ऐसा कहकर तीर्थंकर की ओर मुख कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया। नाट्यविधि प्रारम्भ करने के लिए उसने श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त अपनी दाहिनी भुजा को लम्बवत् फैलाया, जिससे एक सौ आठ देवकुमार निकले। वे देवकुमार युवोचित गुणों से युक्त नृत्य के लिए तत्पर तथा स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित थे। तदनन्तर सूर्याभदेव ने विभिन्न आभूषणों से युक्त बायीं भुजा को लम्बवत् फैलाया। उस भुजा से एक सौ आठ देवकुमारियाँ निकलीं, जो अत्यन्त रूपवती, स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित तथा नृत्य के लिए तत्पर थीं। तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने एक सौ आठ शंखों और एक सौ आठ शंखवादकों की, एक सौ आठ श्रृंगों–रणसिंगों और उनके एक सौ आठ वादकों की, एक सौ आठ शंखिकाओं और उनके एक सौ आठ वादकों आदि उनसठ वाद्यों और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इसके बाद सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों को बुलाया। वे हर्षित हो उसके पास आये और वन्दनकर विनयपूर्वक निवेदन किया– हे देवानुप्रिय! हमें जो करना है उसकी आज्ञा दीजिए। तब सूर्याभदेव ने उनसे कहा–हे देवानुप्रियो। तुम सब भगवान महावीर के पास जाओं, उनकी प्रदक्षिणा करो, उन्हें वन्दन–नमस्कार करो और फिर गौतमादि निर्ग्रन्थों के समक्ष बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित करो तथा नाट्यविधि प्रदर्शन कर शीघ्र ही मेरी आज्ञा मुझे वापस करो। तदनन्तर सभी देवकुमारों एवं देवकुमारियों ने सूर्याभदेव की आज्ञा को स्वीकार किया और भगवान् महावीर के पास गये। भगवान महावीर को प्रणाम कर गौतमादि निर्ग्रन्थों के पास आये। वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ पंक्तिबद्ध हो एक साथ मिले, मिलकर सभी एक साथ झुके, फिर एक साथ ही अपने मस्तक को ऊपर कर सीधे खड़े हुए। इसी क्रम में तीन बार झुककर सीधे खड़े हुए और फिर एक साथ अलग–अलग फैल गये। यथायोग्य उपकरणों, वाद्यों को लेकर एक साथ बजाने लगे, गाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने गाने को पहले मन्द स्वर से फिर अपेक्षाकृत उच्च स्वर से और फिर उच्चतर स्वर से गाया। इस तरह उनका वह त्रिस्थान गान त्रिसमय रेचक से रचित था। गुंजारव से युक्त था। रागयुक्त था। त्रिस्थानकरण से शुद्ध था। गूँजती वंशी और वीणा के स्वरों से मिला हुआ था। करतल, ताल, लय आदि से मिला हुआ था। मधुर था। सरस था। सलिल तथा मनोहर था। मृदुल पादसंचारों से युक्त था। सुननेवालों को प्रीतिदायक था। शोभन समाप्ति से युक्त था। इस मधुर संगीत गान के साथ–साथ वादक अपने–अपने वाद्यों को भी बजा रहे थे। इस प्रकार वह दिव्य वादन एवं दिव्य नृत्य आश्चर्यकारी होने से अद्भुत तथा दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था। दर्शकों के कहकहों से नाट्यशाला को गुंजायमान कर रहा था।

तत्पश्चात् नृत्य–क्रीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और देवकुमारिकाओं ने भगवान महावीर एवं गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों आदि के समक्ष स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण इन आठ मंगलद्रव्यों का आकार रूप दिव्य नाट्याभिनय दिखलाया। तत्पश्चात् दूसरी नाट्यविधि प्रस्तुत करने के लिए वे एकत्रित हुए एवं उन्होंने भगवान महावीर एवं गौतम आदि निर्ग्रन्थों के समक्ष आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता और पद्मलता के आकार की नाट्यविधि दिखलायी। उसके पश्चात् उन सभी ने भगवान महावीर के समक्ष ईहामृग, वृषभ, तुरग–अश्व, नर–मानव, मगर, विहग–पक्षी, व्याल–सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृति रचना रूप दिव्य नाट्यविधि को प्रस्तुत किया। तदनन्तर उन्होंने एकतोवक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विघातश्चक्रवाल ऐसी चक्रार्ध–चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसी क्रम से उन्होंने चन्द्रावलि, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि की विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया। तत्पश्चात् उन्होंने चन्द्रमा और सूर्य के उदय होने की रचनावली उद्गमनोद्गमन नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। उसके पश्चात् चन्द्र–सूर्य आगमन नाट्यविधि अभिनीत की। तदनन्तर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर गगन मण्डल में होने वाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। उसके पश्चात् चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गन्धर्वमण्डल की रचना से युक्त दर्शक मण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसके पश्चात् वृषभमण्डल, सिंहमण्डल की ललित गति अश्व गति और गज की विलम्बित गति, अश्व और हस्ती की विलसित गति, मत्त अश्व और मत्त गज की विलसित गति आदि गति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बित प्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद सागर, नगर, प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि अभिनीत की। तत्पश्चात् नन्दा, चम्पा, प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् मत्स्याण्ड, माकराण्ड, जार, मार, प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। तदनन्तर उन्होंने 'क' अक्षर की आकृति की रचना करके ककार प्रविभक्ति इसी प्रकार ककार से लेकर पकार पर्यन्त पाँच वर्गों के २५ अक्षरों के आकार का अभिनय का प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् पल्लव प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की और इसके बाद उन्होंने नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता,

श्यामलता की सुरचना वाली लता प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रर्दशन किया। इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अंचित, रिभित, अंचितरिभित, आरभट, भसोल और आरभटभसोल नामक नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया। इन प्रदर्शनों के पश्चात् वे सभी एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा भगवान महावीर के पूर्व भवों से सम्बन्धित चरित्र से निबद्ध एवं वर्तमान जीवन सम्बन्धी च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्रनिबद्ध, जन्म चिरित्रनिबद्ध, जन्माभिषेक, बालक्रीड़ानिबद्ध, यौवन–चरित्रनिबद्ध, अभिनिष्क्रमण–चरित्रनिबद्ध, तपश्चरण–चरित्रनिबद्ध, ज्ञानोत्पाद–चरित्रनिबद्ध, तीर्थ–प्रवर्तन चरित्र से सम्बन्धित, परिनिर्वाण चरित्रनिबद्ध तथा चरम–चरित्रनिबद्ध नामक अन्तिम दिव्य नाट्य अभिनय का प्रदर्शन किया।"[२२]

धार्मिक नाटकों के मंचन और जिन प्रतिमा के समक्ष नृत्य करने की परस्पर आज भी जैनधर्म में जीवित पायी जाती है। विगत शताब्दी में श्रीपाल मैनासुन्दरी नाटक के मंचन के लिए एक पूरा समुदाय ही था, जो स्थान–स्थान पर जाकर इसे एवं अन्य भक्ति प्रधान नाटकों को मंचित करता था और उसी के सहारे अपनी जीवनवृत्ति चलाता था। आज भी जैनों के धार्मिक समारोहों के अवसर पर जैन परम्परा के कथानकों से सम्बद्ध नाटकों का मंचन किया जाता है। अतः संगीत, नृत्य एवं नाटक एक जीवित परम्परा के रूप में आज भी जैन विधि–विधानों के साथ जुड़े हुए हैं। यह स्पष्ट है कि जैन साधना में नृत्य, संगीत आदि जिन कला परक पक्षों का समाहार हुआ है, उसके कारण तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव है। यद्यपि इस माध्यम से जैनाचार्यों ने मनुष्य के वासनात्मक पक्ष का उदात्तीकरण ही किया है।

अध्याय–५

मंत्र साधना और जैनधर्म

तांत्रिक साधना में मंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तंत्र में गुरु से दीक्षित होकर उनके द्वारा प्रदत्त मंत्र की साधना से ही साधक की साधना का प्रारम्भ होता है, किन्तु जैन साधना में, मन्त्र के स्थान एवं महत्त्व के सन्दर्भ में विशेष चर्चा करने के पूर्व सर्वप्रथम 'मंत्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

मन्त्र का अर्थ

सामान्यतया 'मंत्र' शब्द का प्रयोग चिन्तन या विचार के लिए मिलता है। ऋग्वेद में 'समानो मंत्र' ऐसा एक सूत्र मिलता है। वहाँ इसका तात्पर्य यह है कि हमारा चिन्तन समान हो। मंत्र से ही निष्पन्न 'मंत्रणा' शब्द है जिसका तात्पर्य विचार–विमर्श करना है। एक अन्य अपेक्षा से जो मन को त्राण देता है अर्थात् मन को एकाग्र या शान्त करता है, उसे मंत्र कहा जाता है। धवला टीका में धरसेन के योनिप्राभृत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि मंत्र–तंत्रात्मक शक्तियाँ पुद्गल का एक विभाग हैं। (**"जोणिपाहुडे भणिदं मंत–तंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो"**) दूसरे शब्दों में जैन धर्म में मंत्र–तंत्र पौद्गलिक शक्तियाँ हैं।

यहाँ यह बात विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि जैन परम्परा में मंत्र को आध्यात्मिक शक्ति से समन्वित न मानकर पौद्गलिक शक्ति से समन्वित माना गया है। जबकि अन्य दार्शनिक परम्पराएँ उसे आध्यात्मिक शक्ति से समन्वित ही मानती हैं। जैनों के अनुसार मंत्र ध्वनि रूप होते हैं, क्योंकि समस्त मंत्रों की संरचना मातृकापदों अर्थात् मूलभूत स्वर व्यंजनों से ही होती है। ये स्वर, व्यंजन ध्वनिरूप होते हैं। चूंकि जैन दर्शन में ध्वनि एक पौद्गलिक संरचना है, अतः मंत्र भी पौद्गलिक है। वस्तुतः मंत्र के उच्चारण से जो ध्वनि तरंगें निःसरित होती हैं उनमें ही मंत्र की कार्य शक्ति निहित होती है। आधुनिक जैन विद्वानों तथा वैज्ञानिकों दोनों ने ही मंत्रों की ध्वनि–तरंगों की प्रभावशीलता के सन्दर्भ में अनेक लेख लिखे हैं। पुनः यह भी ज्ञातव्य है कि विचार या चिन्तन भी शब्द रूप होता है और शब्द ध्वनि रूप होते हैं। मंत्र–सिद्धि में वस्तुतः ध्वनि की कम्पन तरंगें ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। अतः जैन आचार्यों का यह मानना कि मंत्र पौद्गलिक हैं, युक्तिसंगत और वैज्ञानिक है। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि मंत्र चित्शक्ति को प्रभावित नहीं करता है। यदि मंत्रों

में चेतना को प्रभावित करने की शक्ति का अभाव हो तो उनकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जाती है। जैन दर्शन के अनुसार जिस प्रकार कर्म--वर्गणा के पुद्गल जड़ होकर भी चेतना को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार मंत्र मूलतः पौद्गलिक होकर भी चेतना को प्रभावित करते हैं। जैन दर्शन जड़ और चेतन की पारस्परिक प्रभावशीलता को किसी सीमा तक स्वीकार करता है।

जैन साधना में मन्त्र का स्थान

जहां तक मंत्र–साधना का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में सामान्य रूप से मुनि के लिए मंत्र साधना का निषेध किया गया है। रयणसार (१०६) में कहा गया है कि जो मुनि मंत्र, तंत्र, विद्या अथवा ज्योतिष से आजीविका चलाता है–वह श्रमणों के लिए दूषण रूप है। इसी प्रकार ज्ञानार्णव (४१५२–५५) में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ''वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन आदि की साधना करना; जल, अग्नि, विष आदि का स्तम्भन करना, रसकर्म या रसायन बनाना, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजाल अर्थात् जादू करना, सेना का स्तम्भन करना, जीत–हार का विधान बताना, विद्या के छेदने की अथवा उसकी सिद्धि की साधना करना ज्योतिष, वैद्यक एवं अन्य विद्याओं की साधना करना, यक्षिणीमंत्र, पाताल सिद्धि के विधान आदि का अभ्यास करना, कालवंचना अर्थात् मृत्यु को जीतने की मंत्र की साधना करना, पादुका साधना, अदृश्य होने तथा गड़े धन देखने के लिए अंजन की साधना, शस्त्रादि की साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन इत्यादि विक्रियारूप कार्यों में अनुरक्त होकर जो दुष्ट चेष्टा करने वाले हैं उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों को ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

वस्तुतः जैन धर्म में जिस मंत्र साधना का यह निषेध किया गया है, वह मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि षट् कर्मों से संबंधित है। मंत्र साधना से लौकिक एवं भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करना अथवा शक्ति प्राप्त कर चमत्कार दिखाना जैन धर्म में वर्जित है, किन्तु संघ की रक्षा, जिन शासन की प्रभावना और दुःखित एवं पीड़ित लोगों के कष्ट निवारण के लिए मांत्रिक साधना अथवा विद्या साधना का निषेध नहीं है। भगवतीआराधना में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि जिन मुनियों को चोर आदि से उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीड़ा हुई हो, दुष्ट राजा से कष्ट पहुँचा हो अथवा नदी की बाढ़ आदि के द्वारा रोक दिये गए हों अथवा रोगों से पीड़ित हों तो विद्या अथवा मंत्रों की सहायता से उनकी पीड़ा को नष्ट करना, यह उनकी वैयावृत्ति है। इससे यह स्पष्ट होता

है कि मुनि स्वयं तो अपने पर हुए उपसर्गों के निवारण हेतु अथवा अपनी पीड़ाओं के शमन के लिए मंत्र का उपयोग न करे लेकिन दूसरे व्यक्ति की सेवा की भावना से ऐसा कर सकता है। हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि जैन कथानकों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें जैन धर्म की प्रभावना, संघ रक्षा, आगम रक्षा अथवा आगमों के अध्ययन को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए जैन मुनियों द्वारा मंत्र साधना की जाती रही है। षट्खण्डागम की लेखन कथा में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि आचार्य धरसेन ने पुष्पदंत। भूतबली को आगमों का अध्ययन कराने के पूर्व हीनाक्षर और अधिकाक्षर मंत्र देकर यह कहा था कि इसके द्वारा विद्या की साधना करो। अनुश्रुति से यह माना जाता है कि अधिकाक्षर मंत्र की साधना से अधिक दाँत वाली देवी प्रकट हुई और हीनाक्षर मंत्र की साधना से कानी (एक चक्षु) वाली देवी प्रकट हुई और पुष्पदंत और भूतबली ने स्वबुद्धि से उन मंत्रों के हीनाक्षर और अधिकाक्षर सम्बन्धी दोषों को शुद्ध करके पुनः साधना की, फलतः उन्हें देवी सिद्ध हुई और उनका अध्ययन निर्विघ्न सम्पन्न हो ऐसा आर्शीवाद प्राप्त हुआ। मेरी दृष्टि में तो यहाँ हीनाक्षर और अधिकाक्षर मंत्र देकर धरसेन ने अपने शिष्यों में पाठ शुद्धि की क्षमता का आकलन करना चाहा होगा, क्योंकि जिस व्यक्ति में पाठशुद्धि की क्षमता न हो, उसको आगमों का अध्ययन कराना उचित नहीं है। पुनः इससे यह भी सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम के लेखन के पूर्व भी जैन परम्परा में मुनियों के द्वारा मंत्र एवं विद्याओं की साधना की जाती थी।

श्वेताम्बर साहित्य में तो ऐसे विपुल उदाहरण हैं जहाँ आचार्यों ने विद्या और मंत्रों की सहायता से संघ की रक्षा और जिन शासन की प्रभावना की थी। आज भी श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व वर्धमान विद्या और सूरिमंत्र की साधना करनी होती है। ज्ञातव्य है कि सामान्य मुनि केवल वर्धमान विद्या की साधना करता है, केवल आचार्य अथवा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये जाने वाला मुनि ही 'सूरिमंत्र' की साधना कर सकता है। चाहे मंत्र–तंत्र की साधना का प्राचीन जैनागमों में कितना ही निषेध रहा हो, किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में यह परम्परा वर्तमान काल में भी जीवित है। फिर भी इतना अवश्य है कि मंत्र–तंत्र की साधना और प्रयोग करने वाले मुनियों और आचार्यों को जन साधारण पर उनके व्यापक प्रभाव के बावजूद भी समाज में निम्न दृष्टि से ही देखा जाता है।

जैन मन्त्रों का ऐतिहासिक विकासक्रम

जैन परम्परा में जो मंत्र उपलब्ध होते हैं, उन्हें अपने ऐतिहासिक विकास

क्रम की दृष्टि से और जैन साधना पर अन्य तान्त्रिक परम्पराओं के प्रभाव की दृष्टि से तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है–

(१) प्रथम वर्ग में वे मंत्र आते हैं जो स्वरूपतः आध्यात्मिक हैं, जिनमें किसी भी लौकिक आकांक्षा की पूर्ति की कामना नहीं है और इनके उपास्य भी जैनों के अपने पूज्य पुरुष हैं। इस प्रकार के मंत्रों में मुख्यतः नमस्कार संबंधी मंत्र आते हैं यथा–**नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं, णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं, णमो केवलीणं, णमो उग्गतवस्सीणं, णमो दित्ततवस्सीणं, णमो पडिमा पडिवण्णाणं, णमो उग्गतवाणं, णमो चउदस्स पूर्व्वीणं, णमो दस पुव्वीणं, णमो इक्कारसंग धारीणं** आदि। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन मंत्रों में जिन्हें भी नमस्कार किया गया है, उनमें सिद्ध (मुक्तात्मा) को छोड़कर सभी साधना की विशिष्ट अवस्थाओं को प्राप्त मानवीय व्यक्तित्व हैं। इनमें कोई भी देव नहीं है।

(२) दूसरे वर्ग मे वे मंत्र आते हैं, जिनका मूलस्वरूप तान्त्रिक परम्परा से गृहीत है किन्तु जिन्हें जैन दृष्टिकोण के आधार पर विकसित किया गया है, इनकी साधना में किसी सीमा तक लौकिक मंगल और उस हेतु अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति की कामना निहित होती है। इन मंत्रों के देवता या तो पंचपरमेष्ठिन् एवं शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ आदि कुछ तीर्थंकर होते हैं अथवा फिर यक्ष–यक्षी आदि के रूप में वे देवता हैं जिन्हें जैनों ने अन्य तांत्रिक परम्पराओं से गृहीत कर अपने देवकुल का सदस्य बना लिया है। इस प्रकार के मंत्रों के उदाहरण निम्न हैं–

ॐ नमो अरिहो भगवओ अरिहंत–सिद्ध–आयरिय–उवज्झाय सव्वसंघ धम्मतित्थपवयणस्स।

ॐ नमो भगवइए सुयदेवयाए, संतिदेवयाए, सव्वदेवयाणं दसण्हं दिसापालाणं पञ्चण्हं लोकपालाणं ठः ठः स्वाहा।

–मंत्रराज रहस्यम् (सिंहतिलक सूरि), भारतीय विद्याभवन, बम्बई (१९८०) पृ० १२७

(३) तीसरे वर्ग में वे मंत्र आते हैं जो मूलतः तान्त्रिक परम्परा के हैं और जिन्हें जैनों ने केवल देवता आदि का नाम बदलकर अपना लिया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रथम दो वर्गों के मंत्र मूलतः प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं, यद्यपि दूसरे प्रकार के मन्त्रों की रचना–स्वरूप तान्त्रिक परम्परा से गृहीत होने के कारण

उन पर आंशिक रूप से संस्कृत का प्रभाव परिलक्षित होता है। जबकि ये तीसरे प्रकार के मंत्र संस्कृतनिष्ठ हैं और इनकी रचना शैली भी पूर्णतः तान्त्रिक परम्पराओं के अनुरूप है। वस्तुतः जैनों की वे तान्त्रिक साधनाएँ जो मुख्यतः व्यक्ति की भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के निमित्त की जाती हैं और जिनमें षट्कर्मों का जैन दृष्टि से आंशिक अनुमोदन है, इसी तीसरे वर्ग के मंत्रों से सम्पन्न की जाती हैं। इस प्रकार के मंत्रों के उदाहरण निम्न हैं–

(अ) ऊँ अर्हन्मुखकमलवासिनि! पापात्मक्षयङ्करि! श्रुतज्ञानज्वाला–सहस्रप्रज्वलिते मत्पापं हन हन दह दह क्षाँ क्षीं क्षुँ क्षौँ क्षः क्षीर धवले। अमृतसंभवे! वं वं हु हुं स्वाहा।

उपरोक्त मंत्र में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें उपास्य देवी से जो आकांक्षा है, वह मात्र अपने पापों के शमन की है। किन्तु इस वर्ग के अनेक मंत्र ऐसे भी हैं जिनमें भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति एवं शत्रु के विनाश की कामना भी की गई है। यथा–

(१) ॐ नमो भगवति! अम्बिके! अम्बालिके। यक्षिदेवी! यूं यौं ब्लैं हस्क्लीं ब्लूं हसौ र रं र रां रां नित्य क्लिन्ने मदनद्रवे मदनातुरे! ह्रीं क्रों अमुकां वश्याकृष्टिं कुरु कुरु संवौषट्।

–भैरवपद्मावतीकल्प (साराभाई नवाब, अहमदाबाद) गुजराती अनुवाद पृ०–२०.

(२) ....ॐ नमो भगवती! ह्रीं ह्रीं कुरु कुरु मम हृदयंकार्य कुरु कुरु मम सर्व स्त्री वश्यं कुरु कुरु मम सर्वभूतपिशाचप्रेतरोषं हर हर सर्वरोगान् छिन्द छिन्द......मम दुष्टान् हन हन मंम सर्व कार्याणि साधय साधय हुं फट् स्वाहा।

–अद्भुत पद्मावतीकल्प (भैरवपद्मावती कल्प के अन्तर्गत प्रकाशित) पृ०–३६.

इसी प्रकार ज्वालामालिनी मंत्रस्तोत्र आदि, जिनका विस्तृत विवरण हम अध्ययन तीन में दे चुके हैं, में भी छेदन, भेदन, बंधन, ताड़न, ग्रसन, नाशन, दहन आदि की आकांक्षाएँ परिलक्षित होती हैं जो मूलतः जैन जीवन–दृष्टि के विरुद्ध है। फिर भी इतना तो अवश्य मानना होगा कि अन्य तान्त्रिक साधनापद्धतियों के प्रभाव के परिणामस्वरूप जैन मंत्र साधना में भी ऐसी अनेक बातें प्रविष्ट हो गईं, जो सिद्धान्ततः जैन परम्परा को मान्य नहीं हो सकती हैं। पुनः जैन मंत्रों में इन सबकी उपस्थिति यह अवश्य सूचित करती है कि परवर्तीकाल में अर्थात् लगभग ग्यारहवीं–बारहवीं शती में जैन धर्म पर तंत्र–परम्परा का व्यापक

प्रभाव पड़ा है और जैन आचार्यों ने अनेक तान्त्रिक तंत्र–मंत्रों को बिना पूर्व समीक्षा के ही अपना लिया था।

नमस्कार मन्त्र

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जैन मंत्र साहित्य में प्राचीनतम मंत्र तो नमस्कार मंत्र (नमोक्कार मंत्र) ही है। वर्तमान में यह मंत्र पञ्चपदात्मक है, क्योंकि इसमें पञ्चपरमेष्ठिन् को नमस्कार किया जाता है। ज्ञातव्य है कि ये पाँच पद व्यक्तियों के सूचक न होकर मात्र पदों (Posts) के सूचक हैं, ये पाँच पद हैं– अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि (साधु)। यह मंत्र जैनों का गायत्री मंत्र कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक लौकिक कार्य एवं आध्यात्मिक साधना के प्रारम्भ में इसका उच्चारण किया जाता है। परम्परागत मान्यता तो यह है कि इसे समस्त पूर्व साहित्य का 'सार' कहा जाता है–

'चवदह पूरव केरो सार, सदा समरो मंत्र नवकार।' इस मंत्र की साधना से घटित अलौकिक चमत्कारों से सम्बन्धित अनेकानेक अनुभूतियाँ और कथाएँ जैन परम्परा में प्रचलित हैं। सामान्य जैन व्यक्ति को यह भी विश्वास है कि यह मंत्र अनादि–अनिधन है, किन्तु जैन विद्वानों ने इस मंत्र का एक ऐतिहासिक विकास क्रम स्वीकार किया है। उनके अनुसार सर्वप्रथम तो सिद्ध पद ही था क्योंकि आगम में ऐसा उल्लेख है कि तीर्थंकर/अर्हत भी दीक्षा, प्रवचन आदि के प्रारम्भ में सिद्धों को नमस्कार करते हैं **(सिद्धाणं णमो किच्चा.......)** बाद में इसमें अर्हन्तपद योजित हुआ। लगभग ई०पू० दूसरी शती तक **'नमो अरहन्ताणं, नमो सव्वसिद्धाण'** ये दो पद प्रचलित रहे होंगे क्योंकि खारवेल हत्थी गुम्फा (ई०पू० प्रथम शती) और मथुरा (ई० की प्रथम द्वितीय शती) के अभिलेखों में इन दो पदों का ही उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में इन दो पदों का प्रचलन रहा है। इसका एक प्रमाण यह है कि अंगविज्जा (ई० सन् प्रथम द्वितीय शती) में महानिम्ति विद्या एवं प्रतिहार विद्या सम्बन्धी जो मन्त्र दिये गये हैं उनमें भी णमो अरिहंताणं और णमो सव्वसिद्धाणं ऐसे दो पद ही हैं। ज्ञातव्य है कि प्रतिहार विद्या के, मन्त्र में तीसरा पद णमो सव्व साहूणं भी है। प्रतिरूप विद्या सम्बन्धी मंत्र में नमो अरिहंताणं ओर नमो सिद्धाणं ऐसे दो पद मिलते हैं। यहाँ सिद्ध पद के साथ सव्व (सर्व) विशेषण भी नहीं है जबकि उसी ग्रन्थ में भूतिकर्मविद्या और सिद्धविज्जा में पञ्चपदात्मक नमस्कार मन्त्र है। इससे फलित होता है कि पञ्चपदात्मक नमस्कार मंत्र लगभग ईसा की दूसरी शती के पूर्व अस्तित्व में था। इसमें **'एसो पञ्च नमोक्कारो'** आदि प्रशस्ति पद इसके पश्चात् जुड़े हैं। इनका सर्वप्रथम निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक निर्युक्ति (१०१८) और

यापनीय (दिगम्बर) परम्परा में मूलाचार (ज्ञानपीठ प्रकाशन....गाथा ५१४) में मिलता है। इससे फलित होता है कि लगभग दूसरी–तीसरी शती में इसमें शेष तीन पदों का समायोजन हो गया होगा क्योंकि भगवती, प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में इनका उल्लेख मिलता है। आगे चलकर सूरिमंत्र–गणधरवलय और वर्धमान विद्या आदि मंत्रों का विकास हुआ। षट्खण्डागम में भी सूरिमंत्र के अनेक पद उपलबध हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि लगभग पाँचवीं–छठी शती में सूरिमंत्र और कुछ विद्याओं की सिद्धि से सम्बन्धित मंत्र निर्मित हो चुके थे। ये सभी मंत्र नमस्कार प्रधान ही थे। इनमें आराध्य या उपास्य पञ्चपरमेष्ठिन् ही थे। सूरिमंत्र में भी अरहन्त, सिद्ध, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, तपस्वी उग्रतपस्वी, पूर्वधारी, एकादस–अंगधारी, श्रुतकेवली, प्रज्ञाश्रमण तथा शीतलेश्या, तेजोलेश्या आदि विविध लब्धियों (विशिष्ट शक्तियों) के धारकों को ही नमस्कार किया जाता है। अतः सूरिमंत्र / गणधरवलय भी नमस्कार मंत्र का ही विकसित रूप है।

यहाँ ध्यान देने योग्य एक तथ्य यह है कि एक ओर नमस्कार मंत्र में पदों का विस्तार करके मंत्र निर्मित हुए तो दूसरी ओर उसका संक्षिप्तीकरण करके भी कुछ जैन मंत्र निर्मित हुए। इस नमस्कार मंत्र के पाँच पदों के पाँच आद्याक्षरों के आधार पर 'नमो असिआउसाय' ऐसा एक मंत्र बनाया गया। साथ ही इन पाँच पदों में सिद्ध को अशरीरी और साधु को मुनि मानकर उनके प्रथमाक्षरों अ+अ+आ+उ+म् से ओउम् (ॐ) को निष्पन्न बताया गया। इस प्रकार जैनों के लिए प्रणव (ॐ) शब्द पञ्चपरमेष्ठिन् का वाचक बन गया। कालक्रम में प्रणव की स्वीकृति के साथ–साथ अन्य अनेक बीजाक्षर यथा– ऐं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं, क्रों, ब्लूं ब्लैं, ग्लौं, द्राँ, द्रीं, हुं, फट् आदि भी तान्त्रिक परम्परा से ग्रहण करके जैन मंत्रों के निर्माण में योजित किये गये। मात्र यही नहीं स्वाहा, वषट्, वौषट् आदि के साथ आह्वान, सन्निधिकरण, विसर्जन आदि की प्रकियाएँ भी जैन मंत्रों में जुड़ गईं। यह सब परिवर्तन जो जैन मंत्रों में आया वह तंत्र के प्रभाव का ही परिणाम था, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है। नमस्कार मंत्र जैसे शुद्ध आध्यात्मिक मंत्र पर तंत्र का कितना अधिक प्रभाव आया यह मानतुङ्ग की कही जाने वाली एक ३२ गाथाओं की लघुकृति से स्पष्ट हो जाता है। इस कृति में पाँच पदों के सम्बन्ध में उनके वर्ण, रस, ध्यान–स्थान आदि अनेक तथ्यों का निरूपण भी है। इसमें यह भी बताया है कि नमस्कार मंत्र के किस पद की जप–साधना से किस ग्रह का प्रकोप शांत होता है। अतः यह स्पष्ट है कि जैन तंत्र साधना में सर्व प्रथम नमस्कारमन्त्र को मंत्र के रूप में गृहीत किया गया, इसके निम्न मन्त्र रूप मिलते हैं–

नमस्कारमंत्र और उसका विकासक्रम

(अ) नमो अरहंताणं।

नमो सव्वसिद्धाणं

(ब) नमो अरहंताणं

नमो सव्वसिद्धाणं

नमो सव्वसाहूणं

(स) नमो अरहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं

(द) नमो अरहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पञ्च नमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।

नमस्कारमंत्र सम्बन्धी संक्षिप्त मन्त्र

ॐ

ॐ अर्हं

नमो असिआउसाय

नमोअर्हन्तसिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः।

श्री सिंहनन्दिविरचित–पञ्चनमस्कृतिदीपकान्तर्गत नमस्कारमन्त्र से सम्बन्धित मन्त्र

(१–३) केवलिविद्या

(१) 'ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं ह्रीं नमः ।।'

(२) 'ॐ णमो अरिहंताणं श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।।'

(३) 'श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः ।।'

(४–६) विविधपिशाचीविद्या

(१) 'ॐ णमो अरिहंताणं ॐ।' इति कर्णपिशाची।

(२) 'ॐ णमो आयरियाणं।' इति शकुनपिशाची।

(३) 'ॐ णमो सिद्धाणं।' इति सर्वकर्मपिशाची।

फलम्– 'इति भेदोऽङ्गपठनोद्युक्तमानसो (सश्च) मुनेः।
सिद्धान्तविषयिज्ञानं, जायते गणितादिषु।।

इस विद्या की साधना से गणित आदि सैद्धान्तिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(७) अङ्गन्यास

'ॐ णमो अरिहंताणं'– शिरोरक्षा। 'ॐ णमो सिद्धाणं'– मुखरक्षा।

'ॐ णमो आयरियाणं'– दक्षिणहस्तरक्षा। 'ॐ णमो उवज्झायाणं'– वामहस्तरक्षा।

'ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं' इति कवचम्।।

फलम्– 'एषः पञ्चनमस्कारः, सर्वपापक्षयङ्करः।
मङ्गलानां च सर्वेषां, प्रथमं मङ्गकलं मतः।।'

यह रक्षामन्त्र है। इससे साधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है।

(८) वज्रपञ्जरम

'ॐ' हृदि। 'ह्रीं' मुखे। 'णमो' नाभौ। 'अरि' वामे। 'हंता' वामे। 'णं' शिरसि।

'ॐ' दक्षिणे बाहौ। 'ह्रीं' वामे बाहौ। 'णमो' कवचम्। 'सिद्धाणं' अस्त्राय फट् स्वाहा।

यह भी रक्षामन्त्र है।

विपरीतकार्य में अङ्गन्यास और शोभनकार्य में वज्रपञ्जर का स्मरण करके आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

(९) अपराजिताविद्या

'ॐ णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,

णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रीं फट् स्वाहा।।'

फलम्– 'इत्येषोऽनादिसिद्धोऽयं, मन्त्रः स्याच्चित्तचित्रकृत्।

इत्येषा पञ्चाङ्गी विद्या, ध्याता कर्मक्षयं कुरुते।।'

इसकी साधना से कर्मक्षय होकर मोक्ष की प्रप्ति होती है।

(१०) परमेष्ठिबीजमन्त्र

'ॐ'। तत् कथमिति चेत्–

'अरिहंता असरीरा, आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।

पढमक्ख (र) णिप्पणो (ण्णो) ॐकारो पंचमरमेट्ठी।।'

'अकः सेदीः ( ) इति जैनेन्द्रसूत्रेण अ+अ इत्यस्य दीर्घः। आ+आ धुनरपि दीर्घः'। 'उ' तस्य पररूपगुणे कृते ओमिति जाते पुनरपि 'मोर्ध्वचन्द्रः' ( ) इति सूत्रेणानुस्वारे सति सिद्धपञ्चाङ्गमन्त्रं निष्पद्यते।

(११) षोडशाक्षरीविद्या

'अर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय–सर्वसाधुभ्यो नमः।।'

माहात्म्यम्– 'स्मर मन्त्रपदोद्भूतां, महाविद्यां जगन्नुताम्।।'

गुरुपञ्चकनामोत्थषोडशाक्षरराजिताम्।।'

फलम्– 'अस्याः शतद्वयं ध्यानी, जपन्नेकाग्रमानसः।

अनिच्छन्नप्यवाप्नोति, चतुर्थतपसः फलम्।।

इसके २०० बार जप करने से उपवास का फल मिलता है।

(१२) सप्तदशाक्षरीविद्या

'ॐ ह्रीं अर्हत्–सिद्धाचार्योपाध्याय–साधुभ्यो ह्रीं नमः।।

फलम्– 'अनया वागवादकत्वं, समाप्नोति च मानवः।।'

इसकी साधना से व्यक्ति वाग्मी होता हैं।

(१३) देवत्रयीविद्या

'ॐ ह्रीँ अर्हत्–सिद्ध–साधुभ्यो ह्रीँ नमः।।'

(१४) षडक्षरीविद्या

'ॐ ह्रीँ अर्हं नमः।'

फलम्– 'इति षडक्षरी विद्या, कथिता दीक्षितार्पणे।।''

यह षडक्षरी विद्या दीक्षित करते समय शिष्य को प्रदान की जाती है।

(१५) षड्वर्णसंभूताविद्या

'अरिहंत सिद्ध।' अथवा–'अरिहंत साहु।' अथवा–'जिनसिद्धसाहु।'

फलम्– 'विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम्।

जपन् चतुर्थमभ्येति, फलं ध्यानी शतत्रयम्।।'

इसके ३०० जप से उपवास का फल मिलता है।

(१६) चतुर्वर्णमयमन्त्र

'अरिहंत।' अथवा– 'जिनसिद्ध।' अथवा– 'अर्हत्सिद्ध।'

फलम्–'चतुर्वर्णमयं (यो) मन्त्रं (मन्त्रः), चतुर्वर्गफलप्रदम् (दः)।

चतुःशतीं जपन् योगी, चतुर्थस्य फलं भजेत्।।'

इसको ४०० बार जपने से उपवास का फल होता है। यह मन्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्ग का प्रदाता है

(१७) द्विवर्णमन्त्र

'सिद्ध।' अथवा–'जिन।' अथवा– 'अर्हं।'

(१८) एकाक्षरीमन्त्र– 'ॐ।'

फलम्– 'ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।

कामदं मोक्षदं चैव, प्रणवाय नमो नमः।।'

यह मन्त्र लौकिक सुख और मुक्तिप्रदाता है।

(१९) अकारध्यान और उसका फल

आदिमन्त्रार्हतो नाम्नोऽकारं पञ्चशतप्रमान्।

वारान् जपन् त्रिशुद्ध्या यः स चतुर्थफलं श्रयेत्।।'

इस मन्त्र का ५०० बार जप करने से उपवास का फल होता है।

(२०) पञ्चवर्णमयीविद्या

'ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः।' अथवा– 'अ सि आ उ सा।'

संपुटे तु– 'ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः अ सि आ उ सा नमः।' अथवा– 'ॐअसिआउसा नमः।' अथवा– 'ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः।' इति भेदः।

माहात्म्यम्– 'पञ्चवर्णमयीं विद्यां, पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम्।

मुनिवरैः श्रुतस्कन्धाद्, बीजबुद्ध्या समुद्धृताम्।।'

फलम्– 'बन्दिमोक्षे च प्रथमो, द्वितीयः शान्तये स्मृतः।

तृतीयो जनमोहार्थे, चतुर्थः कर्मनाशने।।

पञ्चमः कर्मषट्केषु, पञ्चैवं मुक्तिदाः स्मृताः।

तृतीयनियताभ्यासाद्, वशीकृतनिजाशयः।।

प्रोच्छिनत्त्याशु निःशङ्को, निगूढं जन्मबन्धनम्।'

इस विद्या के जप से बन्धन से मुक्ति होती है, शान्ति की प्राप्ति होती है, लोग सम्मोहित होते हैं, कर्म का नाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(२१) मुक्तिदाविद्या

'चत्तारि मंगलं। अरिहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगोत्तमा। अरिहंत (ता) लोगो (गु) त्तमा। सिद्ध (द्धा) लोगो (गु) त्तमा। साहु लोगो (गु) त्तमा। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगो (गु) त्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरिहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि। केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। –इति मुक्ति विद्या।

फलम्– 'मङ्गलशरणोत्तमनिकुरम्बं, यस्तु संयमी स्मरति।

अविकलमेकाग्रधिया, स चापवर्गश्रियं श्रयति।।'

इससे मोक्षरूपी फल की प्राप्ति होती है।

(२२) विश्वातिशायिनीविद्या

'ॐ अर्हत्सिद्धसयोगिकेवली स्वाहा।'

माहात्म्यम्– 'सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका।

त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना, विद्या विश्वातिशायिनी।।'

(२३) ऋषिमण्डलमन्त्रराजमंत्र

'ॐ ह्रॉं ह्रीं ह्रूँ ह्रें ह्रैं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा सम्यग्दर्शनज्ञान–चारित्रेभ्यो नमः।'

फलम्– 'यो भव्यमनुजो मन्त्रमिमं सप्तविंशतिवर्णयुतं ऋषिमण्डलमन्त्रराजं ध्यायति जपति सहस्राष्टकं (८०००) स वाञ्छितार्थमिहपरलोकसुखं सर्वाभीष्टं प्राप्नोति।'

इस मन्त्र के आठ हजार जप करने से सभी इष्ट कार्यों की सिद्धि होती है।

(२४) मूलत्रयीविद्या

'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः। अथवा नमो सिद्धाणं।'अथवा– 'ॐ नमः सिद्धं।' इति मूलत्रयीविद्या वश्यमोहनपुष्टिदा।।

यह विद्या मोहन और पुष्टिकारक है।

(२५) (ॐ) 'नमो अरिहंताणं' इस मन्त्र की ध्यानप्रक्रिया–

'स्मरेन्दुमण्डलाकारं, पुण्डरीकं मुखोदरे।

दलाष्टकसमासीनं, वर्णाष्टकविराजितम्।।

'ॐ नमो अरिहंताणं' इति वर्णानपि क्रमात्।
एकशः प्रतिपत्रं तु, तस्मिन्नेव निवेशयेत्।।'

अकारादि– 'स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां, केशरालीं ततः स्मरेत्।
कर्णिकां च सुधाबीजं, व्रजन्तु भुवि भूषिताम्।।'

(२६) 'ह्रीं' इस मन्त्र की ध्यानप्रक्रिया

'प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं, चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः।
समागच्छत्सुधाबीजं, मायावर्णं तु चिन्तयेत्।।
विस्फुरन्तमतिस्फीतं, प्रभामण्डलमध्यगम्।
संचरन्तं मुखाम्भोजे, तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि।
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु, चरन्तं वियति क्षणे।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं, स्रवन्तममृताम्बुभिः।।
व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण, स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे।
ज्योतिर्मयभिवाचिन्त्यप्रभावं चिन्तयेन्मुनिः।।'

उपर्युक्तमन्त्रद्वय का फल

'ॐ नमो अरिहंताणं' इमेऽष्टौ वर्णाः, 'ह्रीं' इमं महामन्त्रं स्मरन् योगी विषनाशं प्राप्नोति। जपन् सन् सर्वशास्त्रपारगो भवति। निरन्तराभ्यासात् षड्भिर्मासैर्मुखम–ध्याद् धूमवर्तिं पश्यति। ततः संवत्सरेण मुखान्महाज्वालां निःसरन्तीं पश्यति। ततः सर्वज्ञमुखं पश्यति। ततः सर्वज्ञं प्रत्यक्षं पश्यति।।'

उपर्युक्त मन्त्रद्वय के सिद्ध होने पर योगी में विषनाश करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके जप से वह सर्वशास्त्रों में पारंगत हो जाता है। एक वर्ष तक जप करने से सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष होता है।

'ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ' इति सप्तबीजमन्त्रं ध्यायन् सप्तर्द्धीः प्राप्नुते। यथा पुरा तथापि नो जाप्यमिदमधुना मूलमेकं वेदमध्यं (?) वेष्टनत्रिकसंयुतं तस्य नीचैर्माया त्रिः चेकारबिन्दुसंयुता नवाक्षरमिदं बीजमनाहतं समाज्ञातम्। एतस्य ध्यानेन सिद्धचक्रं मुक्तिस्थितमपि परं ब्रह्म त (य) दगम्यमवाच्यमचिन्त्यं तदपि ध्येयविषयं भवति। तदुक्तं जाप्यं यथारुचितो नानाविधमपि तदेव, सदृशत्वात्।

(२८) अङ्गन्यास

तत्सिद्ध्यर्थम्—अ सि आ उ सा। 'अ' वर्णे नाभिकमले, सि मस्तककमले, आ कण्ठकञ्जे, उ हृदये, सा मुखकमले। वा—अ नाभौ, सि शिरसि, आ कण्ठे, उ हृदये, सा मुखे।

(२९) ॐ कारादि की ध्यानप्रक्रिया

अत्र ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ॐकारः, ह्रींकारः, आकारः, अर्हं इत्यादिकमुक्तं तत् क्व स्मरणीयम्? तदेव (कथमपि)—

'नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे,

वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे,

तेष्वेकस्मिन् नियतविषये चित्तमालम्बनीयम्।।

(इति प्रथमेन प्रकारेण ध्यानविषयं गतम्।।)

(३०) ज्वरोत्तारणमन्त्र

'ॐ ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं' इत्यादि प्रतिलोमतः।

पञ्चभिस्तेज आद्यैश्च मायाग्रेसरपूर्वकैः।।

पटीग्रन्थिं परिजप्य, दत्त्वाच्छाद्य नरोपरि।

तेन ज्वरं चोत्तरति, नूतनवस्त्रे परं मतम्।।

इस विधि के द्वारा इस मन्त्र से ज्वर उतर जाता है।

(३१) पञ्चचत्वारिंशदक्षराविद्या

'ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं, ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं, ॐ ह्रीं नमो आयरियाणं, ॐ ह्रीं नमो उवज्झायाणं, ॐ ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं।'

एषा पञ्चचत्वारिंशदक्षरा विद्या। यथा न श्रूयते तथा स्मर्तव्या। दुष्टचौरादिसङ्कटमहापत्तिस्थाने शान्त्यै, जलवृष्टये चोपांशु भण्यते।

पञ्चनामादिपदानां पञ्चपरमेष्ठिमुद्रया जापे समस्तक्षुद्रोपद्रवनाशः कर्मक्षयश्च भवति।

इस विद्या से समस्त उपद्रव शांत हो जाते हैं तथा कर्म क्षय होते हैं।

(३२) देवगणी विद्या (गणिविद्या)

'ॐ अरिहंत–सिद्ध–आयरिय–उवज्झाय–सव्वसाहु–सव्वधम्मतित्थयराणं ॐ नमो भगवईए सुयदेवयाए संतिदेवयाणं सव्वपवयणदेवयाणं दसण्हं दिसापालाणं पञ्च (ण्ह) लोगपालाणं ॐ ह्रीं अरिहंतदेवं नमः।'

एषा विद्या देवगणीति सरस्वतीमन्दिरे जाप्यमष्टोत्तरशतम्। जप्ता सती सर्वेषु कार्येषु सर्वसिद्धिं जयं च ददाति।

इस विद्या का १०८ बार जप करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

(३३) तस्करभयहरमन्त्र

'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं, ॐ ह्रीं सिद्धदेवं नमः।'

अनेन सप्ताभिमन्त्रिते वस्त्रे ग्रन्थिर्बन्धनीया। पश्चाद् यत्र कुत्रापि महारण्ये तस्करभयं न भवति।

इस मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित करके वस्त्र में गांठ लगा देने पर अरण्य में चोर का भय नहीं रहता है।

(३४) व्यालादिविषनाशनमन्त्र

'ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रैँ ह्रौँ ह्रः णमो सिद्धाणं विषं निर्विषीभवतु फट्।'

इत्यनेन व्यालादिविषं नश्यति।

इससे व्याल आदि का विष नष्ट हो जाता है।

(३५) व्याल–वृश्चिक–मूषकादिदूरीकरण मन्त्र

'ॐ णं सिद्धा णमो दूरीभवन्तु नागाः।'

इत्यनेन व्याल–वृश्चिक–मूषकादयो दूरतो यान्ति।

इस मन्त्र से व्याल, वृश्चिक (बिच्छू) और चूहे दूर रहते हैं।

(३६) बन्दिविमोचनमन्त्र

'णं हू सा व्व स ए लो मो ण, णं या ज्झा व उ मो ण, णं या रि य आ मो ण, णं द्धा सि मो ण, णं ता हं रि अ मो ण।'

इति विपर्ययजपनाद् बन्दिमोक्षः। कार्यव्यतिरेकेण न जपनीयम्। कार्यव्यतिरेके कारणविशेषो बलवान् इति न्यायात्। कार्यं बन्दिमोक्षादिसाध्यं। कारणं प्रति कार्यस्य शान्तिकर्मादेर्मोचनादेर्व्यतिरेकोऽपि यथा स्यात् मोचकबन्धवद् वा द्वितीयो बन्धमोचकवत्।।

इस विपरीत क्रम में नमस्कार मंत्र के जप से कारागृह से मुक्ति मिलती है।

(३७) सर्वकर्मसमूहदायकमन्त्र

'ॐ नमो अरिहंताणं, ॐ नमो सिद्धाणं, ॐ नमो आयरियाणं, ॐ नमो उवज्झायाणं, ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रौँ ह्रः स्वाहा। सर्वकर्मसमूहं कलौ पञ्चमयुगेऽपि ददाति।

इससे सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

(३८) चतुःषष्टिऋद्धिजननमन्त्र

'ॐ णमो आयरियाणं ह्रीं स्वाहा।' इत्यनेन चतुःषष्टयऋद्धयः संभवन्ति।

(३६) कर्मक्षयार्थ मन्त्र

'ॐ णमो र्हँ (र्हँ) नमः।' इत्यनेन कर्मक्षयो भवति।

(४०) एकादशीविद्या

'ॐ अरिहंतसिद्धसाहू नमः।' इत्येकादशी विद्या।

(४१–४२) त्रयोदशाक्षरीविद्या

(१) 'ॐ अर्हं अरिहंतसिद्धसाहू नमः।' इति त्रयोदशाक्षरी विद्या।

(२) ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रेँ ह्रौँ ह्रः अ सि आ उ सा स्वाहा।' इत्यपि।

(४३) सर्वकामदा मन्त्र

(१) 'ॐ ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रैँ ह्र : अ सि आ उ सा नमः।'

(२) 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हँ अ सि आ उ सा नमः।'

(४४) बन्दिमोचनमन्त्र

'ॐ नमो अरिहंताणं ज्म्ल्व्र्यूँ नमः, ॐ नमो सिद्धाणं क्म्ल्व्र्यूँ नमः, ॐ नमो आयरियाणं स्म्ल्व्र्यूँ नमः, ॐ नमो उवज्झायाणं ह्म्ल्व्र्यूँ नमः, ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं घ्म्ल्व्र्यूँ नमः अमुकस्य बन्दिमोक्षं कुरु कुरु स्वाहा।'

पार्श्वनाथस्य प्रतिमां, संस्थाप्य पुरतस्ततः।

पट्टं प्रसार्य संलेख्यं, मन्त्रं पञ्चशतप्रमम्।।

नामसंपुटसंयुक्तं, बन्दिमोक्षकरं परम्।।'

पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित करके उसके समक्ष पट्ट बिछाकर इस मन्त्र को पाँच सौ बार लिखने पर बन्दीगृह से मुक्ति हो जाती है।

(४५) स्वप्नविद्या

'ॐ ह्रीं णमो अरिहंताणं स्वप्ने शुभाशुभं वद कू (कु) ष्माण्डिनी स्वाहा।' (स्वप्नविद्या)

'मन्त्रोऽयं शतसंजप्तो, वक्ति स्वप्ने शुभाशुभम्।

चार्कवारे श्वेतपुष्पैर्वर्णपुष्पफलाङ्कितैः।।'

इस मन्त्र का रविवार को श्वेत एवं विविध वर्ण के पुष्प तथा फलों से १०० बार जप करने से स्वप्न के शुभाशुभ का फल ज्ञात हो जाता है।

(४६) धर्मद्रोही उच्चाटनमन्त्र

''ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा सर्वदुष्टान् स्तम्भय स्तम्भय मोहय मोहय मु (मू) कवत् कारय कारय अन्धय अन्धय ह्रीं दुष्टान् ठः ठः।'

इदं मन्त्रं मुष्टिबद्धो, वैरिणं प्रति संजपन्।

धर्मद्रुहो नाशनं च, करोत्युच्चाटनं तथा।।

मुट्ठी बांधकर इस मन्त्र का शत्रु के प्रति जप करने पर यह मन्त्र, धर्मद्रोही का नाश करने वाला एवं उच्चाटन करने वाला होता है।

ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा प्रेतादिकान् नाशय नाशय ठः ठः।

इदं मन्त्रं द्व्येकविंशवारजप्तं करोति च।

भूत–प्रेतादिकवधं, संशयो न हि सांप्रतम्।।

बयालीस बार जपा गया यह मंत्र भूत–प्रेत बाधा का नाश करता है इसमें कोई संदेह नहीं है।

(४८) जाल मत्स्यानां निर्बन्धनमन्त्र

ॐ नमो अरिहंताणं' इत्यादिकृत्य 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं हुलु हुलु चुलु चुलु मुलु मुलु स्वाहा।'

२१ जाप्यतो दत्तं जाले मत्स्याः नायान्ति।।

इस मंत्र का २१ बार जप करने पर जाल में मछलियाँ नहीं आतीं।

(४९) त्रिभुवनस्वामिनीविद्या

'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रीं अ सि आ उ सा चुलु चुलु हुलु हुलु चुलु चुलु इच्छियं मे कुरु कुरु स्वाहा।

त्रिभुवनस्वामिनीविद्येयं चतुर्विंशतिसहस्रजापात् सर्वसंपत् (करी) स्यात्।

इस त्रिभुवन स्वामिनी विद्या को २४००० बार जपने से यह सर्वसम्पत्ति प्रदाता होती है।

(५०) वादजयार्थ मन्त्र

'ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा नमोऽर्हं वद वद वाग्वादिनी सत्यवादिनी वद वद मम वक्त्रे व्यक्तवाचा ह्रीं सत्यं ब्रूहि सत्यं ब्रूहि सत्यं वदास्खलितप्रचारं सदेव–मनुजासुरसदसि ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा नमः।

लक्षं जप्तमिदं मन्त्रं वादे संतनुते जयम्।

एक लाख बार जपा गया यह मंत्र वाद में विजय दिलाता है।

(५१) सर्वसिद्धिप्रदमहामन्त्र

'ॐ अ सि आ उ सा नमः।'

इदं मन्त्रं महामन्त्रं, सर्वसिद्धिप्रदं ध्रुवम्।।

यह महामंत्र निश्चय ही सर्वसिद्धि देने वाला है।

(५२) त्रिभुवनस्वामिनी विद्या

'ॐ अर्हते उत्पत उत्पत स्वाहा।' इति द्वितीया त्रिभुवनस्वामिनी विद्या।

यह द्वितीय त्रिभुवन स्वामिनी विद्या है।

(५३) वादजयकरीविद्या

'ॐ अग्गिय मग्गिय अरिहं जिण आइय पंचमायधरा।

दुट्ठाट्ठकम्मदद्धा (द्ध) सिद्धाण णमो अरिहणणेभ्यः।।'

इति वादे जयं करोति।

यह वाद में जय प्रदान करने वाला मंत्र है।

(५४) संघरक्षार्थ मन्त्र

''ॐ नमो अरिहंताणं धणु धणु महाधणु महाधणु स्वाहा।'

इदं मन्त्रं ललाटे च, ध्येयं सत् चोरनाशनम्।

करोति चैतदुक्तं वा, कम्पनैर्मुनिनायकैः।

संघस्य रक्षार्थमिदं, ध्येयं नान्यत्रहेतुके।।

यह मंत्र ललाट में धारण करने पर चोर का नाश करता है। मुनि यदि कम्पन करते हुए इस मंत्र को बोलते हैं तो संघ की रक्षा होती है। इसका ध्यान किसी अन्य हेतु नहीं करना चाहिए।

(५५) स्वप्नै शुभाशुभकथनमन्त्र

'ॐ ह्रीं अर्हं क्ष्वीं स्वाहा।'

चन्दनेन च तिलकं कृत्वा जापमष्टोत्तरशतं कृत्वा सुप्येत रात्रौ शुभाशुभं वक्ति।

चंदन से तिलक कर १०८ बार इस मंत्र का जप करने से यह रात्रि में शुभाशुभ का कथन करता है।

(५६) निर्विषीकरणमन्त्र

'ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा क्लीं नमः।' इत्यनेन निर्विषीकरणत्वम्।

(५७) पञ्चाक्षरीविद्या

'ॐ नमो जूं सः।'

इति पञ्चाक्षरीविद्या मन्त्रयन्त्रे करोति च।

भव्यस्य शुभकल्याणं त्वेवमेव मतं बुधैः।।

कर्णिकायां त्वेक (त) त्त्वं, तत्त्वतुर्ये चतुर्दिशि।

साष्टपत्रेषु सिद्धस्य, बीजं ज्ञेयं मुनीश्वरैः।।

तेजो–मायायुतं तत्त्वं, कामबीजेन संयुतम्।

हुतिप्रियामूलमन्त्रं, त्वेकमेव वशादिषु।।

वाऽन्यत्प्रकारमुक्तं च, कर्णिकायां च देवके–।

ति पदं साष्टपत्रेषु, णमोऽरिहंताणमेव च।।

भूपुरं वारिसुपुरं, यन्त्रकर्मारिनाशनम्।

कर्मचक्रमिदं ज्ञेयं, ध्यानचक्रं परं गतम्।।

जो इस पंचाक्षरी विद्या का पाठ करता है उसका कल्याण होता है।

कर्मचक्रम्	ध्यानचक्रम्
ॐ नमः	ॐ नमः

ॐ जूँ सः	ॐ जूँ सः
ॐ अर्हं	धारकस्य
	शुभं भवतु

(५८) तस्कर–अदर्शनमन्त्र

'ॐ णमो अरिहंताणं आभिणि मोहिणि मोहय मोहय स्वाहा।'

मार्गे गच्छद्भिरियं विद्या स्मरणीया, तस्करदर्शनमपि न भवति।

इस विद्या का स्मरण कर मार्ग में जाने पर तस्करों का दर्शन नहीं होता।

(५९) वशीकरणमन्त्रः दुष्टव्यन्तरादिशान्तिश्च

'ॐ णमो अरिहंताणं अरे अरिणे अमुकं मोहय मोहय स्वाहा।'

खटिकया श्रीखण्डेन वा इदं यन्त्रं लिखित्वाऽमुना मन्त्रेण श्वेतपुष्पैः श्वेताक्षतैर्वा जपेत्। यमाश्रित्य जपः क्रियते स वशीभवति। एतद्–यन्त्रमध्ये चात्मानमात्मना दीयते। ततः संध्यायेत्। पूर्वाशाभिमुखं पूर्वे पूर्वदलादारभ्याष्टाक्षरं मन्त्रं जपेत् ११००। ततः आग्नेयदलादारभ्यामुमेव मन्त्रं जपेत् ११००। एवमन्यदलेष्वपि यावदीशानदलम्। एवमष्टरात्रं जपे कृते दुष्टव्यन्तरादिसर्वप्रत्यूहशान्तिः।

इस मन्त्र का उपरोक्त विधिपूर्वक ११०० बार आठ रात्रियों में जप करने पर भूतप्रेत बाधा दूर होती है।

(६०) धर्मद्रोही व्यन्तरस्योच्चाटनमन्त्र

'ॐ णमो आयरियाणं आइरियाणं फट्।' इत्यनेन धर्मद्रुहो व्यन्तरस्योच्चाटनम्।

इस मंत्र से धर्मद्रोही व्यन्तरों का उच्चाटन होता है।

(६१) वादजयार्थकमन्त्र

'ॐ हं सः ॐ ह्रीं अर्हं ऐं श्रीं असिआउसा नमः।'

एतन्मन्त्रं विवादविषये जयं करोति।

इस मंत्र के जप से वाद–विवाद में विजय प्राप्त होती है।

(६२) दाहशान्तिमन्त्र

'ॐ नमो ॐ अर्हं अ सि आ उ सा नमो अरहंताणं नमः।'

हृदयकमले १०८ जपादुपवासफलम्। एतेन जलेन पानीयं मन्त्रितं कृत्वाऽग्नेर्वा दावानलस्याग्रे रेखां दद्याद् दाहशान्तिर्भवति।।

इस मंत्र से अभिमंत्रित जल का पान करके अग्नि अथवा दावानल के आगे एक रेखा खींचने से दाह शान्त हो जाता है।

(६३) सर्वत्रजयार्थकमन्त्र

'ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा अनाहतविज्जा (द्या) यै अर्हं नमः।'

प्रतिदिन त्रिकालमष्टोत्तर (शत) जपः, सर्वत्र जयो भवति।

इस मंत्र की १०८ आवृत्ति करने से सर्वत्र विजय प्राप्त होती है।

(६४) सर्पभयनाशनमन्त्र

'ॐ नमो सिद्धाणं पंचेणं पंचेणं।' एतेन दीपरात्रिदिने गुणिते यावज्जीवं सर्पभयं (यो) नो भवेत्।

इस मंत्र का जप करने से सर्पभय नष्ट हो जाता है।

(६५) सर्पभयनाशनमन्त्र

'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्रौं ब्लुँ अर्हं नमः।' इदं मन्त्रं जपतः सर्वकार्याणि साधयति।

इस मंत्र को जपने से सब कार्य सिद्ध होते हैं।

(६६) सर्वकार्यसिद्धमन्त्र

'ॐ ह्रीं श्रीं अमुकं दुष्टं साधय साधय असिआउसा नमः।'

दिनानामेकविंशत्या, जपन्नष्टोत्तरं शतम्।

यं शत्रुं च समुद्दिश्य, करोति पक्षं.......तरेः (?)।।

जिस शत्रु को लक्ष्य बनाकर २१ दिन तक १०८ बार जप किया जाता है उसका

वशीकरण हो जाता है।

(६७) सर्वसिद्धिकारकमन्त्र

'ॐ अरिहंताणं सिद्धाणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं नमः सर्वसमीहितसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।'

जपनादयुतस्यैव सर्वसिद्धिर्भवेन्ननु।।

इस मंत्र के दस हजार जप से सभी की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६८) कर्मक्षयार्थकमन्त्र

'ॐ ह्रीं अर्हं अनाहतविद्यायै नमः।' अथवा–'असिआउसा अनाहतविद्यायै नमः।' इति कर्मक्षयः।

इसके जप से सम्पूर्ण दुष्कर्मों का क्षय होता है।

(६९) शुभाशुभादेशको मन्त्र

'ॐ नमो अरिहओ भगवओ बाहुबलिस्स पण्हसव (म) णस्स अमले विमले निम्मलनाणपयासणि, ॐ नमो सव्वं भासई अरिहा सव्वं भासई केवली एएणं सव्ववयणेण सव्वं सच्चं होउ मे स्वाहा।'

इत्यात्मानं शुचिं कृत्वा, बाहुयुग्मेन संजपन्।
संपूज्य कायोत्सर्गेण, जिनं वक्ति शुभाशुभम्।।

इस मंत्र से अपने को पवित्र करके दोनों करों से जप करते हुए कायोत्सर्ग पूर्वक जिन की पूजा करने पर वह शुभाशुभ को बताने में समर्थ होता है।

(७०) सर्वसिद्धिप्रदमन्त्र

'ॐ ह्रीं णमो अरहंताणं मम ऋद्धिं वृद्धिं समीहितं कुरु कुरु स्वाहा।'

अयं मन्त्रो बुधेन शुचिना प्रातः सन्ध्यायां द्वात्रिंशद्वारं स्मरणीयः, सर्वसिद्धिप्रदः।

पवित्र होकर इस मंत्र का प्रातः और सन्ध्या में बत्तीस बार स्मरण करने से सब कार्यों की सिद्धि होती है।

(७१) प्रणवचक्र का ध्यान, और उसका फल

कर्णिकायामोमिति मूर्ध्नि ह्रीँ णमो अरिहंताणं इति सर्वतो भू–जलपुरयुतं चक्रं प्रणवाख्यं च कथ्यते।

ध्यानात् कर्मक्षयं चाऽऽशु, कुरुते वश्यवश्यकम्।।

इस मंत्र का ध्यान करने से शीघ्र ही वश में करने योग्य व्यक्ति वश में हो जाता है और कर्मक्षय होते हैं।

(७२) ज्वराद्युत्तारणमन्त्र

'ॐ ऐं ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं' इत्यनेनाभिमन्त्रितपठ्चमा (पटा) च्छादनादेकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थ (हि) कं दुष्टवेला–ज्वरादिकं नाशयति।

इस मंत्र का जप करने से मियादी बुखार नाश होता है।

(७३) ग्रहों का शान्तिकरमन्त्र

'ॐ णमो अरिहंताणं', जापस्त्वयुतसम्प्रमः।
चन्द्रदोषं हरेदेतद्, लघौ होमो दशांशकः।।१।।
'ॐ णमो सिद्धाणं' इत्येतज्जप्तं त्वयुतप्रमम्।
सूर्यपीडां हरेदेतत्, क्ररे होमो दशांशकः।।२।।
'ॐ ह्रीं णमो आयरियाणं' जप्तं त्वयुतसंप्रमम्।
गुरुपीडां हरेदेतद्, दुःस्थिते तद्दशांशकम्।।३।।
'ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं' जप्तं त्वयुतसंमितम्।
बुधपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।४।।
'ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं' जप्तं त्वयुतसंप्रमम्।
शनिपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।५।।
'ॐ ह्रीं णमो अरहंताणं' जप्तं दशसहस्रकम्।
शुक्रपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।६।।

'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं', जप्तं दशसहस्रकम्।

मङ्गलव्याधिहरणे, क्रूरे स्याच्च दशांशकः।।७।।

'ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं' जापं दशसहस्रकम्।

राहू–केतुद्वये ज्ञेयं, क्रूरे होमो दशांशकः।।८।।

(७४) रक्षामन्त्र

'ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं पादौ रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं कटिं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो आयरियाणं नाभिं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो उवज्झायाणं हृदयं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं कण्ठं रक्ष रक्ष।

'ॐ ह्रीं पंच. नमस्कारो (णमोक्कारो) शिखां रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं सव्वपावप्पणासणो आसनं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं आत्मवक्षः परवक्षः रक्ष रक्ष।' इति रक्षामन्त्रः।।

यह रक्षा मन्त्र है।

(७५) सकलीकरणमन्त्राः

'ॐ नमो अरिहंताणं नाभौ।' 'ॐ नमो सिद्धाणं हृदये।' 'ॐ नमो आयरियाणं कण्ठे।' ॐ नमो उवज्झायाणं मुखे।' 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं मस्तके। सर्वाङ्गेषु मां रक्ष रक्ष हिलि हिलि मातङ्गिनी स्वाहा।' इति सकलीकरणमन्त्राः।

यह सकलीकरण का मन्त्र है।

(७६) 'ॐ णमो अरिहंताणं स्वाहा।'

इससे शान्ति कर्म किया जाता है।

(७७) 'ॐ णमो अरिहंताणं स्वधा'

इससे पुष्टि कर्म किया जाता है।

(७८) 'ॐ णमो अरिहंताणं वषट्'

इससे वशीकरण किया जाता है।

(८०) 'ॐ णमो अरिहंताणं ठः ठः'

इससे स्तम्भन कर्म किया जाता है।

(८१) 'ॐ णमो अरिहंताणं हूँ'

इससे विद्वेषण कर्म किया जाता है।

(८२) 'ॐ णमो अरिहंताणं फट् स्वाहा।

इससे उच्चाटन कर्म किया जाता है।

(८३) 'ॐ णमो अरिहंताणं घेघे'

इससे मारण कार्य किया जाता है।

इत्यष्टौ मन्त्रास्तेजोऽग्निप्रियायुतसंपुटरीत्या पृथग्भूत्य जप्याः। एवमेव—ॐ णमो सिद्धाणं स्वाहा स्वधादियोज्यम्। एवमेव सूरावुपाध्याये साधौ योज्याः। एवं (८x५) चत्वारिंशन्मन्त्रा यथेच्छं जप्याः।

(८४) तर्पणमन्त्रा

"ॐ नमोऽर्हद्भ्यः स्वाहा। ॐ नमः सिद्धेभ्यः स्वाहा। ॐ नमः आचार्येभ्यः स्वाहा। ॐ (नमः) उपाध्यायेभ्यो स्वाहा। ॐ (नमः) सर्वसाधुभ्यः स्वाहा।" यह तर्पणमन्त्र है।

(८५) होममन्त्रा

"ॐ ह्राँ अर्हद्भ्यः स्वाहा, ॐ ह्रीँ सिद्धेभ्यः स्वाहा, ॐ ह्रूँ आचार्येभ्यः स्वाहा, ॐ ह्रौँ उपाध्यायेभ्यः स्वाहा, ॐ ह्रः सर्वसाधुभ्यः स्वाहा।" यह होम मन्त्र है।

(८६) शाकिनी निवारणमन्त्र

'ॐ णमो अरिहंताणं भूत—पिशाच—शाकिन्यादिगणान् नाशय हुं फट् स्वाहा।'

१०८ जप्तोऽयं मन्त्रः शाकिन्यादीन् विनाशयति। अथवा चैकं साष्टपत्रं पद्मं चिन्तयेत्। तत्र कर्णिकायामाद्यं तत्त्वं शेषाणि चत्वारि शङ्खावर्तविधिना

संस्थाप्य ध्यानात् शाकिन्यादयो न प्रभवन्ति।

इस मंत्र का १०८ बार जप करने से भूत, पिशाच डाकिनी आदि की प्रेत बाधा दूर होती है।

(८७) बुद्धिवर्धकमन्त्र

ॐ णमो अरिहंताणं वद वद वाग्वादिनीं स्वाहा।'

इत्यनेन मासं प्रति कङ्गुवस्तु (मालकाङ्गणीति प्रसिद्धं) चाभिमन्त्र्य मासं प्रति देयं चैवं षष्टिदिन प्रयोगे कृते बालस्य बुद्धिवृद्धिर्भवति।

इससे अभिमन्त्रित मालकांगिनी का एक मास तक सेवन करने से बुद्धि बढ़ती है।

(८८) सर्वकर्मकरमन्त्र

'ॐ नमो अरिहंताणं, 'ॐ नमो सिद्धाणं, 'ॐ नमो आयरियाणं, 'ॐ नमो उवज्झायाणं, 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं, 'ॐ नमो दंसणाय (णस्स), 'ॐ नमो णाणाय (णस्स), 'ॐ नमो चरित्ताय (त्तस्स), 'ॐ ह्रीँ त्रैलोक्यवशंकरी ह्रीँ स्वाहा।'

विधि— चैकविंशतिवारं यद्, जप्त्वा ग्रन्थिश्च यस्य च।

दत्ते स हि वशी तस्य, भवति न च संशयः।।

पानीयं चाभिमन्त्र्यैवमुञ्जने नेत्ररोगिणः।

रोगपीडाहरं दत्तं, वा शिरोऽर्द्धशिरोऽर्तिषु।।

इस मंत्र का इक्कीस बार जप करके जिस नाम की गांठ लगाई जाती है, वह वश में हो जाता है। इससे अभिमन्त्रित जप से मुख धोने पर नेत्र रोग, शिरो रोग आदि की पीड़ा शान्त होती है।

'मङ्गलम्' नामक ग्रन्थ के कुछ मंत्र

प्रीतिवर्धक मन्त्र

ॐ ऐं ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं

सूचना— पूर्व दिशा की ओर मुख करके इस मन्त्र का जप करें। एक बार मन्त्र का जप करें और नये कपड़े में एक गाँठ लगा दें। इस प्रकार एक—सौ आठ बार जप करें और नये कपड़े में एक—सौ आठ गाँठ लगा दें। ऐसा करने

से घर में, परिवार में किसी के साथ कलह या अनबन हो तो सब क्लेश शान्त हो जाता है, आपस में प्रेम–भाव बढ़ जाता है।

सर्वकार्य साधक मन्त्र

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रः असिआउसा स्वाहा

सूचना– इस मन्त्र का सवा लाख जप, निरन्तर बीच में अन्तराल डाले बिना, करने से मन–चिन्तित सब कार्यों की सिद्धि हो जाती है। यह मन्त्र दरिद्रता–गरीबी का नाश करने वाला है। उत्तर दिशा की ओर मुख करके एक बार भोजन और ब्रह्मचर्य का व्रत रख कर २१ दिन में सवा लाख जप करने से, यह मन्त्र सब कार्यों की सिद्धि करता है।

महासुख प्राप्ति कारक मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं नमो अरिहंताणं, ॐ ह्रीं श्रीं नमो सिद्धाणं, ॐ ह्रीं श्रीं नमो आयरियाणं, ॐ ह्रीं श्रीं नमो उवज्झायाणं, ॐ ह्रीं श्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं, ॐ ह्रीं श्रीं नमो नाणस्स, ॐ ह्रीं श्रीं नमो दंसणस्स, ॐ ह्रीं श्रीं नमो चरित्तस्स, ॐ ह्रीं श्रीं नमो तवस्स।

विधि– उत्तर दिशा में मुख करके सोते समय २१ बार जप करने से सब प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है।

संकट निवारक, मनेवांछित फलदायक मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं नमिउण असुर–सुर–गरुल–भुयंग–परिवंदिए, गय किलेसे अरिहे सिद्धायरिए उवज्झाए सव्वसाहूणं नमः स्वाहा।

विधि–पहले पंचमी, दशमी या पूर्णमासी को रवि–पुष्य रवि–मूल या गुरुपुष्य नक्षत्र हो, उस दिन से २७ दिनों में इसका १२५०० जाप करके इसे सिद्ध कर लें। प्रारम्भ में अट्ठमतप (तेला) करें, अन्यथा बीच–बीच में आयम्बिल या एकाशन करें, जप की पूर्णाहुति के दिन उपवास करें। उसके बाद संकटकाल में इस मंत्र की २१ माला फेरने से शान्ति हो जाती है। मनोवांछित कार्यसिद्धि हो जाती है। जाप एकान्त में करें।

स्मरणशक्ति–वर्द्धक मंत्र

"ॐ ह्रीं चउद्दसपुव्विणं, ॐ ह्रीं पयाणुसारिणं, ॐ ह्रीं एगारसंगधारिणं, ॐ ह्रीं उज्जुमइणं, ॐ ह्रीं विउलमइणं स्वाहा।"

पहले 'तीर्थंकरगणधरप्रसादादेष योगः फलतु' यह ७ बार कह कर इस मंत्र की एक माला रोजाना फेरें। इससे बुद्धि तीव्र होगी।

भूतप्रेतादिनिवारण मंत्र

ॐ नमो उग्गतवचरणपारीणं, ॐ नमो हिततवाणं, ॐ नमो उत्ततवाणं, ॐ नमो पडिमापडिवन्नाणं एएसिं पराविज्जाधहारणे पसिज्जउ स्वाहा।'

विधि—पहले 'तीर्थंकरगणधरप्रसादादेष योगः फलतु' इस प्रकार ७ बार बोल कर फिर २१ दिन तक प्रतिदिन १ माला फेरें। कोई भी देवदोष की शंका होगी तो दूर हो जायेगी।

विशिष्ट विद्याप्राप्ति का मंत्र

'ॐ ह्रीं बीयबुद्धिणं, ऊँ ह्रीं कोट्ठबुद्धिणं, ऊँ ह्रीं संभिन्नसोयाणं, ॐ ह्रीं अक्खीण महाणसलद्धिणं सव्वलद्धिणं नमः स्वाहा।'

विधि— तीन दिन उपवास करके इस मंत्र का १२५०० जप पीली माला से तीन दिन में कर लें। फिर प्रतिदिन १०८ बार जपें।

बुद्धिवर्द्धक मंत्र

ऐं सरस्वत्यै नमः।

विधि—पहले सवा लाख जप करके इसे सिद्ध कर लें। फिर जब भी कार्य हो, तब ११ माला रात को सोते समय या प्रातः उठते समय फेरें। इससे स्मरणशक्ति बढ़ती है। परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है।

ऐश्वर्यदायक मन्त्र

ॐ ह्रीं वरे सुवर असिआउसा नमः।

सूचना— इस मन्त्र का एकान्त स्थान में प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम को एक—सौ आठ जप करने से अर्थात् तीनों काल में एक—एक माला करके तीन माला फेरने से सब प्रकार की सम्पत्ति, लक्ष्मी और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। किसी पद आदि की उन्नति के लिए भी इसका जप किया जा सकता है।

रोग—निवारक मन्त्र

ॐ नमो विप्पोसहि—पत्ताणं ॐ नमो खेलो सहिपत्ताणं, ॐ नमो

जल्लोसहिपत्ताणं, ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं स्वाहा।

सूचना– इस मन्त्र की प्रतिदिन एक माला फेरने से सब प्रकार के रोगों की पीड़ा शान्त हो जाती है, रोगी का कष्ट कम हो जाता है।

ग्रहपीड़ा–नाशक मन्त्र

जब सूर्य और मंगल की पीड़ा हो तो –ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं, चन्द्रमा और शुक्र की पीड़ा हो तो–ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं, बुध की पीड़ा हो तो–ॐ ह्रीं नमो उवज्झायाणं, गुरु–बृहस्पति की पीड़ा हो तो–ॐ ह्रीं नमो आयरियाणं, तथा शनि, राहु और केतु की पीड़ा हो तो–ॐ ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं मन्त्र का जप करना चाहिए। जितने दिनों तक ग्रह–पीड़ाकारण रहे उतने दिन तक प्रतिदिन ऊपर लिखे मन्त्रों का एक हजार जप करना उचित है। इन मन्त्रों के जप से किसी भी प्रकार की ग्रह–पीड़ा नहीं होगी।

परिवार–रक्षा–मन्त्र

ॐ अरिहे सर्वं रक्ष हँ फट् स्वाहा।

सूचना–इस मन्त्र के द्वारा परिवार की रक्षा के लिए जप करना चाहिए। परिवार पर छाए सब आपत्ति, संकट दूर हो जाते हैं। एक माला प्रातःकाल और एक सायंकाल फेरनी चाहिए।

द्रव्य–प्राप्ति मन्त्र

ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं सिद्धाणं आयरियाणं उवज्झायाणं साहूणं मम, ऋद्धि–वृद्धि–समीहितं कुरु–कुरु स्वाहा।

सूचना– इस मन्त्र का नित्य प्रातःकाल, मध्या और सायंकाल को प्रत्येक समय में बत्तीस बार मन में ही ध्यान के रूप में मानसिक जप करें। सब प्रकार की सुख–समृद्धि, धन का लाभ और कल्याण हो।

वर्धमानविद्या

नमस्कार मंत्र के पश्चात् जैन परम्परा में जिस मंत्र का विकास हुआ उसे वर्धमानविद्या कहा जाता है। यह माना जाता है कि वर्धमानविद्याकल्प नामक ग्रन्थ की रचना आर्य वज्रस्वामी ने लगभग ईसा की दूसरी शती में की थी। वर्धमान विद्या का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। 'सूरिकल्पसंदोह' और मन्त्र राजरहस्यम्' में इसके उल्लेख हैं। सामान्यतया श्वेताम्बरमूर्तिपूजक जैन परम्परा

में साधुओं के लिये इसकी प्रतिदिन साधना करना आवश्यक माना जाता है। वर्धमान विद्या से सम्बन्धित मंत्र में मूलतः तो पंचनमस्कार मंत्र के साथ–साथ भगवान महावीर और चौदह लब्धिधारियों को नमस्कार किया गया है। वर्धमान विद्या के सम्बन्ध में अनेक आम्नाय प्रचलित हैं, इनमें पाठभेद एवं प्रस्थान भेद तो उपलब्ध होते हैं फिर भी मन्त्र की सामान्य विषयवस्तु में कोई विशेष अन्तर नहीं कहा जा सकता। वर्धमानविद्या के समान ही चतुर्विंशति जिनविद्या सम्बन्धी मंत्र भी अस्तित्व में आये, किन्तु ये विद्याएँ या मंत्र वर्धमानविद्या से परवर्ती हैं। वर्धमानविद्या का सामान्य मंत्र निम्न है–

वर्धमानविद्या (सामान्य साधुओं के लिए)

नमो अरहंतांण, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं। ॐ ह्रीं नमो भगवओ अरिहंतस्स महई महावीरवद्धमाणसामिस्स सिज्झउ मे भगवइ (महई) महाविज्जा। ॐ वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जये विजये जयन्ते अपराजिए अणिहए ॐ ह्रीं स्वाहा।

विशिष्ट वर्धमान विद्या (उपाध्यायों के लिए)

ॐ ह्रीं ह्रँ नमो जिणाणं १. ए ॐ ह्रीं नमो ओहिजिणाणं २, ॐ ह्रीं नमो परमोहिजिणाणं ३. ॐ ह्रीं नमो सव्वोहिजिणाणं ४. ॐ ह्रीं नमो अणंतोहिजिणाणं ५. ॐ ह्रीं नमो कोट्ठबुद्धीणं ६. ॐ ह्रीं नमो पयाणुसारीणं ७. ॐ ह्रीं नमो संभिन्नसोयाणं ८. ॐ ह्रीं नमो चउदसपुव्वीणं ६. ॐ ह्रीं नमो अट्ठकुसलाणं १०. ॐ ह्रीं नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं ११. ॐ ह्रीं नमो विज्जाहराणं १२. ॐ ह्रीं नमो पन्न (पण्ह) समणाणं ३. ॐ ह्रीं नमो आगासगामिणीणं १४. ॐ ह्रीं क्रों क्रों यौं यौं स्वाहा।

ॐ नमो भगवओ अरिहंतस्स महइ महावीरवद्धमाणसामिस्स सिज्जउ मे भगवई महई महाविज्जा।। ॐ वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे महानंदणे सिद्धे सिद्धक्खरे सिद्धबीए अणिहए नायाद्योसे सारवन्ने घोससारे परमे परमसुहए जये विजये जयंते अपराजिए सव्वुत्तमे परमपयपत्ते स्वाहा।।

तीर्थंकरों से सम्बन्धित चतुर्विंशति जिन विद्याएँ और उनके फल

(१) ॐ नमो जिणाणं १. ॐ नमो ओहिजिणाणं २. ॐ परमोहिजिणाणं ३. ॐ नमो सव्वोहिजिणाणं ४. ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं ५. ॐ नमो केवलिजिणाणं

६. ॐ नमो भगवओ अरहओ उसभसामिस्स सिज्झउ मे भगवई महई महाविज्जा। ॐ नमो भगवओ अरिहओ उसभसामिस्स आइतित्थगरस्स जस्सेअं जलं तं गच्छइ चक्कं सव्वत्थ अपराजिअं। आयाविणी ओहाविणी मोहणी थंभणी जंभणी हिलि हिलि कालि कालि चोराणं भंडाणं भोइयाणं अहीणं दाढीणं नहीणं सिंगीणं वेरीणं जक्खाणं पिसायाणं मुहब्बंधणं दिट्ठिबंधणं करेमि ठः ठः स्वाहा।।

इस विद्या की विधिपूर्वक साधना करके चारों दिशाओं में और अपने वस्त्र में गाँठ लगाने से चोर, शत्रुसेना एवं भूतप्रेतादि का स्तम्भन होता है और उनका भय समाप्त हो जाता है।

(२) ॐ अजिए अपराजिए अणिहए महाबले लोगसारे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का १०८ बार जप करने से व्याधि और दारिद्र्य का नाश होता है, सौभाग्य में अभिवृद्धि होती है और दम्पतियुगल में प्रीति होती है।

(३) ॐ संभवे महासंभवे संभूए महासंभावणे ठः ठः स्वाहा।

पुष्प, पत्र, फल और अक्षत के द्वारा १००८ बार जप करने से इस शाम्भवी विद्या के द्वारा सिद्ध बलि, गंध से अथवा तेल के विलेपन से मनुष्य वश में हो जाता है।

(४) ॐ नंदणे अभिनंदणे सुनंदणे महानंदणे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या के १०८ बार अभिमंत्रित जल से मुँह धोकर किसी मनुष्य के समीप जाने पर वह मनुष्य अनुकूल बन जाता है।

(५) ॐ नमो सुमए सुमई सुमणसे सुसुमणसे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से अपने को १०८ बार अभिमंत्रित करके सोने पर भविष्य में व्यक्ति के लिये क्या करने योग्य है, इसका ज्ञान हो जाता है।

(६) ॐ पउमे महापउमे पउमुत्तरे पउमुप्पले पउमसरे पउमसिरि ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का १०८ बार जप करके उससे अभिमंत्रित कमल जिस व्यक्ति को दिया जाता है वह व्यक्ति वश में हो जाता है तथा साधक को सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

(७) ॐ पासे सुपासे अइपासे सुहपासे महापासे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से शरीर को अभिमंत्रित करके सोने पर स्वप्न में भावी शुभ–अशुभ का बोध हो जाता है तथा मार्ग में सर्प, सिंह आदि उसका स्पर्श भी नहीं करते हैं।

(८) ॐ चंदे सुचंदे चन्दप्पहे सुप्पहे अइप्पहे महाप्पहे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से सात बार अभिमंत्रित जल से मुँह धोने पर सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है और इससे अभिमंत्रित दर्पण जिसे दिखाया जाता है वह मनुष्य वश में हो जाता है।

(९) ॐ पुप्फे पुप्फे महापुप्फे पुप्फसु पुप्फदंते ठः ठः स्वाहा।

पत्र, पुष्प और फल के द्वारा सात जिनेश्वरों का १०८ बार जप करने से यह विद्या सिद्ध होती है और इससे अभिमंत्रित पुष्प, फल आदि जिसे दिये जाते हैं, वह वश में हो जाता है।

(१०) ॐ सीयले पासे पसंते निव्वुए निव्वाणे निव्वुइति नमो भगवईए ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से एक युग तक जल को अभिमंत्रित करके उस अभिमंत्रित जल को पीड़ित स्थान पर सिंचन करने से वह रोग मिट जाता है।

(११) ॐ सिज्जंसे सिज्जंसे सुसिज्जंसे सुसिज्जंसे सेयंकरे महासेयंकरे सुप्पहंकरे ठः ठः स्वाहा।

अन्धेरी रात्रि में इस विद्या का १०८ बार जप करने से रोग का निवारण होता है।

(१२) ॐ वासुपुज्जे वासुपुज्जे अइपुज्जे पुज्जारिहे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का १०८ बार जप करके सोने पर स्वप्न में भावी शुभाशुभ का बोध हो जाता है।

(१३) ॐ अमले विमले कमले कमलिणी निम्मले ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या के द्वारा सात बार अभिमंत्रित पुष्प से जिन प्रतिमा का पूजन करने

पर वस्तु के सच्चे स्वरूप का बोध हो जाता है।

(१४) ॐ नमो अणंते केवलनाणे अणंते पज्जवानाणे अणंते गमे अणंते केवलदंसणे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या के द्वारा १०८ बार जप करके सोने पर जैसा स्वप्न दिखाई देता है वैसा ही फल घटित होता है।

(१५) ॐ धम्मे सुधम्मे धम्मचारिणि सुअधम्मे चरित्तधम्मे आगमधम्मे धम्मुद्धरणी धम्मधम्मे उवएसधम्मे ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का जप करके जो भी कार्य किया जाता है, वह पूर्ण होता है।

(१६) ॐ संति संति पसंति उवसंति सव्वं पावं उवसमेहि ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से १०८ बार अभिमंत्रित धूप की प्रथम गन्ध से ही देश, नगर आदि में होने वाले उपद्रव शांत होते हैं तथा मिर्गी आदि बीमारी समाप्त हो जाती है।

(१७) ॐ कुंथुं दकुंथे कुंथुकुंथे कीडकुंथुमई ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से सात बार अभिमंत्रित चूर्ण आदि जिस पर डाले जाते हैं, उसके दुष्टग्रह तथा ज्वर आदि रोग शान्त हो जाते हैं।

(१८) ॐ अरणी अरणी आवरणी सयाणिए ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का जप करके दूध पीकर तथा मुख पर सुगन्धित तेल लगाकर राजकुल आदि में जाने पर अथवा वाद–विवाद में उतरने पर विजय प्राप्त होती है।

(१९) ॐ मल्लि सुमल्लि महामल्लि जयमल्लि अप्पडिमल्लि ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या का १०८ बार जप करके वस्त्र, अलंकार, माला अथवा फल जिस मनुष्य को दिया जाता है वह अवश्य वश में हो जाता है।

(२०) ॐ सुव्वए महासुव्वए अणुव्वए महाव्वए वई महदिवादित्ये ठः ठः स्वाहा।

मांसभक्षी पशुओं के बालों की राख और आम्ररस को मिलकार उँगली से जिसका नाम लिखकर जप किया जाता है, वह व्यक्ति १०८ बार या १००८ बार जप करने से वश में हो जाता है।

(२१) ॐ नमि नमि नामिणि नमामिणि ठः ठः स्वाहा।

श्रृंगार करके एवं अच्छे वस्त्रों को पहनकर इस विद्या से १०७ या १०८ बार मंत्रित पुष्प जिसे भी दिया जाता है, वह वश में हो जाता है।

(२२) ॐ रहे रहावत्ते आवत्ते वत्ते अरिट्ठनेमि ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से १०८ बार अभिमंत्रित करके जिस घोड़े, हाथी, रथ पर आरूढ़ होकर यात्रा की जाती है वह वाहन और दुश्मन दोनों ही वश में हो जाते हैं।

अरिष्टनेमि सम्बन्धी विशिष्टविद्या

ॐ नमो भगवओ अरिट्ठनेमिसामिस्स अरिट्ठेणं बंधेणं बंधामि भूयाणं जक्खाणं रक्खसाणं विंतराणं चोराणं चोरिआणं साइणीणं वालाणं दाढीणं नहीणं वाहीणं महोरगाणं अन्नेवि जक्खे विमज्झदुट्ठा संभवंति तेसिं सव्वेसिं मणं बंधामि दिट्ठिं बंधामि यः यः यः यः ठः ठः ठः ठः हुं फट् स्वाहा।

श्वेत पुष्पों से इस विद्या का १०००० बार जप करने पर उस साधक के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

(२३) ॐ उग्गे महाउग्गे उग्गजसे पासे पासे सुपासे पासमालिणि ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या को पढ़कर देश, नगर, ग्राम अथवा भंडार में धूप तथा बलि अर्पित करने पर रोगियों के रोग शान्त हो जाते हैं और निर्धनों को धन की प्राप्ति हो जाती है।

पार्श्व सम्बन्धी विशिष्टविद्या

ॐ उग्गे उग्गे महाउग्गे गामपासे नगरपासे पासे सुपासे पासमालिणि ठः ठः स्वाहा।

पार्श्व सम्बन्धी इस विशिष्ट विद्या से १००० पुष्पों अथवा अक्षतों से पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा का पूजन करने पर यह विद्या सिद्ध होती है। इस विद्या के सिद्ध होने पर कायोत्सर्ग में इस विद्या का जाप करते रहने से प्रत्येक कार्य का शुभाशुभ फलादेश प्राप्त होता रहता है।

(२४) ॐ नमो भगवओ महइ वद्धमाणसामिस्स, सिज्झउ मे भगवई महइ महाविज्जा।

इस विद्या से अभिमंत्रित वासक्षेप गुरु जिस भी शिष्य के मस्तक पर डाल देता

है वह अपने कार्य को निर्विघ्न पूरा करता है।

विशिष्ट वर्धमान विद्याएँ

(अ) ॐ वीरे वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे, जए विजयंते अपराजिए अणिहए ठः ठः स्वाहा।

यह विशिष्ट वर्धमान विद्या का मार्ग में स्मरण करने पर चोर, सिंह आदि का भय दूर होता है। युद्ध में स्मरण करने पर विजय प्राप्त होती है। इस विद्या से अभिमंत्रित मुट्ठी में रखी वस्तु जिसे दी जाती है वह शान्ति को प्राप्त करता है।

(ब) ॐ नमो भगवओ अरहओ वद्धमाणस्स सुर–असुर–तेलुक्कपूइअस्स वेगे वेगे महावेगे निद्धंतरे निरालंबे विसि विसि फुहि फुहि उयरंते पविसामि। अंतरहिओ भवामि मा मे पविसंतु पावगा ठः ठः स्वाहा।

इस विद्या से अभिमंत्रित पुष्पों और अक्षतों से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान महावीर की १००८ बार पूजा करने पर यह विद्या सिद्ध होती है। इस विद्या से अभिमंत्रित हो व्यक्ति जहाँ जाता है वहाँ सबका प्रिय बनता है। उपवासपूर्वक जिनेश्वर देव का स्मरण करते हुए इस विद्या का स्मरण कर अक्षत आदि कोठार में डालने पर धन–धान्यादि की वृद्धि होती है।

हमें चतुर्विंशतिजिन सम्बन्धी इन विद्याओं के उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में श्री सूरिमन्त्रकल्पसंदोह में और दिगम्बर परम्परा में आचार्य श्री कुन्थुसागर जी द्वारा रचित लघुविद्यानुवाद में मिले। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमने यह पाया कि लघुविद्यानुवाद में जो मंत्र दिये गये हैं वे प्रथम तो अत्यन्त ही अशुद्ध छपे हुए हैं। दूसरे सूरिमंत्रकल्पसंदोह से उसमें कई स्थानों पर पाठभेद भी हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में जो प्रमुख अन्तर है वह यह है कि लघुविद्यानुवाद में विद्या या मन्त्र के प्रारम्भ में '**ॐ नमो भगवउ अरहऊ...... जिनस्स सिज्झउ मे, भगवई महवई महाविद्या**' इतना पाठ हर विद्या के साथ में अधिक है। जिस–जिस तीर्थंकर से सम्बन्धित जो–जो विद्याएँ हैं उनमें तीर्थंकर का नाम परिवर्तित करके इतना अंश समान ही रखा गया है। जबकि सूरिमन्त्रकल्पसंदोह में मात्र विद्या सम्बन्धी संक्षिप्त मंत्र ही हैं। प्रस्तुत लघुविद्यानुवाद में ये विद्याएँ जहाँ से भी अवतरित की गई हों उन पर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात भी सिद्ध होती है कि क्वचित् पाठभेद के अतिरिक्त मूल मन्त्रों में दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतः दोनों की मूल परम्परा एक ही है।

लोगस्स सम्बन्धीमन्त्र

ऐं ओम् ह्रीं ऐँ लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली–मम मनस्तुष्टिं कुरु–कुरु ॐ स्वाहा।

विधि– इस मन्त्र को पूर्व दिशा की ओर मुख करके सूर्योदय के समय खड़े होकर 'काउस्सग्ग' करके १०८ बार मौन सहित जपें। दिन में एक बार भोजन करें, ब्रह्मचर्य से रहें, भूमि पर या पट्टे पर सोएँ। इस प्रकार निरन्तर चौदह दिन तक जप करने से मान–सम्मान, धन–सम्पत्ति प्राप्त होती है और सब प्रकार का संकट दूर होता है।

– (इति प्रथम मण्डल)

ॐ क्रां क्रीं ह्रां ह्रीं उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च। पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे स्वाहा!

विधि– उत्तर दिशा की ओर मुख रख कर पद्मासन लगा कर उक्त मंत्र को १०८ बार जपें। सोमवार से ७ दिन तक मौन रखें, एक बार भोजन करें, ब्रह्मचर्य पालें, भूमि पर शयन करें, झूठ न बोलें, सफेद वस्तु–चावल आदि का भोजन करें। ऐसा करने से गृह–कलह और राज–काज के झगड़े दूर होते हैं। सब प्रकार से आनन्द रहता है।

– (इति द्वितीय मण्डल)

ॐ ऐँ ह्रीं झ्रूं झ्रीं सुविहिं च पुप्फदंतं सीयल सिज्जंस वासुपुज्जं च। विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि स्वाहा!

विधि– इस मन्त्र को लाल रंग की माला से १०८ बार जपें, ब्रह्मचर्य पालें और भूमि पर शयन करें। २१ दिन तक जपते रहने से शत्रु का भय दूर होता है, संग्राम में या मुकद्दमे में जय होती है।

– (इति तृतीय मण्डल)

ॐ ह्रीं श्रीं कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च। वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च, मम मनोवाञ्छित पूरय–पूरय ह्रीं स्वाहा।

विधि– इस मन्त्र का ११,००० जप पीले रंग की माला से पूर्वदिशा की तरफ मुख करके करना चाहिए। भूत–प्रेत की बाधा दूर होती है एवं परिवार की शोभा बढ़ती है। लिख कर गले में बाँधने से ज्वर–पीड़ा भी दूर होती है।

– (इति चतुर्थ मण्डल)

ॐ ह्रीं ह्रां एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा। चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु स्वाहा!

विधि–इस मन्त्र का जप ५५०० बार करना चाहिए। पूर्वदिशा की ओर हाथ जोड़ कर खड़े हों, तथा मुख ऊपर आकाश की तरफ करें। इससे सब प्रकार का सुख मिलेगा एवं सबको वल्लभ यानी प्रिय लगेंगे।

(इति पंचम मण्डल)

ॐ अंबराय कित्तय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा। आरोग्ग–बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु स्वाहा!

विधि– इस मन्त्र को उत्तरदिशा की ओर मुँह करके १५००० बार जपने से सत्–कार्यों में वृद्धि होती है, देवगण भी प्रसन्न होते हैं, जय–जयकार हो सब प्रकार का सुख मिलता है और अन्त में समाधिमरण का गौरव प्राप्त होता है।

(इति षष्ठ मण्डल)

ॐ ह्रीं ऍं ओं जीं जौं चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा। सागर–वरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। मम मनोवांछितं पूरय–पूरय स्वाहा!

विधि– इस मन्त्र का पूर्वदिशा की ओर मुँह कर १००० जप करने से सब प्रकार से मन की आशा पूर्ण होती। यश और प्रतिष्ठा बढ़ती है। व्यक्ति सब लोगों के लिए पूजनीय हो जाता है।

(इति सप्तम मण्डल)

सूरिमंत्र या गणधर वलय

जैनों में वर्धमान विद्या के समान ही सूरिमंत्र की भी साधना की जाती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में जहां सामान्य मुनि के लिए वर्धमान विद्या की साधना का निर्देश है वहाँ आचार्य के लिए सूरिमंत्र की साधना को आवश्यक माना गया है। वस्तुतः सूरिमंत्र भी वर्धमान विद्या का ही एक विकसित रूप है। सूरिमंत्र में विभिन्नलब्धिधारियों को नमस्कार किया गया है। सूरिमंत्र के सम्बध में भी अनेक प्रस्थान या आम्नायें प्रचलित हैं जिनमें पदों या वर्णों की संख्या को लेकर अलग–अलग परम्पराएँ हैं। फिर भी सामान्य रूप से सभी आम्नाय के सूरिमंत्रों में लब्धिधारियों (ऋद्धिधारियों) के प्रति नमस्कार रूप मंत्र ही होता है। मन्त्रराज रहस्य में सूरिमंत्र के ११ आम्नायों का उल्लेख हुआ है। आम्नायभेद से इसमें चारलब्धि पदों से लेकर पचास लब्धिपदों तक की संख्या मिलती है।

यह सूरिमंत्र गणभृद् विद्या और गणधर वलय के नाम से भी जाना जाता है। प्रस्तुत कृति का उद्देश्य तो मात्र एक ऐतिहासिक विकासक्रम में जैन तंत्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। अतः हम सूरिमन्त्र के विभिन्न आम्नायों, प्रस्थानों या पीठों, जिनमें मन्त्र के वर्णों या पदों की संख्या को लेकर भिन्नताएँ हैं, की चर्चा में न जाकर मात्र सूरिमंत्र के ऐतिहासिक विकासक्रम की चर्चा करेंगे।

श्वेताम्बर परम्परा में लब्धि (ऋद्धि) पद

सूरिमंत्र मूलतः लब्धिधरों के प्रति प्रतिपत्तिरूप है और जहाँ तक मेरी जानकारी है श्वेताम्बर परम्परा में प्रश्नव्याकरण सूत्र के वर्तमान उपलब्ध संस्करण, जो लगभग छठी–सातवीं शताब्दी की रचना है, में सूरिमंत्र में वर्णित अनेक लब्धिधारियों का उल्लेख है। मेरी दृष्टि में यह उल्लेख इस ग्रन्थ की रचना की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योंकि इसके पूर्व उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य (चतुर्थ शती) में भी हमें लब्धिधरों का उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि वर्तमान संस्करण की योजना करते समय इसे या तो इसके ही पूर्व संस्करण से या पूर्व साहित्य के किसी ग्रन्थ से लिया गया हो।

हम यहाँ सर्वप्रथम प्रश्नव्याकरण का मूल पाठ देगें और उसके पश्चात् तत्त्वार्थभाष्य का मूलपाठ देंगे, ताकि तुलनात्मक अध्ययन में सुविधा हो। ज्ञातव्य है कि प्रश्नव्याकरण सूत्र का निम्न पाठ भगवती अहिंसा की देवी रूप में कल्पना करके कौन कौन किस–किस प्रकार से उसकी साधना करता है, इसका निर्देश करता है–

प्रश्नव्याकरण सूत्र में लब्धिपद

एसा भगवती अहिंसा, जा सा–

अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सीलगुण--विणय--तव--संजमनायकेहिं तित्थंकरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचंदेहिं सुट्ठुदिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमतीहिं विदिट्ठा, विपुलमतीहिं विदिता, पुव्वधरेहिं अधीता, वेउव्वीहिं पतिण्णा।

आभिणिबोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं मणपज्जवनाणीहिं केवलनाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीजबुंद्धीहि कोट्ठबुद्धीहिं पदाणुसारीहिं संभिण्णसोतेहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयिबलिएहिं कायबलिएहिं नाणबलिएहिं दंसणबलिएहिं चरित्तबलिएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पिआसवेहि अक्खीणमहाणसिएहिं

चारणेहिं विज्जाहरेहिं चउत्थभत्तिएहिं 'छट्ठभत्तिएहिं अट्ठभत्तिएहिं एवं–दसम–दुवालस–चोद्दस–सोलस–अद्धमास–मास–दोमास–चउमास–पंचमास–छम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरएहिं निक्खित्तचरएहिं अंतचरएहिं पंत–चरएहिं लूहचरएहिं समुदाणचरएहिं अण्णइलाएहिं मोणचरएहिं संसट्ठकप्पिएहिं तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं उवनिहिएहिं सुद्धेसणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं अदिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं आयंबिलिएहिं पुरिमड्ढिएहिं एक्कासणिएहिं निव्वि– तिएहिं भिण्णपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं लूहाहारेहिं तुच्छाहारेहिं अंतजीवीहिं, पंतजीवीहिं लूहजीवीहिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीविहिं विवित्तजीवीहिं अक्खीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमसासिएहिं ठाणाइएहिं पडिमट्ठाईहिं ठाणुक्कडिएहिं वीरासणिएहिं णेसज्जिएहिं डंडाइएहिं लगंडसाईहिं एगपासगेहिं आयावएहिं अप्पाउएहिं अणिट्ठुभएहिं अकंडूयएहिं धुतकेसमंसु–लोमनखेहिं सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिण्णा।

सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं। धीरमतिबुद्धिणो य जे ते आसीविस–उग्गतेयकप्पा निच्छय–ववसाय–पज्जत्तकयमतीया णिच्चं सज्झायज्झाण–अणुबद्धधम्मज्झाणा पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिता समितीसु समितपावा छव्विहजगजीववच्छला निच्चमप्पमत्ता, एएहिं अण्णेहिं य जा सा अणुपालिया भगवती।। (प्रश्नव्याकरणसूत्र २/१/१०६)

अर्थात् यह भगवती अहिंसा वह है जो अपरिमित–अनन्त केवलज्ञान–दर्शन को धारण करने वाले, शीलरूप गुण, विनय, तप और संयम के नायक–इन्हें चरम सीमा तक पहुँचाने वाले, तीर्थ की संस्थापना करने वाले धर्मचक्र प्रवर्तक, जगत् के समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोकपूजित जिनवरों (जिनचन्द्रों) द्वारा अपने केवलज्ञान–दर्शन द्वारा सम्यक् रूप में स्वरूप, कारण और कार्य के दृष्टिकोण से निश्चित की गई है।

विशिष्ट अवधिज्ञानियों द्वारा विज्ञात की गई है–ज्ञपरिज्ञा से जानी गई और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सेवन की गई है। ऋजुमति–मनःपर्यवज्ञानियों द्वारा देखी–परखी गई है। विपुलमति–मनःपर्यवज्ञानियों द्वारा ज्ञात की गई है। चतुर्दश पूर्वश्रुत के धारक मुनियों ने इसका अध्ययन किया है। विक्रियालब्धि के धारकों ने इसका आजीवन पालन किया है। आभिनिबोधिक–मतिज्ञानियों ने, श्रुतज्ञानियों ने, अवधिज्ञानियों ने, मनःपर्यवज्ञानियों ने, केवलज्ञानियों ने, आमर्षौषधिलब्धि के धारकों ने, श्लेष्मौषधिलब्धिधारकों ने, जल्लौषधिलब्धिधारकों ने, विप्रुडौषधिलब्धि–धारकों ने, सर्वौषधिलब्धिबीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि,– पदानुसारिबुद्धि आदि लब्धि के

धारकों ने संभिन्नश्रोतस्लब्धि के धारकों ने, श्रुतधरों ने, मनोबली, वचनबली और कायबली मुनियों ने, ज्ञानबली, दर्शनबली तथा चारित्रबली महापुरुषों ने, मध्वास्त्रवलब्धिधारी, सर्पिरास्त्रवलब्धिधारी तथा अक्षीणमहानसलब्धि के धारकों ने, चारणों और विद्याधरों ने, चतुर्थभक्तिकों– एक–एक उपवास करने वालों से लेकर दो, तीन, चार, पाँच दिनों, इसी प्रकार एक मास, दो मास, तीन मास, चार मास, पाँच मास एवं छह मास तक का अनशन–उपवास करने वाले तपस्वियों ने, इसी प्रकार उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, अन्तचरक, प्रान्तचरक, रूक्षचरक, समुदानचरक, अन्नग्लायक, मौनचरक, संसृष्टकल्पिक, तज्जातसंसृष्टकल्पिक, उपनिधिक, शुद्धैषणिक, संख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, अदृष्टलाभिक, पृष्ठलाभिक, आचाम्लक, पुरिमार्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक, भिन्नपिण्डपातिक, परिमितपिण्डपातिक, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी, तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी, विविक्तजीवी तथा दूध, मधु और घृत का यावज्जीवन त्याग करने वालों ने, मद्य और मांस से रहित आहार करने वालों ने, कायोत्सर्ग करके एक स्थान पर स्थित रहने का अभिग्रह करने वालों ने, प्रतिमास्थायिकों ने, स्थानोत्कटिकों ने, वीरासनिकों ने, नैषधिकों ने, दण्डायतिकों ने, लगण्डशायिकों ने, एकपार्श्वकों ने, आतापकों ने, अपाव्रतों ने, अनिष्ठीवकों ने, अकंडूयकों ने, धूतकेश–श्मश्रु लोम–नख अर्थात् सिर के बाल, दाढी, मूंछ और नखों का संस्कार करने का त्याग करने वालों ने, सम्पूर्ण शरीर के प्रक्षालन आदि संस्कार के त्यागियों ने, श्रुतधरों के द्वारा तत्त्वार्थ को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महापुरुषों ने (अहिंसा भगवती का) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (इनके अतिरिक्त) आशीविष सर्प के समान उग्र तेज से सम्पन्न महापुरुषों ने, वस्तुतत्त्व का निश्चय और पुरुषार्थ–दोनों में पूर्ण कार्य करने वाली बुद्धि से सम्पन्न प्रज्ञापुरुषों ने, नित्य स्वाध्याय और चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान करने वाले तथा धर्मध्यान में निरन्तर चित्त को लगाये रखने वाले पुरुषों ने पाँच महाव्रत–स्वरूप चारित्र से युक्त तथा पाँच समितियों से सम्पन्न, पापों का शमन करने वाले, षट्जीवनिकायरूप जगत् के वत्सल, निरन्तर अप्रमादी रहकर विचरण करने वाले महात्माओं ने तथा अन्य विवेकविभूषित सत्पुरुषों ने अहिंसा भगवती की आराधना की है।

तत्त्वार्थभाष्य में लब्धिपद

तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में उमास्वाति लिखते हैं, कि जो भव्य जीव इस ग्रन्थ में बताये गये मोक्ष–मार्ग का अभ्यास करता है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप का पालन करते हुए कर्मों की उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्जरा करते हुए विशुद्धि के उत्तरोत्तर स्थानों को पाते हुए धर्मध्यान और समाधि

को सिद्ध कर शुक्लध्यान के पहले दो भेदों को धारण करता है, वह जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तब तक अनेक निम्न ऋद्धियों का पात्र बन जाता है—

आमर्शौषधित्वं विप्रुडौषधित्वं सर्वौषधित्वं शापानुग्रहसामर्थ्य-जननीमभिव्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमवधिज्ञानं शारीरविकरणाङ्गप्राप्ति. तामणिमानं लघिमानं महिमानमणुत्वम् अणिमा विसच्छिद्रमपि प्रविश्यासीतां। लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतरः स्यात्। महत्त्वं महिमा मेरोरपि महत्तरं शरीरं विकुर्वित। प्राप्तिर्भूमिष्ठोऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखर भास्करादीनपि स्पृशेत्। प्राकाम्यमप्सु भूमाविव गच्छेत् भूमावप्स्यिव निंमज्जेदुन्मज्जेच्च। जङ्घाचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटतन्तुज्योतिष्करश्मिवायू नामन्यतममप्युदाय वियति गच्छेत्। वियद्गतिचारणत्वं येन वियति भूमाविव गच्छेत् शकुनिवच्च प्रडीनावडीनगमनानि कुर्यात्। अप्रतिघातित्वं पर्वतमध्येन वियतीव गच्छेत्। अन्तर्धानमदृश्यो भवेत्। कामरूपित्वं नानाश्रयानेकरूपधारणं युगपदपि कुर्यात् तेजोनिसर्गसामर्थ्यमित्यैतदादि। इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविशुद्धिविशेषाद्दूरत्स्पार्शनास्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात्। संभिन्नज्ञानत्वं युगपदनेकविषयपरिज्ञानमित्येतदादि। मानसं कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं पदप्रकरणोद्देशाध्यायप्राभृतवस्तुपूर्वाङ्गानुसारित्वमृजुमतित्वं विपुलमतित्वं परचित्तज्ञानमभिलषितार्थप्राप्तिमनिष्टानवाप्तीत्येतदादि। वाचिकं क्षीरस्रवित्वं मध्वास्रवित्वं वादित्वं सर्वरुतज्ञत्वं सर्वसत्त्वावबोधनमित्येतदादि। तथा विद्याधरत्वमाशीविषत्वं भिन्नाभिन्नाक्षरचतुर्दशपूर्वधरत्वामिति।।

अर्थात्— आमर्शौषधित्व, विप्रुडौषधित्व, सर्वौषधित्व, शाप और अनुग्रहकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाली वचनसिद्धि, ईशित्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अङ्गप्राप्तिता, अणिमा, लधिमा, और महिमा ये सब ऋद्धियाँ हैं, जिनको कि उक्त मोक्ष—मार्ग का साधक प्राप्त हुआ करता है।

अणिमा शब्द का अर्थ अणुत्व है अर्थात् छोटापन। इस ऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को इतना बनाया जा सकता है कि वह कमल—तन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके स्थित हो सकता है। **लघिमा** शब्द का अर्थ लघुत्व है अर्थात् हलकापन। इसके सामर्थ्य से शरीर को वायु से भी हलका बनाया जा सकता है, **महिमा** शब्द का अर्थ महत्त्व—अर्थात् भारीपन अथवा बड़ापन है। जिसके सामर्थ्य से शरीर को मेरु पर्वत से भी बड़ा किया जा सके, उसको महिमा—ऋद्धि कहते हैं। प्राप्ति नाम स्पर्श संयोग का है, जिसके द्वारा दूरवर्ती पदार्थ का भी स्पर्श किया जा सकता है। इस ऋद्धि के बल से भूमि पर बैठा हुआ ही साधु अपनी अंगुली के अग्रभाग से मेरुपर्वत के शिखर का अथवा सूर्य—बिम्ब का स्पर्श

कर सकता है। इच्छानुसार चाहे जिस तरह भूमि या जलपर चलने की सामर्थ्य विशेष को **प्राकाम्यऋद्धि** कहते हैं। इसके सामर्थ्य से पृथिवी पर जल की तरह चल सकता है, जिस प्रकार जल में मनुष्य तैरता है, उसी प्रकार पृथिवी पर भी तैर सकता है और निमज्जनोन्मज्जन भी कर सकता है। जिस प्रकार जल में डुबकी लगाते हैं, या उतराने लगते हैं, उसी प्रकार पृथिवी पर भी जल की समस्त क्रियाएं इस ऋद्धि के सामर्थ्य से की जा सकती हैं। तथा जल में पृथिवी की चेष्टा की जा सकती है-- जिस प्रकार पृथिवी पर पैरों से डग भरते हुए चलते हैं, उसी प्रकार इसके निमित्त से जल में भी चल सकते हैं। अग्नि की शिखा--ज्वाला धूप नीहार--तुषार और अवश्याय मेघ जलधारा मकड़ी का तन्तु सूर्य आदि ज्योतिष्क विमानों की किरणें तथा वायु आदि में से किसी भी वस्तु का अवलम्बन लेकर आकाश में चलने की सामर्थ्य को **जंघाचारणऋद्धि** कहते हैं। आकाश में पृथिवी के समान चलने की सामर्थ्य को **आकाशगतिचारणऋद्धि** कहते हैं। इसके निमित्त से मुनिजन भी, जिस प्रकार आकाश में पक्षी उड़ा करते हैं, और कभी ऊपर चढ़ते कभी नीचे की तरफ उतरते हैं, उसी प्रकार बिना किसी प्रकार के अवलम्बन के आकाश में गमनागमन आदि क्रियाएं कर सकते हैं। जिस प्रकार आकाश में गमन करते हैं, उसी प्रकार बिना किसी तरह के प्रतिबन्ध के पर्वत के बीच में होकर भी गमन करने की सामर्थ्य जिससे प्रकट हो जाय-- उसको **अप्रतिघातीऋद्धि** कहते हैं। अदृश्य हो जाने की शक्ति जिससे कि चर्मचक्षुओं के द्वारा किसी को दिखाई न पड़े ऐसी सामर्थ्य जिससे प्रकट हो उसको **अन्तर्धानऋद्धि** कहते हैं। नाना प्रकार के अवलम्बनभेद के अनुसार अनेक तरह के रूप धारण करने की सामर्थ्य विशेष को **कामरूपिताऋद्धि** कहते हैं। इसके निमित्त से भिन्न--भिन्न समयों में भी अनेक रूप रक्खे जा सकते हैं, और एक काल में एक साथ भी नानारूप धारण किये जा सकते हैं। जिस प्रकार तैजस पुतला का निर्गमन होता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। दूर से ही इन्द्रियों के विषयों का स्पर्शन, आस्वादन, घ्राण, दर्शन और श्रवण कर सकने की सामर्थ्य विशेष को **दूरश्रावीऋद्धि** कहते हैं। क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्म के विशिष्ट क्षयोपशम हो जाने से मतिज्ञान की विशुद्धि में जो विशेषता उत्पन्न होती है, उसके द्वारा ऋद्धि का धारक इन विषयों का दूर से ही ग्रहण कर सकता है। युगपत्--एक साथ अनेक विषयों के परिज्ञान--जान लेने आदि की शक्ति विशेष को **संभिन्नज्ञानऋद्धि** कहते हैं। इसी प्रकार मानसज्ञान की ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं। यथा-- **कोष्ठबुद्धित्व, बीजबुद्धित्व** और पद प्रकरण उद्देश अध्याय प्राभृत वस्तु पूर्व और अङ्ग की अनुगामिता ऋजुमतित्व, विपुलमतित्व परचित्तज्ञान (दूसरे के मन का अभिप्राय जान लेना), अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति होना, और अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति न होना, इत्यादि अनेक ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती

हैं। उसी प्रकार वाचिकऋद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यथा–क्षीरास्रवित्व, मध्वास्रवित्व, वादित्व, सर्वरुतज्ञत्व और सर्वसत्त्वाावबोधन इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि जिसके सामर्थ्य से सदा ऐसे वचन निकलें, जोकि सुननेवाले को दूध के समान मधुर मालूम पड़ें, उसको **क्षीरास्रवी** और यदि ऐसा जान पड़े मानों शहद झड़ रहा है, जो **मध्वास्रवऋद्धि**[1] कहते हैं। हर तरह के वादियों को शास्त्रार्थ में परास्त करने की सामर्थ्य विशेष का नाम **वादित्वऋद्धि** है। प्राणिमात्र के शब्दों को समझ सकने की शक्ति विशेष का नाम सर्वरुतज्ञत्व तथा सभी जीवों को बोध कराने की–समझाने की जिसमें सामर्थ्य पाई जाय, उसको सर्वसत्वावबोधन कहते हैं। इसी प्रकार और भी वाचिकऋद्धियाँ समझनी चाहिये, जो वचन की शक्ति को प्रकट करने वाली हैं। तथा इनके सिवाय विद्याधरत्त्व, आशीविषत्त्व और भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर[2] दोनों ही तरह की चतुर्दशपूर्वधरत्त्व की ऋद्धियाँ प्राप्त हुआ करती हैं।

वस्तुतः सूरिमन्त्र की रचना इन्हीं ऋद्धि या लब्धिधारकों के प्रति प्रतिपत्ति के रूप में की गई है। यह माना जाता है कि इन ऋद्धिधारकों के प्रति प्रतिपत्तिपूर्वक इनका जप करने से ये लब्धियाँ साधक को भी प्राप्त हो जाती हैं। नीचे हम सिंहतिलक सूरि के मन्त्रराजरहस्य में दिये गये सूरिमन्त्र के विभिन्न प्रस्थानों में से एक प्रस्थान उददधृ कर रहे हैं। इसके विभिन्न प्रस्थानों में एक प्रस्थान उदघृत कर रहे हैं। इनके विभिन्न विद्यापीठों, आम्नायों आदि की जानकारी तो इस ग्रन्थ से की जा सकती है–

गणधर वलय / सूरिमंत्र

१. **ॐ नमो जिणाणं।**

२. **ॐ नमो ओहिजिणाणं।**

३. **ॐ नमो परमोहिजिणाणं।**

४. **ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं।**

---

१. यहाँ पर इन ऋद्धियों का अर्थ वचनपरक किया गया है। किन्तु दिगम्बर–सम्प्रदाय में इनका अर्थ इस प्रकार है– जिसके सामर्थ्य से शाकपिंड का भी भोजन दुग्धरूप परिणमन करे–दूध के समान गुण दिखाये, उसको क्षीरस्रावीऋद्धि कहते हैं। इसी प्रकार सर्पिःस्रावी अमृतस्रावी आदि का भी अर्थ समझना चाहिये।

१. चौदहपूर्व के ज्ञान में एकाध अक्षरप्रमाण ज्ञान कम हो तो भिन्नाक्षर और एक भी अक्षर कम न हो, तो अभिन्नाक्षर कहा जाता है।

५. ॐ नमो अणंताणंतोहिजिणाणं।

६. ॐ नमो कुट्ठबुद्धीणं।

७. ॐ नमो बीयबुद्धीणं।

८. ॐ नमो पयाणुसारीणं।

९. ॐ नमो संभिन्नसोयाणं।

१०. ॐ नमो सयंबुद्धाणं।

११. ॐ नमो पत्तेयबुद्धाणं।

१२. ॐ नमो उज्जुमईणं।

१३. ॐ नमो विउलमईणं।

१४. ॐ नमो महामईणं।

१५. ॐ नमो चउदसपुव्वीणं।

१६. ॐ नमो दसपुव्वीणं।

१७. ॐ नमो इक्कारसंगीणं।

१८. ॐ नमो अट्ठंगमहानिमित्तकुसलाणं।

१९. ॐ नमोविउव्वणइड्ढिपत्ताणं।

२०. ॐ नमो विज्जाहरसमणाणं।

२१. ॐ नमो चारणसमणाणं।

२२. ॐ नमो पण्हसमणाणं।

२३. ॐ नमो आगासगामीणं।

२४. ॐ नमो आसीविसाणं।

२५. ॐनमो दिट्ठीविसाणं।

२६. ॐ नमो उग्गतवाणं।

२७. ॐ नमो दित्ततवाणं।

२८. ॐ नमो महतवाणं।

२९. ॐ नमो घोरतवाणं।

३०. ॐ नमो गुणवंत (घोरगुण) बंभयारीणं।

३१. ॐ नमो आमोसहिपत्ताणं।

३२. ॐ नमो विप्पोसहिपत्ताणं।

३३. ॐ नमो खेलोसहिपत्ताणं।

३४. ॐ नमो जल्लोसहिपत्ताणं।

३५. ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं।

३६. ॐ नमो मणबलीणं।

३७. ॐ नमो वयबलीणं।

३८. ॐ नमो कायबलीणं।

३९. ॐ नमो खीरासवीणं।

४०. नमो सप्पिआसवीणं।

४१. नमो अम्मियासवीणं।

४२. नमो महुआसवीणं।

४३. नमो अक्खीणमहाणसलद्धीणं।

४४. नमो बद्धमाणलद्धीणं।

४५. नमो सव्वसिद्धायणाणं।

"ॐ वग्गुवग्गुए फग्गुफग्गुए समणे सोमणसे महुमहुरे इरियाए किरियाए पिरियाए सिरियाए हिरियाए आयरियाए किरिकिरिकालि पिरिपिरिकालि सिरिसिरिकालि हिरिहिरिकालि आयरियकालिए वग्गु निवग्गु फग्गु फग्गु समणे सुमणसे जये विजये जयंते अपराजिए स्वाहा।।" गणधरावल्याम् ।।ठ।।

ज्ञातव्य है कि सूरिमन्त्र के अनेक आम्नाय एवं प्रस्थान हैं जिनमें एक लब्धिपद से लेकर ४५ लब्धिपदों तक की साधना की जाती है। पद और वर्णों की संख्या आदि के आधार पर इनसे विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं ऐसी परम्परागत अवधारणा है।

योनिप्राभृत में उपलब्ध 'श्री गणधरवलय मंत्रः'

(नमो जिणाणं नमो ओधि जिणाणं) नमो परमोधि नमो अणंतोधि णमो कुट्ठबुद्धिणं णमो पादानुसारीणं णमो संभिन्नसोयाणं नमो (सयं) संबुद्धाणं नमो पत्तेयबुद्धाणं नमो (उ)ज्जुमदीनं नमो विउलमदीनं नमो दसपुव्वीणं नमो चउदसपुव्वीणं नमो अठंगमहानिमित्तकुसलाणं नमो विज्जाहराणं नमो चारणाणं नमो आगासगामीणं (नमघोरतवाणं) नमो आसीविसाणं नमो दिट्ठिविसाणं नमो उग्गतवाणं नमो दित्ततवाणं नमो महातवाणं नमो घोरतवाणं नमो घोरगुणबंभचारीणं नमो आमोसहिपत्ताणं नमो खेलोसहिपत्ताणं नमो विप्पोसहिपत्ताणं नमो सव्वोसहिपत्ताणं नमो मणबलीणं णमो बचबलीणं णमोकायबलीणं नमो रवीरसप्पीणं नमो सप्पिआसवाणं नमो अमयमहुसप्पीणं नमो सव्वऋद्धीणं भयवदो गणधरवलयस्स सव्वे सव्वं कुणंतु।। गणधरवलयमंत्रः ।।२।।

दिरका आणाकाले असज्जदोसे निमित्तसाहणए
गुरुउवसग्गे जाये (अ) वेर (हि) म्मि भणह (इम) मंतं।।

मन्त्रराजरहस्य और योनिप्राभृत में दिये गये सूरिमन्त्र या गणधरवलय में केवल कुछ पाठ भेद को छोड़कर कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। यही स्थिति अचेल परम्परा के यापनीयग्रन्थ षट्खण्डागम की भी है। आगे हम षट्खण्डागम से इन लब्धिपदों को उद्धृत कर रहे हैं जिससे पाठक यह जान सकें कि दोनों परम्पराओं में कितनी अधिक समरूपता है।

षट्खण्डागम में उल्लिखित लब्धिपद / सूरिमंत्र

१. **णमो जिणाणं।**
२. **णमो ओहिजिणाणं।**
३. **णमो परमोहिजिणाणं।**
४. **णमो सव्वोहिजिणाणं।**
५. **णमो अणंतोहिजिणाणं।**
६. **णमो कोट्ठबुद्धीणं।**
७. **णमो बीजबुद्धीणं।**
८. **णमो पदाणुसारीणं।**
९. **णमो संभिण्णसोदराणं।**
१०. **णमो उजुमदीणं।**
११. **णमो विउलमदीणं।**
१२. **णमो दसपुव्वियाणं।**
१३. **णमो चोद्दसपुव्वियाणं।**
१४. **णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं।**
१५. **णमो विउव्वणपत्ताणं।**
१६. **णमो विज्जाहराणं।**
१७. **णमो चारणाणं।**
१८. **णमो पण्णसमणाणं।**
१९. **णमो आगासगामीणं।**
२०. **णमो आसीविसाणं।**
२१. **णमो दिट्ठिविसाणं।**
२२. **णमो उग्गतवाणं।**

२३. णमो दित्ततवाणं।

२४. णमो तत्ततवाणं।

२५. णमो महातवाणं।

२६. णमो घोरतवाणं।

२७. णमो घोरपरक्कमाणं।

२८. णमो घोरगुणाणं।

२६. णमो घोरगुणबंभचारीणं।

३०. णमोआमोसहिपत्ताणं।

३१. णमो खेलोसहिपत्ताणं।

३२. णमो जल्लोसहिपत्ताणं।

३३. णमो विड्डोसहिपत्ताणं।

३४. णमो सव्वोसहिपत्ताणं।

३५. णमो मणबलीणं।

३६. णमो वचबलीणं।

३७. णमो कायबलीणं।

३८. णमो खीरसवीणं।

३६. णमो सप्पिसवीणं।

४०. णमो महुसवीणं।

४१. णमो अमडसवीणं।

४२. णमो अक्खीणमहाणसाणं।

४३. णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं।

४४. णमो वद्धमाणबुद्धरिसिस्स।

— षट्खण्डागम चउत्थेखण्डे वेयणामहाधियारे कदिअणियोगद्दारं

जहाँ तक श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में उपलब्ध इन लब्धि पदों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है मात्र हमें दो चार नाम आदि में ही अन्तर प्रतीत होता है। जहाँ सूरिमंत्र के पाँचवें पद में अनन्तान्तोओहिजिणाणं पाठ है वहाँ षट्खण्डागम में चतुर्थ पद में उसके स्थान पर सव्वोओहिजिणाणं पाठ है। सूरिमंत्र के दसवें पद में नमो पत्तेयबुद्धाणं, ११ वें पद में नमो सयंसंबुद्धाणं पाठ का उल्लेख है किन्तु ये दोनों पाठ षट्खण्डागम में नहीं मिलते हैं। कुछ स्थलों पर पाठ भेद भी है। जैसे जहाँ सूरिमंत्र में विप्पोव्सहि है वहाँ षट्खण्डागम में

विड्डोसहि पाठ है यहाँ षट्खण्डागम का पाठ अधिक उचित लगता है। इसी प्रकार जहाँ सूरिमंत्र के ४१वें पद में 'अम्मियसविणं' पाठ है वहाँ षट्खण्डागम में 'अमउसविणं' पाठ है, किन्तु यह अन्तर तो मात्र प्राकृतभाषा के स्वरूप की अपेक्षा से है। इसी प्रकार सूरिमंत्र के ४४ वें पद में 'वर्धमानलद्धीणं' पाठ है।

वहाँ षट्खण्डागम में 'वद्धमानबुद्धरिसिस्स' पाठ है जो अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं उचित लगता है। ज्ञातव्य है कि सूरिमंत्र की अन्य वाचनाओं में भी षट्खण्डागम का यह पाठ मिला है।

सूरिमन्त्र के लब्धिपदों के जाप से होने वाली लौकिक एवं भौतिक उपलब्धियाँ :

१. ॐ नमो अरिहंताणं नमो जिणाणं ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय स्वाहा! ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रौं ह्रौं स्वाहा—इन सब (मंत्रों) का प्रयोग करना चाहिए। इनको जपने से शूल (कष्ट) की शान्ति होती है।

२. ॐ नमो अरिहंताणं नमो जिणाणं ह्रीं पूर्वक १०८ पुष्पों के द्वारा जाप करने से ताप (ज्वर) दूर होता है।

३. णमोपरमोहि जिणाणं ह्राँ—इसके जप से शिर का रोग नष्ट होता है।

४. णमो सव्वोहिजिणाणं ह्राँ— इसके जप से आँखों का रोग दूर होता है।

५. णमो अणंतोहिजिणाणं—इसके जप से कानों का रोग दूर होता है

६. णमो कुट्ठबुद्धीणं—इसके जप से शूल,फोड़ा और पेट के रोग दूर होते हैं।

७. णमो बीजबुद्धीणं—इसके जप से श्वांस और हिक्का दूर होती है।

८. णमो पदाणुसारीणं—इसके जप से दूसरे के साथ हुए विवाद / कलह शान्त होते हैं।

९. णमो संभिन्नसोयाणं—इसके जप से खाँसी दूर होती है।

१०. णमो पत्तेयबुद्धाणं—इसके जप से (विवाद में) प्रतिपक्षी की विद्या की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है।

११. नमो सयंसंबुद्धाणं—इसके जप से कवित्व और पाण्डित्य प्राप्त होता है।

१२. णमो बोहिबुद्धाणं—इसके जप से दूसरों को दी गई विद्या वापस प्राप्त हो जाती है। इसकी सिद्धि के लिए ५२ दिन तक इसका जप करना चाहिए।

१३. नमो उज्जुमईणं—इसके जप से शांति प्राप्त होती है। इसका २४ दिन तक जप करना चाहिए।

१४. णमो विउलमईणं–इसके जप से बहुमुखी प्रतिभा प्राप्त होती है। इसकी साधना करते समय मीठा और खटाश–रहित भोजन करना चाहिए।

१५. णमो चउदसपुव्वीणं–इसके जप से समग्र अंगश्रुत का जानकार होता है।

१६. णमो चउदसपुव्वीणं–इसका १०८ बार जप करने से अपने एवं दूसरों के सिद्धान्तों का जानने वाला होता है

१७. णमो अट्ठंगनिमित्तकुसलाणं–इसके जप से जीवन–मरण का काल जाना जा सकता है।

१८. णमो विउव्वणलद्धिपत्ताणं–इसके जप से मनोभिलषित पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसका २८ दिन तक जप करना चाहिए।

१९. णमो विज्जाहराणं–इसके जप से ऊँचे एवं दूरदेश तक आकाश में जाया जा सकता है

२०. णमो चारणाणं–इसके जप से प्रश्नकर्त्ता की मुट्ठी में बंद अभिलषित विषय को जाना जा सकता है।

२१. णमो पण्हसमणाणं–इसके जप से आयु का अन्त जाना जा सकता है।

२२. णमो आकासगामीणं–इसके जप से आकश में १ योजन तक (दूसरे को) भेजा जा सकता है

२३. णमो आसीविसाणं–इसके जप से द्वेष का नाश होता है। वह पार्श्वनाथ के अष्टक मंत्र से होता है।

२४. णमो दिट्ठिविसाणं–इसके जप से स्थावर और जंगम ऐसे कृत्रिम विष का नाश होता है।

२५. णमो उग्गतवाणं–इसके जप से वाणी का स्तम्भन होता है।

२६. णमो दित्ततवाणं–इसका रविवार से लेकर तीन दिन तक मध्याह्न में जप करने से शत्रु पक्ष की सेना को स्तम्भित किया जा सकता है।

२७. नमो तत्ततवाणं–इसके जप से अभिमन्त्रित जल के द्वारा अग्नि का स्तम्भन किया जा सकता है।

२८. णमो महातवाणं– इसके जप से पानी की बाढ़ को रोका जा सकता है।

२९. णमो घोरतवाणं– इसके जप से सर्प के विष, एवं अन्य विषों का शमन किया जा सकता है।

३०. णमो घोरगुणाणं–इसके जप से सफेद कोढ़ और गर्भ की पीड़ा आदि का नाश होता है।

३१. णमो घोरगुणाणं परक्कमाणं—इसके जप से हिंसक पशुओं का भय दूर होता है।

३२. णमो घोरगुणब्रह्मचारीणं— इसके जप से ब्रह्मराक्षसों का नाश होता है।

३३. णमो आमोसहिपत्ताणं— इसके जप से समग्र देवों का अपहरण होता है।

३४. णमो जल्लोसहिपत्ताणं—इसके जप से महामारी का तिरस्कार और चित्त की व्याकुलता का नाश होता हैं

३५. णमो विप्पोसहिपत्ताणं—इसके जप से हाथी का महामारी रोग शान्त होता हैं।

३६. णमो सव्वोसहिपत्ताणं—इसके जप से मनुष्यों का महामारी रोग नाश को प्राप्त होता हैं

३७. णमो मणबलीणं—इसके जप से अश्व का महामारी रोग शान्त होता है।

३८. णमो वचोबलीणं—इसके जप से बकरियों का महामारी रोग शान्त होता है।

३६. णमो कायबलीणं—इसके जप से गाय का महामारी रोग शान्त होता है।

४०. णमो अमीयासवीणं—इसके जप से समग्र उपद्रव शान्त होते हैं।

४१. णमो सप्पिसवीणं— इसके जप से एक दिन के अन्तर से, दो दिन के अंतर से, तीन दिन के अंतर से, चार दिन के अंतर से, पन्द्रह दिन के अंतर से, महीने अथवा वर्ष के अंतर से आने वाले मियादी ज्वर इत्यादि का सम्पूर्ण ताप नाश होता है।

४२. णमो रवीरासवीणं—इस मंत्र से गोदुग्ध अभिमन्त्रित कर चौबीस दिन तक पीए तो क्षय, खाँसी, गंडमाला आदि रोगों का नाश होता है।

४३. णमो अक्खीणमहाणसं—इसके जप से आकर्षण होता है।

४४. णमो लोए सव्वसिद्धायदयाणं— इसके जप से राजपुरुष आदि वश में होते हैं।

४५. ॐ नमो भगवदो महई महावीर वड्ढमाण बुद्धिरिसीणं—इसके जप से चित्त को शान्ति प्राप्त होती है।

। श्री मानदेवसूरिकृतसूरिमंत्रस्तोत्रम् ।

रागाइरिउजईणं, नमो जिणाणं नमो महजिणाणं

एवं ओहिजिणाणं, परमोहीणं तहा तेसिं।१।

एवमणंतोहीणं, णंताणंतोहि—जुअ—जिणाणं

नमो सामन्नकेवलीणं भवाभवत्थाण तेसिं नमो ।२।

उग्गतवचरणचारिण, मेवमित्तो नमो नमो होउ

चउदससदसपुव्वीणं, नमो तहेगार संगीणं ।३।

एएसिं सव्वेसिं, एवं किच्चा अहं नमोक्कारं

जमियं विज्जं पउंजे, सा मे विज्जा पसिज्जिज्जा ।४।

निच्चं नमो भगवओ, बाहुबलिस्सेह पण्हसमणस्स

ॐ वग्गु वग्गु निवग्गु, मग्गुं सुमग्गु गयस्स तहा ।५।

सुमणेवि अ सोमणसे, महुमहुरे जिणवरे नमंसामि

इरिकाली पिरिकाली, सिरिकाली तहा महाकाली ।६।

किरिआए हिरिआए, पयसंगए तिविह आयरिए

सुहमव्वाहयं तह, मुत्तिसाहगे साहुणो वंदे ।७।

ॐकिरिकिरि कालि पिरि, पिरिकालिं च सिरिसिरि सकालिं

हिरि हिरि कालि पयंपिअ, सिरिं तु तह आयरिय कालिं ।८।

किरिमेरु पिरिमेरु सिरिमेरु तहय होइ हिरिमेरु

आयरिय मेरुपयभवि साहते मेरुणो वंदे ।९।

इअ मंतपयसमेया, थुणिआ सिरिमाणदेवसूरिहिं

जिणसूरिसाहुणो सइ, दिंतु थुणंताण सिद्धिसुहं ।१०।

अंगविज्जा नामक ग्रन्थ में वर्णित विद्याएँ

नमस्कारमंत्र, वर्धमान विद्या, गणधर वलय या सूरिमंत्र के अतिरिक्त अन्य कुछ विद्याओं या मंत्रों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थ अंगविज्जा, (लगभग दूसरी शती) में मिलता है।

। अंगविद्या ।

नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं। नमो जिणाणं नमो ओहिजिणाणं नमो परमोहिजिणाणं नमो सव्वोहिजिणाणं नमो अणंतोहिजिणाणं नमो भगवओ अरहओ अव्वओ महापुरिसस्स

महावीरवद्धमाणस्स नमो भगवइए महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए सहस्सपरिवाराए (स्वाहा)।।१।।

। भूतिकर्मविद्या ।

णमो अरहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं। नमो महापुरिसस्स महइ महावीरस्स सव्वणुसव्वदरिसिस्स इमा भूमिकम्मस्स विज्जा। इंदि आलिंदि आलिमाहिंदे मारुदि स्वाहा। नमो महापुरिस्सदिण्णाए भगवईए अंगविज्जाए सहस्सवाकरणाए क्षीरिणीविरण उडुंबरिणीए सह सर्वज्ञाय स्वाहा सर्वज्ञानाधिगमाय स्वाहा। सर्वकामाय स्वाहा। सर्वकर्मसिद्ध्यै स्वाहा ।।२।।

(क्षीरवृक्षछायायां अष्टमभक्तिकेन गुणयितव्यं क्षीरेण च पारयितव्यं। सिद्धिरस्तु। भूमिकर्मविद्याया उपचारः चतुर्थभक्तेन कृष्णचतुर्दश्यां गृहीतव्या षष्ठेन साधयितव्या। अहतवस्थेण कुशसत्थरे।)

। सिद्धविद्या ।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमोउवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। णमो आमोसहिपत्ताणं णमो विप्पोसहिपत्ताणं णमो सव्वोसहिपत्ताणं णमो संभिन्नसोआणं णमो रवीररसवाणं णमो महुरस्सवाणं। णमो कोट्ठबुद्धिणं णमो पयबुद्धिणं णमो अरवीणमहाणसाणं णमोरिद्धिपत्ताणं णमो चउदसपुव्वीणं णमो भगवईए महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए सिद्धे सिद्धाणुमए सिद्धासेविए सिद्धचारणाणुचिण्णे अमियबले महासारे महाबले अंगदुवारधरे स्वाहा ।।३।।

(छट्ठग्गहणी छट्ठसाहणी जपो–अट्ठसयसिद्धा भवति।।)

। पडिरूवविज्जा ।

नमो अरिहंताणं णमोसिद्धाणं णमो महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए णमोक्कारइत्ता इमं मंगलं पउंजइस्सामि सा मे विज्जा सव्वत्थ पसिज्झउ। अत्थस्स य धम्मस्स य कामस्स य इसि (स) स्स आइच्च चंदनकरवत्तगहगणतारागणाण (जोगो) जोगाणं णभम्मि अ जं सव्वं तं सव्वं इह मज्झं (इह) पडिरूवे दिस्सउ। पुढविउदधिसलिलाग्गिमारुएसु य सव्वभूएसु देवेसु जं सव्वं तं सव्वं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ। अवेतु (उ) माणुसं सोयं (दिव्वं सोयं) पवत्तउ। अवेउ माणुसं रूवं दिव्वं रूवं पवत्तउ अवेउ माणुसं चक्खुं दिव्वं चक्खू पवत्तउ। अवेउ माणुसे गंधे दिव्वे गंधे पवत्तउ। एएसु जं सव्वं तं सव्वं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउत्ति।

णमो महति महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए जं सव्वं तं सव्वं इध मज्झं पडिरूवे दिस्सउ। णमो अरहंताणें णमो सव्वसिद्धाणं सिज्झंतु मंता स्वाहा ।।४।।

(एसविज्जा छट्ठग्गहणी अठ्ठमसाधणी जापो अठ्ठसयं)

। पडिहारविज्जा--स्वरविज्जा ।

णमो अरिहंताणं णमो सव्वसिद्धाणं णमो सव्वसाहूणं णमो भगवतीए महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए उभयभए णतिभये भयमाभये भवे स्वाहा। स्वाहा डंडपडीहारो अंगविज्जाए उदकजत्ताहिं चउहिं सिद्धिं।। णमो अरिहंताणं णमो सव्वसिद्धाणं णमो भगवईए महापुरिसदिण्णाए अंगविज्जाए भूमिकम्मं सव्वं भणंति। अरहंता ण मुसा भासंति। खत्तिया सव्वे णं अरहंता सिद्धा सव्वपडिहारे उ देवया अत्थ सव्वं कामसव्वं सव्वयं सव्वं तं इह दिसउत्ति। अंगविज्जाए इमा विज्जा उत्तमा लोकमाता बंभाए वाणपिया पयावइ अंगे एसा देवस्स सव्वअंगम्मि मे चक्खुं सव्वलोकम्मि य सव्वं पव्वज्जइसि सव्वं व जं भवे। एएण सव्ववइणेण इमो अट्ठो दिस्सउ। उंतं (ॐ त) पव्वज्जे। विजयं पव्वज्जे सव्वे पव्वज्जे उडुंबरमूलीयं पव्वज्जे। पव्वविं (इ) स्सामि तं पव्वज्जे। मेघडंतीयं पव्वज्जं स्वरपितरं मातरं पव्वज्जे स्वरविज्जं पव्वज्जेंति स्वाहा।। आभासो अभिमंतणं चउदकजत्ताहिं सिद्धं ।।५।।

। महाणिमित्तविज्जा ।

णमो अरिहंताणं णमो सव्वसिद्धाणं णमो केवलणाणीणं सव्वभावदंसीणं णमो आधोधिकाणं णमो आभिबोधिकाणं (पव्वज्ज?) णमो मणपज्जवणाणीणं णमो सव्वभावपवयणपारगाणं बारसंगवीणं अट्ठमहाणिमित्तायरियाणं सुयणाणीणं णमो पण्णाणं णमो विज्जाचारणसिद्धाणं तवसिद्धाणं चेव अणगार सुविहियाणं णिग्गंथाणं णमो महाणिमित्तीणंसव्वेसिं आयरियाणं णमो भगवओ जसचओ (?अरहओ) महावीरवद्धमाणस्स ।।६।।

विद्या मन्त्र साधना विधि

होम सम्बन्धी विधि

"ॐ ह्रीं श्रीं इरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं किरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं गिरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं पिरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं सिरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं हिरिमेरु स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं आयरियमेरु स्वाहा।।"

"ॐ ह्रीं श्रीं इरिमेरु किरिमेरु गिरिमेरु पिरिमेरु सिरिमेरु हिरिमेरु

आयरियमेरु स्वाहा।।"

जप सम्बन्धी विधि

"ॐ ह्रीं श्रीं इरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं किरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं गिरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं पिरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं सिरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं हिरिमेरु नमः। ॐ ह्रीं श्रीं आयरियमेरु नमः।।"

पूजा में सर्वत्र 'स्वाहा' और जप में 'नमः' का प्रयोग करना चाहिए।

साध्यविभागः

"ॐ किरिमेरु स्वाहा। ॐ गिरिमेरु स्वाहा। ॐ पिरिमेरु स्वाहा। ॐ सिरिमेरु स्वाहा। ॐ आयरियमेरु स्वाहा।।"

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं चक्रपीठस्वामिने नमः।

ॐ ह्रीँ नमो जिणाणं ॐ जां स्वाहा।।१।।

ॐ ह्रीँ नमो ओहिजिणाणं ॐ ह्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।२।।

ॐ ह्रीँ नमो परमोहिजिणाणं प्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।३।।

ॐ ह्रीँ नमो अणंतोहिजिणाणं स्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।४।।

ॐ ह्रीँ नमो सव्वोहिजिणाणं क्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।५।।

ॐ ह्रीँ नमो कुट्ठबुद्धीणं ॐ स्वाहा।।६।।

ॐ ह्रीँ नमो पयाणुसारीणं ढ्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।७।।

ॐ ह्रीँ नमो संभिन्नसोयाणं ॐ ज्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।८।।

ॐ ह्रीँ नमो भवत्थकेवलीणं भ्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।६।।

ॐ ह्रीँ नमोअभवत्थकेवलीणं ॐ च्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।१०।।

ॐ ह्रीँ नमो उग्गतवचारीणं ॐ ह्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।११।।

ॐ ह्रीँ नमो चउदसपुव्वीणं ॐ प्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।१२।।

ॐ ह्रीँ नमो दसपुव्वीणं ॐ न्म्ल्व्यूँ स्वाहा।।१३।।

ॐ ह्रीँ नमो इक्कारसअंगीणं ॐ ऐँ क्लीँ श्रीँ स्रूँ स्वाहा।।१४।।

ॐ ह्रीँ नमो सुअकेवलीणं ॐ ह्रौँ श्रीँ ऐँ ईँ ह्रौँ ह्रः स्वाहा।।१५।।

ॐ ह्रीँ एएसिं नमुकारं किच्चा जमियं विज्जं पउंजामि सा मे विज्जा पसिज्झउ स्वाहा।।१६।।

मन्त्र साधना विधि

स्नानं कृत्वा, धौतवस्त्राणि परिधाय, पूर्वोत्तराभिमुखः सन् ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य झोलिकामग्रे मुक्त्वा विधानमारभेत, तद्यथा–

भूमिशुद्धिः १, कराङ्गन्यासः २, सकलीकरणं ३, दिक्पालाह्वानं ४, हृदयशुद्धिः ५, मन्त्रस्नानं ६, कल्मषदहनं ७, पञ्चपरमेष्ठिस्थापनं ८, आह्वानं ६, स्थापनं १०, संनिधानं ११,संनिरोधः १२,अवगुण्ठनं १३, छोटिका १४, अमृतीकरणं १५, जापः १६, क्षोभणं १७, क्षामणं १८, विसर्जनं १६, स्तुतिः २०।।

एते विंशतयोऽधिकाराः क्रमेण विधीयन्ते–

१. भूमिशुद्धिः

" ॐ भूरसि भूतधात्रि सर्वभूतहिते भूमिशुद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।।"

अनने मन्त्रेण सृष्ट्या परितो वार ३ वासक्षेपः, इति भूमिशुद्धिः।।१।।

२. कराङ्गन्यासः

हृत्–कण्ठ–तालु–भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्रे यथाक्रमं– "ह्राँ ह्रीँ हूँ ह्रौँ ह्रः।"

वामकरे त्रिवारं चिन्तयेत्, इति करन्यासः।।२।।

३. सकलीकरणम्

"क्षिप ॐ स्वाहा, हास्वा ॐ पक्षि" अध ऊर्ध्व वारान् त्रीन् षड् वा।।

'क्षि' पादयोः। 'प' नाभौ। 'ॐ' हृदये। 'स्वा' मुखे। 'हा' ललाटे न्यसेत्।

एवं क्रमोत्क्रमः (मेण) पञ्चाङ्गरक्षा सकलीकरणम् ।।३।।

४. दिक्पालाह्वानम्

"इन्द्राग्नि–दण्डधर–नैर्ऋत–पाशपाणि
वायूत्तरे (च) शशिमौलिफणीन्द्रचन्द्राः।
आगत्य यूयमिह सानुचराः सचिह्नाः
पूजाविधौ मम सदैव पुरो भवन्तु।।
इन्द्रमग्निं यमं चैव नैर्ऋतं वरुणं तथा।
वायुं कुबेरमीशानं नागान् ब्रह्माणमेव च।।
ॐ आदित्य–सोम–मङ्गल बुध–गुरु–शुक्राः शनैश्चरो राहुः।
केतुप्रमुखाः खेटा जिनपतिपुरतोऽवतिष्ठन्तु।।

इति तत्तददिक्षु वासक्षेपाद् दिक्पाल–ग्रहाह्वानम् ।।४।।

५. हृदयशुद्धिः

"ॐ विमलाय विमलचित्ताय झ्वीँ झ्वीँ स्वाहा।"

इति मन्त्रेण वामहस्तेन वार ३ हृदयस्पर्शः।। इति हृदयशुद्धिः ।।५।।

६. मन्त्रस्नानम्

"ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतवाहिनि अमृतं स्रावय स्रावय हुं फट् स्वाहा।।"

गरुडमुद्रया कुण्डपरिकल्पना। (पश्चात्)

"ॐ अमले विमले सर्वतीर्थजलैः प पः पां पां वां वां अशुचिर्शुचिर्भवामि स्वाहा।।"

इत्यनेनाज्जलौ सर्वतीर्थजलं संकल्प्य सर्वाङ्गस्नानम्।। मन्त्रस्नानम्।।६।।

७. कल्मषदहनम्

"ॐ विद्युत्स्फुलिङ्गे महाविद्ये मम सर्वकल्मषं दह दह स्वाहा।।"

इतरेतरकराभ्यां वार ३ भुजमध्यं स्पृशेत्।। कल्मषदहनम्।।७।।

८. पञ्चपरमेष्ठिस्थापनम्

"।।ॐ नमः।।" इति मन्त्रेणाक्षपोटलिकाच्छोटनं, ततः प्रदक्षिणक्रमेण पञ्चपरमेष्ठिस्थापना, परं प्रतिलेखनापूर्वम्–

'ॐ नमोऽर्हद्भ्यः' मध्यमणौ, 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' पूर्वमणौ,

'ॐ नमः आचार्येभ्यः' दक्षिणमणौ, 'ॐ नमः उपाध्यायेभ्यः' पश्चिममणौ, 'ॐ नमः सर्वसाधुभ्यः' उत्तरमणौ।

वासकर्पूरक्षेपः वार ३ सुगन्धपुष्पैः पूजा।। सर्वदेवतावसरपूजनम् ।।८।।

९. आह्वानम्

अथ पञ्चोपचाराः

"ॐ आँ क्रौँ ह्रीँ श्रीँ भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! अत्र समवसरणस्थकनकमयसहस्रपत्रासने एहि एहि संवौषट्।।"

अञ्जलिमुद्रया गौतमाह्वानं, सा च सावित्रीमूलस्थापितोऽङ्गुष्ठा सपुष्पाञ्जलिमुद्रा मध्यमणौ आर्हन्त्यं (अर्हत्त्वं) रूपं हृदि चिन्त्यम् ।।९।।

१०. स्थापनम्

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! अत्र कनकमयसहस्रपत्रासने तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।"

स्थापना, सेयं मुद्रा विपरीता।।१०।।

११. संनिधानम्

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! मम संनिहितो भव भव वषट् ।।"

संनिधाने ऊर्ध्वाङ्गुष्ठमुष्टयोर्मिलनम्।।११।।

१२. संनिरोध

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! पूजान्तं यावदत्र स्थातव्यम्।।"

इति संनिरोधोऽभ्यन्तराग्ङुष्ठे मुष्टी मिलिते।।१२।।

१३. अवगुण्ठनम्

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! परेषामदृश्यो भव भव नमः।।"

इत्यवगुण्ठने मुष्टिं बध्वा प्रसारिततर्जनीकामध्यमोपरि निवेशिताङ्गुष्ठाव–गुण्ठनमुद्रा।।१३।।

१४. छोटिका

ततश्छोटिका विघ्नत्रासार्थम् (विघ्नत्रासार्थं ऋ ॠ ऌ ॡवर्जैर्द्वादशभिः स्वरैः षट्सु दिक्षु प्रतिदिशं द्वाभ्यां द्वाभ्यां स्वराभ्यां छोटिका। अङ्गुष्ठात् तर्जनीमुत्थाप्य छोटिकां दद्याद् इत्याम्नायः) ।।१४।।

१५. अमृतीकरणम्–

धेनुमुद्रयाऽधोमुख्यमृतीकरणपूर्वम्

"ॐ आँ क्रौं ह्रीं श्रीं भगवन्! गौतम! सर्वलब्धिसंपन्न! गन्धादीन् गृह्ण गृह्ण नमः।"

गन्धवास–कर्पूरादिभिः पूजा।।१५।।

१६. जापः

ततः "(ॐ)आँ क्रौं ह्रीं श्रीं सर्वेऽपि सूरिमन्त्राधिष्ठायका मम संनिहिता

भवन्तु भवन्तु वषट्।।

१७. क्षोभणम्

"(ॐ)आँ क्रौं ह्रीं श्रीं सर्वेऽपि सूरिमन्त्राधिष्ठायकैः पूजान्तं यावदत्रैव स्थातव्यम्।।"

१८. क्षामणम्

(ॐ आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं च यत् कृतम्।

तत् सर्वं कृपया देव! क्षमस्व परमेश्वर!।।)

१९. विसर्जनम्

"(ॐ)आँ क्रौं ह्रीं श्रीं सर्वेऽपि सूरिमन्त्राधिष्ठायकाः परेषामदृश्या भवन्तु काः स्वाहा।। इति पञ्चोपचारपूजा।।

२०. स्तुतिः

"(ॐ)आँ क्रौं ह्रीं श्रीं सर्वेऽपि सूरिमन्त्राधिष्ठायका मम पूजां प्रतीच्छन्तु स्वाहा।।"

मुद्रा प्राग्वत्। छोटिका, अमृतीकरणम्, ततोऽञ्जलिमुद्रया

"(ॐ)आँ क्रौं ह्रीं श्रीं विद्यापीठप्रतिष्ठिता गौतमपदभक्ता देवी सरस्वती पूजां प्रतीच्छतु स्वाहा।।"

विद्यापीठे नमोऽन्तेन मध्यमणौ वासक्षेपः।।

षट्कर्म

विभिन्न साधनामार्गों में षट्कर्मों की अवधारणायें तो प्राचीन काल से ही पायी जाती हैं, किन्तु ये षट्कर्म कौन–कौन से हैं, इसे लेकर उनमें परस्पर भिन्न–भिन्न मान्यतायें हैं। जैन धर्म में भी षडावश्यक कार्मों की अवधारणा अति प्राचीन काल से पायी जाती है। उसमें इन षडावश्यक कर्मों के प्रतिपादन के लिये स्वतंत्र आगम ग्रन्थों की रचना हुई। प्रारम्भ में प्रत्येक आवश्यक कर्म के लिये एक–एक स्वतंत्र ग्रन्थ था, कालान्तर में उन छहों ग्रन्थों को मिलाकर आवश्यक सूत्र के नाम से एक ग्रन्थ बना दिया गया। जैनों के अनुसार ये षट्कर्म आवश्यक हैं– १–सामायिक (समभाव की साधना), २–चतुर्विंशतिस्तव (तीर्थंकरों की स्तुति), ३–वंदन (गुरु को प्रणाम करना), ४–प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त), ५–कयोत्सर्ग (ध्यान) और ६– प्रत्याख्यान (त्याग)। प्रारम्भ में ये षडावश्यक गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये थे और आज भी श्वेताम्बर परम्परा में मुनि और

गृहस्थ दोनों ही इन षडावश्यक कर्मों की साधना करते हैं। जबकि दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहकर उपेक्षित कर देने पर गृहस्थ के लिये निम्न नवीन षट्कर्म निरूपित किये गये हैं– १. दान, २. पूजा, ३. गुरु की उपासना, ४. स्वाध्याय, ५. संयम और ६. तप। फिर भी इतना निश्चित है कि जैनों में जो षट्कर्म की अवधारणा रही है वह मूलतः उनकी निवृत्तिमार्गी आध्यात्मिक अहिंसक दृष्टि पर आधारित है।

तांत्रिक साधना में भी षट्कर्मों की साधना महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। उनमें अनुशंसित षट्कर्म हैं– १. मारण, २. मोहन, ३. उच्चाटन, ४. आकर्षण, ५. स्तम्भन और ६. वशीकरण।

यह स्पष्ट है कि ये षट्कर्म जैन धर्म की आध्यात्मिक निवृत्तिमार्गी अहिंसक परम्परा के विपरीत हैं। अतः जैनाचार्यों ने तो न कभी इनकी साधना का निर्देश किया और न ही इन्हें उचित माना। फिर भी तांत्रिक साधनाओं में ये प्रचलित थे और तंत्र का जो अंधानुकरण जैन धर्म में हुआ उसके परिणामस्वरूप ये षट्कर्म जैन परम्परा में भी प्रविष्ट हो गये। भैरव–पद्मावती कल्प में मल्लिषेणसूरि ने देवीपूजा के क्रम में इन षट्कर्मों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि दीपन से शांतिकर्म, पल्लव से विद्वेषण कर्म, सम्पुट से वशीकरण, रोधन से बंधकर्म ग्रन्थन से स्त्री आकर्षण कर्म और स्तम्भन कर्म करना चाहिए। आगे मन्त्रों की चर्चा के प्रसंग में वे लिखते हैं कि विद्वेषण कर्म में हूं, आकर्षण में वौषट्, उच्चाटन में फट्, वशीकरण में वषट्, मारण और स्तम्भन में घेँ–घेँ, शांतिकर्म में स्वाहा और पुष्टि कर्म में स्वधा की योजना करनी चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे तंत्रमान्य षट्कर्म जैन धर्म और दर्शन के विरुद्ध रहे हों और जैनाचार्यों ने उनकी स्पष्ट रूप से आलोचना भी की हो, फिर भी परवर्तीकाल में तंत्र का जो असमीक्षित अनुकरण जैन परम्परा में हुआ उसके परिणामस्वरूप कुछ चैत्यवासी श्वेताम्बर जैन यति और दिगम्बर भट्टारक इन षट्कर्मों की साधना करने लगे थे। फिर भी प्रबुद्ध जैन आचार्यों ने प्रत्येक काल में इस प्रकार की प्रवृत्तियों की न केवल निंदा की, अपितु मारण, सम्मोहन आदि षट्कर्मों की इस साधना को जैनधर्म के विरुद्ध भी घोषित किया। जिन्होंने इन्हें स्वीकार किया उन्होंने भी इन्हें निवृत्तिमूलक आध्यात्मिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया। मानतुंगाचार्य विरचित कहे जाने वाले नमस्कारमंत्रस्तवन में कहा गया है–

मुक्खं खेयर पयविं अरिहंता दिंतु पणयाण।
तियलोय वसीयरण मोहं सिद्धा कुणंतु भुवनस्स।

जल जलणए सोलस पयत्थ थंभुंतु आयरिया।

इह लोइय लाभकरा उवज्झाया हन्तु सव्व भय हरणा।

पावुच्चाडण ताडण निउणा साहू सया सरह।।

अर्थात् अर्हत् प्रणतजनों को मोक्ष या देवपद प्रदान करें। सिद्ध तीनों लोकों का वशीकरण और संसार का मोहन करें। आचार्य जल अग्नि आदि सोलहों का स्तम्भन करें और इहलौकिक कल्याण करने वाले उपाध्याय सर्वभयों का हरण करें और साधु पाप के उच्चाटन ताडन आदि कर्मों में सहायक बनें। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने तंत्र सम्मत षट्कर्मों को स्वीकार करके भी उनकी एक नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या की है– नमस्कार मंत्र स्तवन नामक ३५ गाथाओं की यह प्राकृत कृति तांत्रिक साधना के विभिन्न पक्षों को नमस्कार मंत्र की जैन साधना से समन्वित करती है और इस क्रम में उसमें तांत्रिक साधना के षट्कर्मों का आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन भी किया गया है।

फिर भी जैन धर्मानुयायी जनसाधारण के भौतिक कल्याण को लक्ष्य में रखकर जैनाचार्यों को भी आकर्षण, स्तम्भन, वशीकरण आदि के कुछ मन्त्रों का विधान करना पड़ा है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन आचार्यों का मूल दृष्टिकोण तो निवृत्तिपरक एवं आध्यात्मिक ही था किन्तु जब उन्होंने यह देखा कि जैन उपासक भौतिक आकांक्षाओं एवं लौकिक ऐषणाओं की पूर्ति के पीछे भाग रहा है और उस हेतु अन्य तांत्रिक परम्पराओं का सहारा ले रहा है तो उन्होंने उस सामान्य वर्ग को जैन धर्म में टिकाये रखने के लिए या तो अपनी परम्परा के अन्तर्गत ही मन्त्रों का सृजन किया या फिर अन्य परम्पराओं के मन्त्रों को लेकर उन्हें अपने ढंग से योजित किया।

षट्कर्म संबंधी मंत्र

यद्यपि स्तम्भन आदि षट्कर्म जैन परम्परा के अनुरूप नहीं हैं किन्तु लगभग १०वीं–११वीं शताब्दी से जैन परम्परा में तांत्रिक साधना के प्रति आकर्षण बढ़ा और जैन परम्परा में भी तत्संबंधी मंत्रों का निर्माण हुआ। इन षट्कर्म संबंधी मंत्रों में भी हमें दो प्रकार के मंत्र मिलते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के मंत्र प्राकृत भाषा में रचित हैं और इनमें इष्टदेव के रूप में पंच परमेष्ठि या तीर्थंकरों को ही आधार माना गया है किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण तांत्रिक परम्परा के मंत्रों को भी थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया है। 'अ' वर्ग में जैन परम्परा में निर्मित मन्त्र हैं, जबकि 'ब' वर्ग के मंत्र अन्य परम्परा से गृहीत हैं। नीचे हम दोनो ही प्रकार के मंत्रों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्तम्भन संबंधी मंत्र

अग्नि स्तम्भन मंत्र

(ब) ॐ थम्भेइ जलज्जलणं चिंतियमित्तेण पंचणमयारो।

अरिमारिचोरराउलघोरुवसग्गं विणासेइ ।।स्वाहा।।

(जैन परम्परा में निर्मित)

(ब) अग्निस्तम्भिनि! पञ्चदिव्योत्तरणि! श्रेयस्करि! ज्वल--ज्वल प्रज्वल प्रज्वल सर्वकामार्थसाधिनि! स्वाहा।। ॐ अनलपिङ्गलोर्ध्वकेशिनि! महादिव्याधिपतये स्वाहा।।२।। अग्निस्तम्भनयन्त्रम्।।

(अन्य परम्परा से गृहीत)

दुष्टजन स्तम्भन मंत्र

(अ) ॐ नमो भयवदो रिसहस्स तस्स पडिनिमित्तेण चरण पणत्ति इंदेण भणामइ यमेण उग्घाडिया जीहा कंठोट्ठमुहतालुया खीलिया जो मं भसइ जो मं हसइ दुट्ठदिट्ठीए वज्जसंखिलाए देवदत्तस्स मणं हिययं कोहं जीहा खीलिया सेल खिलाए लललल ठठठठ।।

(जैन परम्परा में निर्मित)

(ब) ॐ वार्तालि! वराहि! वराहमुखि! जम्भे! जम्भिनि! स्तम्भे! स्तम्भिनि! अन्धे! अन्धिनि! रुन्धे! रुन्धिनि! सर्वदुष्ट प्रदुष्टानां क्रोधं लिलि मतिं लिलि गतिं लिलि जिह्वां लिलि ॐ ठः ठः ठः।

(अन्य परम्परा से गृहीत)

शत्रुसेना स्तम्भन सम्बन्धी मंत्र

ॐ ह्रीं भैरवरूपधारिणि! चण्डशूलिनि! प्रतिपक्षसैन्यं चूर्णय चूर्णय घूर्म्मय घूर्म्मय भेदय भेदय ग्रस ग्रस पच पच खदय खादय मारय मारय ॐ फट् स्वाहा।।

ज्ञातव्य है कि इस मंत्र में न तो इष्ट देवता के रूप में पंचपरमेष्ठि या जिन का उल्लेख है और न यह प्राकृत भाषा से प्रभावित है अतः यह मंत्र अन्य परम्परा से गृहीत है।

स्त्री आकर्षण संबंधी मंत्र

(अ) ॐ नमो भगवति! अम्बिके! अम्बालिके! यक्षिदेवि! यूँ यौं ब्लैं ह्स्क्लीं ब्लं ह्सौं र र र रां रां नित्यक्लिन्ने! मदनद्रवे! मदनातुरे! ह्रीं क्रों अमुकां वश्याकृष्टिं कुरु कुरु संवौषट्।।

ॐ ह्रीं नमो भगवति! कृष्णमातङ्गिनि! शिलावल्ककुसुमरूपधारिणि! किरातशबरि! सर्वजनमोहिनि! सर्वजनवशंकरि! ह्रां ह्रों ह्रं ह्रैं ह्रः अमुकीं ममं वश्याकृष्टिं कुरु कुरु संवौषट्।।

ये मन्त्र भी अन्य परम्परा से गृहीत हैं, जैन परम्परा में निर्मित नहीं हैं।

वशीकरण मंत्र

(अ) ॐ नमो भगवदो अरिट्ठनेमिस्स बंधेण बंधामि रक्खसाणं भूयाणं खेयराणं चोराणं दाढाणं साइणीणं महोरगाणं अण्णे जे के वि दुट्ठा संभवंति तेसिं सव्वेसिं मणं मुहं गइं दिट्ठिं बंधामि धणु धणु महाधणु जः जः ठः ठः ठः हुं फट्।।

(जैन परम्परा में निर्मित)

ॐ ह्क्ली ह्रीं ऐं नित्यक्लिन्ने! मदद्रवे! मदनातुरे! ममामुकीं! वश्याकृष्टिं कुरु कुरु वषट् स्वाहा।।

(अन्य परम्परा से गृहीत)

ॐ ऐं ह्री देवदत्तस्य सर्वजनवश्य कुरु कुरु वषट्।।

(अन्य परम्परा से गृहीत)

ॐ भ्रम भ्रम केशि भ्रम केशि भ्रम माते भ्रम माते भ्रम विभ्रम विभ्रम मुह्य मुह्य मोहय मोहय स्वाहा।।

(अन्य परम्परा से गृहीत)

ज्ञातव्य है कि मारण, मोहन और उच्चाटन सम्बन्धी जैन परम्परा में निर्मित मंत्र मुझे देखने को नहीं मिले। मेरी दृष्टि में इसका कारण यह है कि जैन आचार्यों ने इस प्रकार के हिंसक वृत्ति प्रधान मंत्रों की रचना को अपनी परम्परा के प्रतिकूल माना हो। यद्यपि जैसा कि पूजाप्रकरण में उल्लेख किया गया है, ज्वालामालिनी और पद्मावती की अर्चना सम्बन्धी कुछ स्तोत्रों में हन् हन् दह दह आदि शब्दों की प्रतिध्वनि अवश्य ही मिलती है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये स्तोत्र तांत्रिक परम्परा से पूर्णतः प्रभावित हैं।

दर्पण संबंधी मंत्र

ॐ नमो मेरु महामेरु, ॐ नमो गौरी महागौरी, ॐ नमः काली महाकाली, ॐ इन्द्रे महाइन्द्रे, ॐ जये महाजये, ॐ नमो विजये महाविजये ॐ नमः पण्णसमणि महापण्णसमणि, अवतर अवतर देवि अवतर अवतर स्वाहा।।

(जैन परम्परा में निर्मित)

ॐ चले चुले चूडे (ले) कुमारिकयोरङ्ग प्रविश्य यथाभूतं यथाभाव्यं यथासत्यं दर्शय दर्शय भगवती मां विलम्बय ममाशां पूरय पूरय स्वाहा।।

सर्पदंश जनित विषापहार संबंधी मंत्र

ॐ नमो भगवते पार्श्वतीर्थङ्गराय हंसः महाहंसः पद्महंसः शिवहंसः कोपहंसः उरगेशहंसः पक्षि महाविषभक्षि हुं फट्।।

(जैन परम्परा में निर्मित)

सामान्यतया जैनाचार्यों द्वारा निर्मित मंत्रों में मारण और उच्चाटन सम्बन्धी मंत्रों का प्रायः अभाव ही है। फिर भी अन्य परम्पराओं के मारण और उच्चाटन सम्बन्धी कुछ मन्त्र जैन परम्परा में भी गृहीत हो गये हैं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि लघुविद्यानुवाद में जो अनेकों मंत्र दिये गये हैं वे मूलतः जैनपरम्परा में विकसित या निर्मित नहीं हैं। जानकारी के लिये इतना बता देना पर्याप्त होगा कि उसमें कृष्ण, हनुमान, ब्रह्म, शंकर, विष्णु आदि से सम्बन्धित भी अनेक मंत्र हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि उन्होंने गुरु परम्परा से या गुटकों आदि में जो भी मंत्र मिले उन्हें बिना किसी समीक्षा के निःसंकोच भाव से ग्रहण कर लिया है यहाँ तक कि उसमें मारण, मोहन या उच्चाटन सम्बन्धी मंत्र भी आ गये हैं, जो जैन परम्परा के अनुकूल नहीं हैं।

शक्रस्तवः मांत्रिक स्वरूप

जैन परम्परा में 'नमस्कारमहामंत्र' और 'चतुर्विंशतिस्तव' के साथ साथ शक्रस्तव का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इसका नाम शक्रस्तव है, किन्तु यह शक्र (इन्द्र) की स्तुति न होकर शक्र के द्वारा की गई अर्हत् (तीर्थंकर) की स्तुति है। वीरस्तव के पश्चात् यह जैन परम्परा का प्राचीनतम स्तोत्र है। इसमें अरहंत (अर्हत्) के गुणों का ही संकीर्तन किया गया है। परमात्मा के ये गुण ही उसके पर्यायवाची नाम भी बन गये। जिसप्रकार नमस्कार महामंत्र और चतुर्विंशतिस्तव

के पदों का प्रयोग विभिन्न मंत्रों के रूप में किया गया, उसी प्रकार इस शक्रस्तव (नमोत्थुण) का प्रयोग भी मन्त्र रूप में हुआ है। मूलतः तो यह शक्रस्तव प्राकृत भाषा में निबद्ध है और भगवती, आवश्यकसूत्र आदि आगमों में मिलता है। मान्त्रिक रूप में जिस शक्रस्तव का प्रयोग किया जाता है वह प्राकृत शक्रस्तव का संस्कृत रूपान्तरण तो है ही किन्तु उसकी अपेक्षा पर्याप्त विकसित है। नमस्कारस्वाध्याय नामक ग्रन्थ में इसे सिद्धसेन दिवाकर विरचित कहा गया है किन्तु यह उनकी रचना न होकर वस्तुतः सिद्धर्षि (९वीं शती) की रचना है इसकी प्रशस्ति में उनका नाम दिया गया है (सिद्धर्षि सद्धर्ममयरत्त्वमेव) मूल प्राकृत शक्रस्तव की टीका हरिभद्र (८वीं शती) ने ललितविस्तर के नाम से लिखी है उसमें शक्रस्तव (नमोत्थुण) में आये हुए अर्हन्त के विशेषणों या गुणों की व्याख्या है। यह मंत्र रूप शक्रस्तव उसकी अपेक्षा भी इस अर्थ में विलक्षण है कि इसमें हिन्दू परम्परा में प्रचलित अनेक नाम मुकुन्द, गोविन्द, अच्युत, श्रीपति, विश्वरूप, हृषीकेश, जगन्नाथ आदि भी आ गये हैं- १ पाठकों की जानकारी के लिए यह शक्रस्तव नीचे दिया जा रहा है-

श्रीसिद्धर्षि विरचितः शक्रस्तवः

ॐ नमोऽर्हतें भगवते परमात्मने परमज्योतिषे परमपरमेष्ठिने परमवेधसे परमयोगिने परमेश्वराय तमसःपरस्तात् यदोदितादित्यवर्णाय समूलोन्मूलतितानादिसकलक्लेशाय।।१।।

ॐ नमोऽर्हते भूर्भुवःस्वस्त्रयीनाथमौलिमन्दारमालार्चितक्रमाय सकलपुरुषार्थयोनिनिरवद्यविद्याप्रवर्तनैकवीराय नमःस्वस्तिस्वधास्वाहावष-ड्र्थैकान्तशान्तमूर्त्तये भवद्भाविभूतभावावभासिनी कालपाशनाशिने सत्त्वरजस्तमोगुणातीताय अनन्तगुणाय वाङ्मनोऽगोचरचरित्राय पवित्राय करणकारणाय तरणतारणाय सात्त्विकजीविताय निर्ग्रन्थपरमब्रह्महृदयाय योगीन्द्रप्राणनाथाय त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सवाय विज्ञानानन्दपर-ब्रह्मैकात्म्यसात्म्यसमाधये हरिहरहिरण्यगर्भादिदेवतापरिकलितस्वरूपाय सम्यक्श्रद्धेयाय सम्यग्ध्येयाय सम्यक्शरणाय सुसमाहितसम्यक्स्पृहणीयाय।।२।।

ॐ नमोऽर्हते भगवते आदिकराय तीर्थंङ्कराय स्वयंसम्बुद्धाय पुरुषोत्तमाय पुरुषसिंहाय पुरुषवरपुण्डरीकाय पुरुषवरगन्धहस्तिने लोकोत्तमाय लोकनाथाय लोकहिताय लोकप्रदीपाय लोकप्रद्योतकारिणे अभयदाय दृष्टिदाय मुक्तिदाय मार्गदाय बोधिदाय जीवदाय शरणदाय धर्मदाय धर्मदेशकाय धर्मनायकाय धर्मसारथये धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिने व्यावृत्तच्छद्मने

अप्रतिहतसम्यग्ज्ञानदर्शनसद्मने।।३।।

ॐ नमोऽर्हते जिनाय जापकाय तीर्णाय तारकाय बुद्धाय बोधकाय मुक्ताय मोचकाय त्रिकालविदे परङ.गताय कर्माष्टकनिषूदनाय अधीश्वराय शम्भवे जगत्प्रभवे स्वयम्भुवे जिनेश्वराय स्याद्वादवादिने सार्वाय सर्वज्ञाय सर्वदर्शिने सर्वतीर्थोपनिषदे सर्वपाषण्डमोचिने सर्वयज्ञफलात्मने सर्वज्ञकालात्मने सर्वयोगरहस्याय केवलिने देवाधिदेवाय वीतरागाय ।।४।।

ॐ नमोऽर्हते परमात्मने परमाप्ताय परमकारुणिकाय सुगताय तथागताय महाहंसाय हंसराजाय महासत्त्वाय महाशिवाय महोबोधाय महामैत्राय सुनिश्चिताय विगतद्वन्द्वाय गुणाब्धये लोकनाथाय जितमारबलाय।।५।।

ॐ नमोऽर्हते सनातनाय उत्तमश्लोकाय मुकुन्दाय गोविन्दाय विष्णवे जिष्णवे अनन्ताय अच्युताय श्रीपतये विश्वरूपाय हृषीकेशाय जगन्नाथाय भूर्भुवःस्वःसमुत्तराय मानंजराय कालंजराय ध्रुवाय अजाय अजेयाय अजराय अचलाय अव्ययाय विभवे अचिन्तयाय असंख्येयाय आदिसंख्याय आदिकेशवाय आदिशिवाय महाब्रह्मणे परमशिवाय एकानेकानन्तस्वरूपिणे भावाभावविवर्जिताय अस्तिनास्तिद्वयातीताय पुण्यपापविरहिताय सुखदुःखविविक्ताय व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय अनादिमध्यनिधनाय नमोऽस्तु मुक्तीश्वराय मुक्तिस्वरूपाय ।।६।।

ॐ नमोऽर्हते निरातङ्काय निर्मलाय निर्द्वन्द्वाय निस्तरङ्गाय निरूर्मये निरामयाय निष्कलङ्काय परमदैवताय सदाशिवाय महादेवाय शङ्कराय महेश्वराय महाव्रतिने महायोगिने महात्मने पञ्चमुखाय मृत्युञ्जयाय अष्टमूर्तये भूतनाथाय अगदानन्दाय जगत्पितामहाय जगद्देवाधिदेवाय जगदीश्वराय जगदादिकन्दाय जगद्भास्वते जगत्कर्मसाक्षिणे जगच्चक्षुषे त्रयीतनवे अमृतकराय शीतकराय ज्योतिश्चक्रचक्रिणे महाज्योतिर्द्योतिताय महातमःपारे सुप्रतिष्ठिताय स्वयंकर्त्रे स्वयंहर्त्रे स्वयंपालकाय आत्मेश्वराय नमो विश्वात्मने ।।७।।

ॐ नमोऽर्हते सर्वदेवमयाय सर्वध्यानमयाय र्वज्ञानमयाय सर्वतेजोमयाय सव्रमत्रमयाय सर्वरहस्यमयाय सर्वभावाभवाजीवाजीवेश्वराय अरहस्यरहस्याय अस्पृहस्पृहणीयाय अचिन्त्यचिन्तनीयाय अकामकामधेनवे असङ.कल्तिकल्पद्रुमाय अचिन्तयचिन्तामणाये चतुर्दशरज्जवातमकजीव लोचूणमणाये चतुरशीतिलक्षजीवयोनिप्राणिनाथाय पुरुषार्थनाथाय परमार्थनाथाय अनाथनाथाय जीवनाथाय देवदानवमानवसिद्धसेनाधिनाथाय।।८।।

ॐ नमोऽर्हते निरञ्जनाय अनन्तकल्याणनिकेतनकीर्तनाय सुगृहीतनामधेयाय (महिमामयाय) धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीशान्त, धीललित पुरुषात्तम पुण्य श्लोक शत

सहस्त्रलक्षकोटि वन्दित पादारविन्दाय सर्वगताय ।।६।।

ॐ नमोऽर्हते सर्वसमर्थाय सर्वप्रदाय सर्वहिताय सर्वाधिनाथाय कस्मैचन क्षेत्राय पात्राय तीर्थाय पावनाय पवित्राय अनुत्तराय उत्तराय योगाचार्याय संप्रक्षालनाय प्रचराय आग्रेयाय वाचस्पतये माङ्गल्याय सर्वातमनीनाय सर्वात्मनीनाय सर्वार्थाय अमृताय सदोदिताय ब्रह्मचारिणे तायिनि दक्षिणीयाय निर्विकाराय वज्रर्षभनाराचमूर्त्तये तत्वदर्शिने पारदर्शिने परमदर्शिने निरुपमज्ञानवलवीर्यतेजः– शक्त्यैश्वर्यमयाय आदिपुरुषाय आदिपरमेष्ठिने आदिमहेशाय महात्योतिःस (स्त) त्त्वाय महार्धिधनेश्वराय महामोहसंहारिणे महासत्त्वाय महाज्ञामहेन्द्राय महालयाय महाशान्ताय महायोगीन्द्राय आयोगिने महामहीय से महाहंसाय हंसराजाय महासिद्धाय शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति महानन्दं महोदयं सर्वदुःखक्षयं कैवल्यं अमृतं निर्वाणमक्षरं परब्रह्म निःश्रेयसमपुनर्भवं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तवते चराचरं अवते नमोऽस्तु श्रीमहावीराय त्रिजगत्स्वामिने श्रीवर्धमानाय ।।१०।।

ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिने (भक्ति र्गयोगिने) विशालशासनाय सर्वलब्धि सम्पन्नाय निर्विकल्पाय कल्पनातीताय कलाकलापकलिताय विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्लवरदाय अष्टादशदोपरहिताय संसृतविश्वसमीहिताय स्वाहा ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।।११।।

लोकोत्तमो निष्प्रतिमरत्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मङ्गलमप्यधीश! ।
त्वामेकमर्हन्! शरणं प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव ।।१।।
त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः ।
प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्र, सत्त्वं तत्त्वं गतिर्मतिः ।।२।।
जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिद्र जगत् ।
जिनो जयति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ।।३।।
यत्किञ्चित् कुर्महे देव!, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजपदस्थस्य, हुं क्षः क्षपय त्वं जिन! ।।४।।
गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं, गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिः श्रयति मां येन, त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थितम् ।।५।।
इति श्रीवर्धमानजिननाममन्त्रस्तोत्रम् । प्रतिष्ठायां शान्तिकविधौ पठितं

महासुखाय स्यात्।

इति शक्रस्तवः

इस शक्रस्तव अथवा जिननाममन्त्र स्तोत्र के पढ़ने, जपने अथवा सुनने का महाप्रभाव बताया गया है। कहा गया है कि इस मन्त्र स्तोत्र का ग्यारह बार पाठ करने पर यह सर्वपापों का निवारण करता है तथा अष्टमहासिद्धि प्रदान करता है। इसका पाठ करने से भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव प्रसन्न होते हैं तथा समस्त व्याधियाँ विलीन हो जाती हैं। केवल इतना ही नहीं, अपितु सभी शत्रु और क्रूरजन उसके प्रति मित्रवत व्यवहार करने लगते हैं। यह जिननाममन्त्र स्तोत्र धर्म अर्थ, काम आदि सभी पुरुषार्थों की सिद्धि करता है।

ग्रह शान्ति सम्बन्धी मन्त्रः—

विभिन्न दुष्टग्रहों के कुप्रभाव को क्षीण करने के लिए जैन आचार्यों ने पंचपरमेष्ठि और तीर्थंकरो से सम्बन्धित निम्न लिखित मन्त्र निर्मित किये है—

तीर्थंकरों से सम्बन्धित ग्रहशांति सम्बन्धी मंत्र

१. रविमहाग्रहमन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पद्मप्रभतीर्थंकराय कुसुलयक्ष मनोवेगा यक्षी सहितायॐ आँ क्रों ऊीं ऊः आदित्यमहाग्रह (मम कुटुंबवर्गस्य)। दुष्टरोगकष्टनिवारणं कुरु कुरु, सर्वशांति कुरु, सर्वसमृद्धि।

कुरु कुरु, इष्टसंपदा कुरु कुरु, अनिष्टनिरसनं कुरु कुरु, धनधान्यसमृद्धि

कुरु कुरु काममांगल्योत्सवं कुरु कुरु हूं फट्।

इस मंत्र का ७००० जप करने से के ग्रह का दुष्प्रभाव शांत होते हैं।

२. सोममहाग्रहमन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते चंद्रप्रभतीर्थंकराय विजययक्षज्वालामालिनीयक्षी सहिताय ॐ आँ क्रों ह्रीं ह्रीं ह्रः सोममहाग्रह मम दुष्टग्रहरोगकष्ट निवारणं सर्वशांति च कुरु कुरु फट्।।

इस मंत्र का ११००० जप करने पर चन्द्रग्रह का प्रकोप शांत होता है।

३. मंगलमहाग्रहमन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते वासुपूज्यतीर्थंकराय षण्मुखयक्ष गांधारीयक्षी सहिताय ॐ आँ क्रों ह्रीं ह्र: मंगलकुजमहाग्रह ममदुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांति च कुरु कुरु हूं फट्।।

इस मंत्र का १०००० जप करने पर मंगल ग्रह का दुष्प्रभाव समाप्त होता है।

४. बुध महाग्रह मन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते मल्लीतीर्थंकराय कुबरेयक्ष अपराजिता यक्षीसहिताय ॐ आँ क्रों ह्रीं ह्र: बुधमहाग्रह मम दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्व शांति च कुरु कुरु हूं फट्।।

५. गुरू महाग्रह मन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वर्धमान तीर्थंकराय मातंगयक्ष सिद्धायिनीयक्षी सहिताय ॐ क्रों ह्रीं ह्रः गुरूमहाग्रह मम दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांति च कुरु कुरु हूं फट्।।

गुरुग्रह की शांति के लिये इस मन्त्र का १९००० जप करना चाहिए।

६. शुक्र महाग्रह मन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पुष्पदंत तीर्थंकराय अजितयक्ष महाकालीयक्षी सहिताय ॐ आं क्रों ह्रीं ह्र: शुक्रमहाग्रह मम दुष्टग्रह रोगकष्ट निवारणं सर्व शांति च कुरू कुरू हूं फट्।।

इस मन्त्र का १६००० जप करने पर शुक्रग्रह का प्रकोप शांत हो जाता है।

७. शनि महाग्रह मन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते मुनिसुव्रततीर्थंकराय बरुणयक्ष बहुरुपिणीयक्षी सहिताय ॐ आं क्रों ह्रीं ह्र: शनिमहाग्रह मम दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारण सर्व शांति च कुरू कुरू हूं फट्।।

इस मन्त्र का २३००० जप करने पर शनिग्रह की कुदृष्टि दूर होती है।

८. राहु महाग्रह मंत्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते नेमितीर्थंकराय सर्वाण्हयक्ष कुष्मांडीयक्षी सहिताय ॐ आं क्रों ह्रीं ह्रः राहुमहाग्रह मम दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्व शांति च कुरु कुरु हूँ फट्।।

इस मन्त्र का १८००० जप करने पर राहुग्रह की शांति होती है।

९. केतुमहा ग्रह मन्त्र

ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पार्श्वतीर्थंकराय धरणेंद्रयक्ष पद्मावती यक्षी सहिताय ॐ आं क्रों ह्रीं ह्रः केतुमहाग्रह मम दुष्टग्रह रोगकष्ट निवारणं सर्व शांति च कुरु फट्।।

इस मन्त्र का ७००० जप करने से केतुग्रह के दुष्प्रभाव शांत होते हैं।

प्रत्येक ग्रह के जितने जप लिखे हों उतना जप करके नवग्रह विधान करें, दशमांश होम करें तो ग्रह की शान्ति होती है, ऐसा विश्वास है।

नमस्कारमंत्र से सम्बन्धित ग्रहशांति के मन्त्र

पंचनमस्कृतिदीपक नामक ग्रन्थ में नमस्कार मन्त्र से सम्बन्धित ग्रहशांति के निम्न मन्त्र विधान दिये गये है–

'ॐ णमो अरिहंताणं', जापस्त्वयुतसम्प्रमः।
चन्द्रदोषं हरेदेतद्, लघौ होमो दशांशकः।।१।।
'ॐ णमो सिद्धाणं' इत्येतज्जप्तं त्वयुतप्रमम्।
सूर्यपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।२।।
'ॐ ह्रीं णमो आयरियाणं' जप्तं त्वयुतसंप्रमम्।
गुरुपीडां हरेदेतद्, दुःस्थिते तद्दशांशकम्।।३।।
ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं' जप्तं त्वयुतसंमितम्।
बुधपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।४।।
'ॐ ह्रीं णमो लोए, सव्वसाहूणं' जप्तं त्वयुतसंप्रमम्।
शनिपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।५।।
'ॐ ह्रीं णमो अरहंताणं' जप्तं दशसहस्त्रकम्।
शुक्रपीडां हरेदेतत्, क्रूरे होमो दशांशकः।।६।।
'ॐ ह्री णमो सिद्धाणं', जप्तं दशसहस्त्रकम्।
मङ्गलव्याधिहरणे, क्रूरे स्याच्च दशांशकः।।७।।
'ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं' जापं दशसहस्त्रकम्।
राहु–केतुद्वये ज्ञेयं, क्रूरे होमो दशांशकः।।८।।

नमस्कारमंत्र के इन पदों के इनमें सूचित विधि से जप करके होम करने पर ग्रहों की क्रूर दृष्टि दूर होकर तत्सम्बन्धी ग्रहपीड़ा समाप्त हो जाती है।

जैन परम्परा में उपलब्ध मन्त्रों के इस अध्ययन से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंचते हैं–

सर्वप्रथम तो जैनों ने अपने नमस्कार महामन्त्र को ही मान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया और इसी क्रम में न केवल नमस्कार मंत्र के पदों की संख्या में विकास हुआ अपितु प्रत्येक पद के साथ बीजाक्षर अर्थात् ॐ ऐं ह्रीं आदि योजित किए गये। इसप्रकार नमस्कार मंत्र को तन्त्र परम्परा में प्रचलित बीजाक्षरों से समन्वित करके जैन आचार्यों ने उसे तन्त्र–साधना की दृष्टि से मान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया। यह स्पष्ट है कि नमस्कार मंत्र के साथ बीजाक्षरों को योजित करने की यह परम्परा तन्त्र से प्रभावित है। मात्र इतना ही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैन आचार्यों ने अन्य परम्पराओं में प्रचलित तान्त्रिक साधना का मात्र अन्धानुकरण नहीं किया है अपितु अनेक स्थितियों में उसे विवेकपूर्वक अपनी परम्परा से योजित भी किया है।

इसी क्रम में हम यह भी पूर्व में निर्दिष्ट कर चुके हैं कि तन्त्रसाधना से प्रभावित होकर जैनों ने न केवल प्रणव (ॐ) को नमस्कार मंत्र से निष्पन्न बताया अपितु प्रत्येक पद के वर्ण आदि का निर्धारण भी किया और आत्मरक्षा, सकलीकरण अंग न्यास, ग्रह–नक्षत्र आदि की शांति के प्रसंग में भी नमस्कार मंत्र को योजित करने का प्रयत्न किया है। जैनाचार्यों ने नमस्कार मंत्र के विविध पदों के आधार पर विविध प्रयोजन सम्बन्धी मंन्त्रों की रचना भी की जिसकी चर्चा सिंहनन्दि विरचित 'पञ्चनमस्कृति दीपिका' के नमस्कार सम्बन्धी मन्त्रों के प्रसंग में हम कर चुके हैं। नमस्कार मंत्र के पश्चात् जैन परम्परा में लब्धिधरों, ऋद्धिधरों के प्रति नमस्कार पूर्वक अनेक मंत्रों की रचना हुई। सर्व प्रथम तो इन पदों में सूरिमन्त्र या गणधरवलय की रचना हुई जिसमें इन लब्धिधारियों को नमस्कार किया गया है। प्रत्येक लब्धिधारी पद में नमस्कार पूर्वक बीजाक्षरों को योजित करके अनेक मंत्र बने और उन मंत्रों की साधनाविधि तथा उनसे होने वाले फलों या उपलब्धियों की भी चर्चा की गयी। इसके पश्चात् 'लोगस्स' और 'नमोत्थुणं' (शक्रस्तव) जो मूलतः प्राचीन स्तुति परक प्राकृत रचनाएं हैं उनके आधार पर भी मंत्रों की रचनाएं हुई। इनमें इन स्तुतिपाठों के अंशों के साथ बीजाक्षरों आदि को योजित करके मंत्र बनाए गए हैं और इनकी साधना से भी विविध लौकिक उपलब्धियों की चर्चा की गयी।

इन मन्त्रों के साथ–साथ जब जैन परम्परा में १६ महाविद्याओं, २४

यक्षिणियों एवं २४ यक्षों, नवग्रह, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि को देवमंडल में सम्मिलित कर लिया गया तो इनसे सम्बन्धित मंत्रों की भी रचनाएँ हुईं, जो पूरी तरह अन्य तान्त्रिक साधना पद्धतियों से प्रभावित हैं। जहां तक पंचपरमेष्ठि, २४ तीर्थंकर और लब्धिधारियों से संबन्धित मंत्रों का प्रश्न है वे मुख्यतया प्राकृत में रचे गए हैं। मात्र बीजाक्षरों अथवा फट्, स्वाहा आदि के रूप में ही उनके साथ संस्कृत शब्दों की योजना की गयी। विद्यादेवियों, यक्षों, यक्षिणियों (शासनदेवियों) से सम्बन्धित जो मंत्र निर्मित हुए हैं वे मुख्यतः संस्कृत भाषा में रचित हैं यद्यपि इनसे सम्बन्धित कुछ मंत्र प्राकृत में भी मिलते हैं। वस्तुतः यक्ष–यक्षी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल (भैरव) नवग्रह, नक्षत्र आदि की अवधारणाओं का जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से संग्रह किया गया। उसके परिणाम स्वरूप तत्संबन्धी मंत्र भी अन्य परम्पराओं से आंशिक परिवर्तनों के साथ गृहीत कर लिए गए। पुनः इन देव–देवियों सम्बन्धी जो भी मंत्र बने उनमें लैकिक उपलब्धियों की ही कामना अधिक रही। यहाँ तक कि मारण, मोहन, उच्चाटन आदि षट्कर्मों से सम्बन्धित मंत्र भी जैन परम्परा में मान्य हो गये जो उसकी निवृत्तिमार्गी अहिंसक परम्परा के विपरीत थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्र साधना के क्षेत्र में जैनों पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव है। विशेष रूप से षट्कर्म सम्बन्धी मन्त्रों में तो उन्होंने अविवेकपूर्वक अन्य परम्पराओं का अन्धानुकरण किया है किन्तु अनेक प्रसंगों में उन्होंने स्वविवेक का परिचय ही दिया है और अपनी परम्परा के अनुरूप मंत्रों की रचना की ताकि सामान्यजन की श्रद्धा को जैनधर्म में स्थित रखा जा सके और जैन परम्परा की मूलभूत जीवन दृष्टि को भी सुरक्षित रखा जा सके।

मंत्राक्षरों का बीज कोश

१. ऊँ – प्रणव बीज, ध्रुवबीज, विनय प्रदीप तथा तेजोबीज
२. ऐं – वाग्बीज एवं तत्त्वबीज
३. क्लीं – कामबीज
४. ह्सौं, ह्सों – शक्ति बीज
५. हो – शिवबीज तथा शासन बीज
६. क्षि – पृथ्वी बीज
७. पु – अपबीज
८. ऊँ – तेजोबीज
९. स्वा – वायुबीज
१०. हा – आकाश बीज
११. ह्रीं – मायाबीज एवं त्रैलोक्यनाथ बीज
१२. क्रौं – अंकुशबीज एवं निरोधबीज

१३. आ — पाशबीज
१४. फट् — विसर्जन तथा चालन बीज
१५. वषट — दहनबीज
१६. वोषट — पूजाग्रहण तथा आकर्षण बीज
१७. संवौषेट् — आकर्षण बीज
१८. ब्लूं — द्रावण बीज
१९. ब्लैं — आकर्षण बीज
२०. ग्लौं — स्तम्भन बीज
२१. ह्सौं — महाशक्तिबीज
२२. वौषट् — आवाहन बीज
२३. क्ष्वीं — विषापहार बीज
२४. चः — चन्द्रबीज
२५. घः — ग्रहणबीज तथा शुत्रबध (मारण) बीज
२६. ए — छलन बीज
२७. द्राँ द्रीं क्लीं ब्लूँ सः — पंच बाण
२८. हूँ — विद्वेषण तथा द्वेषबीज
२९. स्वाहा — शांतिबीज तथा होमबीज
३०. स्वधा — पौष्टिक बीज
३१. नमः — शोधन बीज
३२. ह — गगनबीज
३३. श्रीं — लक्ष्मीबीज
३४. अह — ज्ञान बीज
३५. इँ — विष्णुबीज
३६. इ — हरबीज
३७. लः — तंत्रबीज
३८. क्षः फट् — अस्त्रबीज
३९. यः — वायुबीज
४०. य — वायु बीज
४१. जूँ — विद्वेषण बीज
४२. श्लीं — अमृतबीज
४३. क्षीं — सोमबीज
४४. स्व्र — वादन बीज
४५. हंस — विषापहार बीज
४६. क्ष्म्ल्व्र्यूं — पिंडबीज

अध्याय–६

स्तोत्रपाठ, नामजप एवं मन्त्रजप

तांत्रिक साधना में इष्ट देवता की प्रसन्नता के हेतु ध्यान के साथ–साथ स्तुति, नामसंकीर्तन और जप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इष्ट देवता की स्तुति एवं नामस्मरण के साथ–साथ विभिन्न मंत्रों की सिद्धि के लिए उन मंत्रों का या उनके अधिष्ठायक देवता का विभिन्न संख्याओं में जप करने के विधान भी हमको न केवल हिन्दू–तांत्रिक परम्परा के ग्रन्थों में, अपितु जैन परम्परा के तंत्र सम्बन्धी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या ध्यान साधना के समान ही नामस्मरण या जप साधना की भी जैनों की अपनी कोई मौलिक परम्परा रही है। हमें जैनागमों में और ६वीं शती के पूर्व के जैन ग्रन्थों में जप साधना और उससे संबंधित विधि–विधानों के कोई विशेष उल्लेख देखने को नहीं मिलते हैं। जो भी प्राचीन उल्लेख उपलब्ध हैं वे मात्र स्तुतियों से संबंधित हैं। प्राचीन आगमों में वीरस्तुति (वीरत्थुई), शक्रस्तव (नमोत्थुणं), चर्तुविंशतिस्तव (लोगस्स) और पञ्चनमस्कार से संबंधित संदर्भ ही मिलते हैं।

जैन परम्परा में नामस्मरण एवं जपसाधना के हमें जो भी उल्लेख प्राप्त होते हैं वे सभी प्रायः ६वीं शती के पश्चात् के हैं और मुख्यतः भक्तिमार्गी एवं तांत्रिक परम्परा के प्राभाव से ही विकसित हुए हैं। स्तुतियों से संबंधित संदर्भ आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती एवं आवश्यकसूत्र जैसे प्राचीन आगमों में उपलब्ध है। किन्तु नामस्मरण की परम्परा इससे परवर्ती है। जिनसहस्रनाम का सर्वप्रथम उल्लेख जिनसेन (६वीं शती) के आदिपुराण में मिलता है। मंत्रों के जप संबंधी निर्देश तो इसकी अपेक्षा भी परवर्ती हैं। वे ईसा की १०वीं शताब्दी के बाद के ग्रंथों में ही उपलब्ध होते हैं।

स्तोत्र/स्तुति पाठ और जैनधर्म

वैदिक धारा में स्तुति की परम्परा तो ऋग्वेद के काल से चली आ रही है। जैनपरम्परा में भी प्राचीन आगमिक ग्रंथों में स्तुति या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। आचारांग का उपधानश्रुत (ई०पू० चतुर्थ शती), सूत्रकृतांग की वीरस्तुति (ई०पू० तीसरी शती), भगवतीसूत्र एवं कल्पसूत्र में उपलब्ध शक्रस्तव (लगभग ई०पू० प्रथम शती) तथा आवश्यकसूत्र का चतुर्विंशतिस्तव (ईसा की प्रथम शती) जैन परम्परा के स्तोत्र साहित्य के प्राचीनतम रूप हैं। आज भी श्वेताम्बर जैन क्रियाकाण्डों में नमस्कार मंत्र के साथ–साथ चतुर्विंशतिस्तव और शक्रस्तव के बोले जाने की जीवित परम्परा है। रायपसेनीयसुत्त (लगभग प्रथम–द्वितीय शती)

में सूर्याभदेव के द्वारा जिनपूजा के प्रसंग में ललित पद्यों के द्वारा जिनस्तुति करने के उल्लेख भी मिलते हैं। जैन परम्परा के षडावश्यकों में द्वितीय आवश्यक स्तुति है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि हठयोग के धौति, नेति आदि षट्कर्मों और तन्त्र के मारण आदि षट्कर्मों की अपेक्षा जैनों में जो षडावश्यकों की परम्परा है, वह प्राचीन और उनकी अपनी मौलिक है। साथ ही यह भी सत्य है कि जैन परम्परा में भक्ति तत्त्व का बीजवपन इन्हीं स्तुतियों के द्वारा हुआ है।

स्तुति, नामस्मरण और मंत्र जप में चाहे बाह्य रूप में समानता प्रतीत होती हो, किन्तु उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। स्तवन (गुणसंकीर्तन) और नामस्मरण (नामसंकीर्तन) सकाम और निष्काम दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। जबकि मंत्र जप सकाम या सप्रयोजन ही किया जाता है। जहाँ तक निष्काम स्तुति या गुण संकीर्तन का प्रश्न है उसका मुख्य प्रयोजन मात्र आत्मविशुद्धि ही होता है। जैन परम्परा में वीरस्तुति आदि जो प्राचीन स्तर की स्तुतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अर्हत् या तीर्थंकर के गुणों का निर्देश तो है किन्तु उनमें साधक प्रभु से कोई याचना नहीं करता है। वीरस्तुति एवं शक्रस्तव में हम याचना के तत्त्व का पूर्ण अभाव देखते हैं। जैन स्तुतियों में चतुर्विंशति जिनस्तव (लोगस्स) में ही सर्वप्रथम याचना का स्वर मुखरित हुआ है, किन्तु उसमें साधक प्रभु से आरोग्य, बोधि, समाधि और मुक्ति की ही कामना करता है। आरोग्य भी इसलिए कि साधना निर्विघ्न सम्पन्न हो। इस दृष्टि से उसमें याचना का तत्त्व होते हुए भी जैन–परम्परा के निवृत्तिमार्गी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को पूर्णतः सुरक्षित रखा गया है। साधक प्रभु की स्तुति तो करता है, लेकिन उससे प्रतिफल के रूप में कोई भी लौकिक अपेक्षा नहीं रखता है। आचार्य समन्तभद्र (लगभग छठी शती) ने स्पष्ट रूप से कहा है–

न पूजयार्थस्त्वयिवीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरिताञ्जनेभ्यः।।

हे प्रभु! मैं यह जानता हूं कि स्तुति से आप प्रसन्न होने वाले नहीं हैं, क्योंकि आप वीतराग हैं। यदि आपकी निन्दा भी करूं तो आप रुष्ट भी नहीं होने वाले हैं क्योंकि आप विवान्तवैर हैं। मैं तो आपके पुण्य गुणों का स्मरण केवल इसलिए करना चाहता हूं कि मेरा चित्त दुष्कर्मों और अशुभ वृत्तियों से दूर होकर पवित्र बने।

जैनपरम्परा में स्तुति और नामस्मरण का जो भी महत्त्व या मूल्य है वह केवल अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास की दृष्टि से ही है। उसका उद्घोष है– 'वन्देतद्गुणलब्धये'–अर्थात् प्रभु का वन्दन या स्तवन उनके समान गुणों को

अपनी आत्मा में विकसित करने के लिए ही है, अपनी आत्मा में प्रसुप्त परमात्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए है। अतः जैन–परम्परा में स्तवन या गुणस्मरण का मूल प्रयोजन आत्मविशुद्धि ही रहा है। जैनदर्शन में स्तवन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं–

अजकुलगत केशरी लहेरे, निजपद सिंह निहाल।

तिम प्रभुभक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति संभाल।।

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंह शावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुणसंकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व का शोध कर लेता है। स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है। अतः जैन साधना में भगवान की स्तुति निरर्थक नहीं है। उसमें भगवान की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और व्यक्ति के सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरक भी बनती है। अतः भगवान की स्तुति के माध्यम से व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। वस्तुतः स्तुति परमात्मा के व्याज से अपने ही शुद्ध आत्म स्वरूप का बोध कराती है। यद्यपि इसमें प्रयत्न व्यक्ति का अपना ही होता है, तथापि साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त तो होता ही है। उत्तराध्ययनसूत्र (२६/६) में कहा है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शनविशुद्धि होती है और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। फिर भी इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं, वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण एवं चरित्र की विशुद्धि ही है।

कालान्तर में भक्तिमार्गीय एवं तंत्र के प्रभाव से जैन परम्परा में स्तुति, गुणस्मरण, नामस्मरण आदि का प्रयोजन परिवर्तित हुआ है और जैन परम्परा में भी भक्त अपने आराध्य से आध्यात्मिक विकास के साथ–साथ भौतिक कल्याण की कामना करने लगे। इसके फलस्वरूप वीतराग तीर्थंकरों के और उनके शासनरक्षक यक्ष–यक्षियों के याचना प्रधान स्तोत्र लिखे जाने लगे। इस प्रकार के याचना परक स्तोत्र साहित्य में सर्वप्रथम हमें उवसग्गहर (उपसर्गहर) स्तोत्र मिलता है। इसे भद्रबाहु की कृति माना जाता है किंतु मेरी दृष्टि में यह भद्रबाहु प्रथम की कृति न होकर वराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय (लगभग छठी शती) की कृति होनी चाहिए। इसमें पार्श्वनाथ और उनके यक्ष पार्श्व (धरणेन्द्र) से रोग–व्याधि, सर्पविष, भूत–प्रेत बाधा आदि को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। मेरी दृष्टि में तांत्रिक परम्परा से प्रभावित होकर लिखा गया

जैन परम्परा का यह प्रथम स्तोत्र है। जैनों का इसकी अलौकिक शक्ति में अटूट विश्वास है। वर्तमान युग में भी यह जीवन्त परम्परा है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी शुभकार्य के लिए प्रस्थान करने के पूर्व इस स्तोत्र को किसी मुनि आदि से सुनता है या स्वतः ही उसका पाठ करता है।

कालक्रम में इस प्रकार के लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना को लेकर अनेक स्तोत्र जैनपरम्परा में निर्मित हुए, जिनमें एक ओर भक्त प्रभु के गुणों का गुणगान करता है तो दूसरी ओर उनसे अपने लौकिक जीवन की विघ्नबाधाओं को दूर करने तथा भौतिक सुख सम्पत्ति प्रदान करने की कामना भी करता है। यद्यपि प्रभु से इस प्रकार लौकिक मंगल की कामना करना जैन धर्म की निवृत्तिमार्गी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि के विपरीत है, फिर भी भक्तिमार्गीय एवं तांत्रिक परम्पराओं के प्रभाव से जैन स्तोत्रों में याचना का यह तत्त्व प्रविष्ट होता ही गया और भक्तहृदय वीतराग परमात्मा के सामने भी अपनी लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की प्रार्थना करता रहा। लगभग ६ठी ७वीं शताब्दी के बाद से लेकर आज तक निष्काम आध्यात्मिक भक्तिपरक रचनाओं के साथ-साथ लौकिक प्रयोजनों को लेकर तांत्रिक साधना सम्बन्धी सकामभक्तिपरक स्तुतियों का भी निर्माण होता रहा है। इन रचनाओं को निम्न वर्गों में समाहित किया जा सकता है–

१. नमस्कार मंत्र से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्र
२. तीर्थंकरों से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्र
३. गणधरों, लब्धिधरों या सूरिमंत्र से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्र
४. सरस्वती (श्रुतदेवी) से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्र
५. शासन रक्षक देवी–देवता से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्र।

नमस्कार मंत्र से सम्बन्धित स्तोत्रों में मानतुंग विरचित ३२ गाथाओं का नमस्कारमन्त्रस्तव महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यह कहना तो कठिन है कि यह नमस्कारमन्त्रस्तव भक्तामर के कर्ता मानतुंगाचार्य की ही रचना है, फिर भी तांत्रिक साधना में नमस्कार मंत्र का प्रयोग किस प्रकार हुआ है, इसे अभिव्यक्त करने वाली यह एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन प्राकृत रचना है।

इसी क्रम में दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना सिंहतिलकसूरि (तेरहवीं शती) कृत पंचपरमेष्ठिविद्यामन्त्रकल्प और लघुनमस्कारचक्र है। नवपद सम्बन्धी स्तोत्र भी नमस्कार मंत्र से सम्बन्धित स्तोत्रों में ही अन्तर्गर्भित किए जा सकते हैं। क्योंकि नमस्कार मंत्र के पांच पदों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–ये चार पद जोड़कर नवपद की आराधना की जाती है। ऐसे स्तोत्रों में अज्ञातकृत

नवपदस्तुति का भी अपना महत्त्व है। इस स्तुति में नवपद की आराधना से विद्या, समृद्धि, लब्धि आदि की प्राप्ति की कामना की गयी है।

तीर्थंकरों से सम्बन्धित तांत्रिक स्तोत्रों में मानतुंग विरचित भक्तामरस्तोत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही शाखाओं में इस स्तोत्र की मान्यता है। सामान्य जैन व्यक्ति का यह अटूट विश्वास है कि इस स्तोत्र का पाठ करने से लौकिक विघ्न-बाधाएं, दूर हो जाती हैं। यह सम्पूर्ण स्तोत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति के रूप में लिखा गया है। जैन भक्तों का विश्वास है कि इसके प्रत्येक श्लोक में विशिष्ट प्रकार के लौकिक कल्याण की शक्ति रही हुई है। फलस्वरूप न केवल इसके प्रत्येक श्लोक का मंत्र रूप में प्रयोग किया गया, अपितु इसके प्रत्येक श्लोक के आधार पर यंत्रों का भी विकास हुआ।

इसी क्रम में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कुमुदचन्द्र कृत माने जाने वाले 'कल्याणमंदिरस्तोत्र' का है। यह स्तोत्र भी भक्तामरस्तोत्र के समान ही चमत्कारी शक्ति से युक्त माना जाता है। इस स्तोत्र की रचना २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में हुई है। इस स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक का भी मन्त्र एवं यन्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन दोनों स्तोत्रों के मन्त्रों एवं यन्त्रों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण 'जैन तन्त्रशास्त्र' नामक पुस्तक (संपा० पं० यतीन्द्र कुमार जैन शास्त्री, दीप पब्लिकेशन, आगरा १९८४) में पं० राजेश दीक्षित ने दिया है। इस ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि इन स्तोत्र के किस श्लोक से कौन से लौकिक कष्ट समाप्त होते हैं। यद्यपि ये दोनों स्तोत्र तांत्रिक साधना के प्रयोजन से निर्मित नहीं हुए फिर भी जैन तंत्र साधना में इनका उपयोग किया गया है। उवसग्गहर के पश्चात् पार्श्वनाथ की स्तुति से सम्बन्धित दूसरा महत्त्वपूर्ण स्तोत्र यही कल्याणमंदिर स्तोत्र है।

जैन तांत्रिक साधना में पार्श्वनाथ का विशिष्ट स्थान रहा है। उनसे सम्बन्धित एक अन्य स्तोत्र मानतुंगकृत 'नमिऊण' स्तोत्र है, जो प्राकृत भाषा में है। यह स्तोत्र भक्तामर के कर्ता मानतुंग की ही रचना है यह सिद्ध करना तो कठिन है, किंतु भक्तामरस्तोत्र एवं नमिउण स्तोत्र में विषयगत बहुत कुछ समरूपता अवश्य प्रतीत होती है और इस आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि यह रचना भी उन्हीं मानतुंग की है। तीर्थंकरों से सम्बन्धित तांत्रिक साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाने वाले अन्य स्तोत्रों में नन्दिषेणकृत अजितसांतिथय, मानदेवसूरिकृत तिजयपहुत्त स्तोत्र, अज्ञातकृत बृहद्शांतिस्तव, लघुशांतिस्तव, मुनिसुन्दरसूरिकृत संतिकरथवनं, अभयदेवसूरिकृत जयतिहुवनस्तोत्र,

जिनवल्लभसूरिकृत अजितशांतिस्तव, जिनप्रभसूरिकृत अजितशांतिस्तव, धनञ्जय कविकृत विषापहारस्तोत्र आदि उल्लेखनीय हैं।

तांत्रिक साधना के क्षेत्र में नमस्कार मंत्र और तीर्थंकरों के अतिरिक्त गणधरों और लब्धिधरों के भी स्तोत्र बने हैं। ये स्तोत्र मुख्य रूप से ऋषिमंडल और सूरिमंत्र से सम्बन्धित हैं। इस स्तोत्रों में उद्योतनसूरि (६वीं शती) विरचित पवयणमंगलसारथयं, मानदेवसूरिकृत–सिरिसूरिमंतथुई, सिंहतिलकसूरिकृत सूरिमंत्रथुई पूर्णचन्द्रसूरिविरचित सिरिसूरिविद्यालब्धिस्तोत्र, मुनिसुंदरसूरिकृत सूरिमंत्रअधिष्ठायकस्तवत्रयी, धर्मघोषसूरिकृत इसिमंडलथोत्त, सिंहतिलकसूरि (तेरहवीं शती) कृत ऋषिमंडलस्तव–अज्ञातकृत गणधरवलय आदि अनेक स्तुति स्तोत्र निर्मित हुए हैं। जैन तांत्रिक साधना में पंचपरमेष्ठि तीर्थंकर और लब्धिधरों के साथ–साथ श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सरस्वती से सम्बन्धित स्तोत्रों में बप्पभट्टि (६वीं शती) कृत सरस्वतीकल्प, मल्लिषेणसूरिकृत सरस्वतीमंत्रकल्प, साध्वी शिवार्याकृत सिद्धसारस्वतस्तोत्र, शुभचन्द्रकृत 'शारदास्तवन', जिनप्रभसूरिकृत 'शारदास्तव', आदि उल्लेखनीय हैं।

तीर्थंकरों की शासनरक्षक देव–देवियों के रूप में चक्रेश्वरी, अम्बिका ज्वालामालिनि और पद्मावती का भी जैनतांत्रिक साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। फलतः इनसे संबंधित अनेक स्तोत्रों की रचनाएं जैन आचार्यों ने की। इनमें जिनदत्तसूरिकृत 'चक्रेश्वरीस्तोत्र', अज्ञातकृत 'चक्रेश्वरीअष्टक' वस्तुपालकृत 'अम्बिकास्तोत्र', अज्ञातकृत अम्बिकास्तुति एवं 'अम्बिकाताटङ्क', अज्ञातकृत 'ज्वालामालिनीमंत्रस्तोत्र', श्रीधराचार्य विरचित पद्मावतीस्तोत्र, अज्ञातकृत पद्मावतीकवच एवं पद्मावतीस्तोत्र, इन्द्रनन्दिकृत' पद्मावतीपूजनम्', श्री चंदसूरिविरचित अद्भुतपद्मावतीकल्प, जिनप्रभसूरिविरचित 'पद्मावतीचतुष्पदि' अज्ञातकृत पद्मावती अष्टकस्तोत्र आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

यक्षों एवं क्षेत्रपालों की स्तुति के रूप में भी कुछ स्तोत्र रचे गये, इनमें घण्टाकर्ण महावीर स्तोत्र प्रमुख है। ज्ञातव्य है घण्टाकर्णमहावीर को जैन देवमण्डल में बहुत बाद में स्थान मिला है। प्रस्तुतकृति में मेरा उद्देश्य पाठकों को मात्र यह बताना है कि जैनधर्म में तांत्रिक साधना का जो विकास हुआ उसमें जैनों का मौलिक अंश कितना है और अन्य परम्पराओं से उन्होंने क्या और कितना गृहीत किया है। प्रस्तुत कृति में उन विभिन्न स्तोत्रों, उनके सिद्धि के विधि–विधानों और फलों की चर्चा न करके मात्र पाठकों की जानकारी के लिए उन स्तोत्रों को परिशिष्ट के रूप में ग्रन्थ के अन्त में दिए गये हैं।

जप और जैन धर्म

जप के दो रूप हैं– १. नामजप और २. मंत्रजप। नामजप स्तुति से इस अर्थ में भिन्न हैं, कि जहाँ स्तुति में आराध्य के गुणों का संकीर्तन किया जाता है, वहाँ नाम स्मरण में मात्र उनके नाम का या नामों का संकीर्तन होता है। भक्तिमार्गीय और तांत्रिक परम्पराओं में इस नामस्मरण का अत्यधिक महत्त्व है। जैन परम्परा में भी प्रकारान्तर से नमस्कारमंत्र को सर्वपाप प्रणाशक (सव्वपावप्पणासणो) कहकर नामस्मरण के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक गुजराती जैन कवि कहता है–

"पाप पराल को पुंज बन्यो मानो मेरु आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती सहज प्रजलत सारो।।"

हे प्रभु! पापों का मेरु पर्वत के समान कितना ही बड़ा पुञ्ज क्यों न हो, वह आपकी नामरूपी अग्नि से सहज ही जलकर भस्म हो जाता है। इस प्रकार जैनधर्म में नामस्मरण को सर्व पापों का प्रणाश करने वाला बताया तो गया है, फिर भी प्रभु के नामस्मरण से यहाँ जो पापों के प्रणाश की बात कही गयी है उसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभु प्रसन्न होकर व्यक्ति के पापों को क्षमा कर देंगे, क्योंकि यदि ऐसा मानेंगे तो जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। जैन धर्म दर्शन की अनन्य आस्था कर्मसिद्धान्त में है। वह किसी भी अर्थ में प्रभुकृपा (Grace of God) को स्वीकार नहीं करता है। अतः प्रभु के नामस्मरण से पापों के नाश होने का अर्थ मात्र इतना ही है कि प्रभु के नाम का संकीर्तन करने से व्यक्ति में विनय आदि सद्‌गुणों का विकास होता है और अहंकार आदि दुर्गुण समाप्त होते हैं। चित्तवृत्ति विषय–वासनाओं में नहीं भटकती है और अपने में निहित जिनत्व का और वीतरागता का विकास होता है, बस यही व्यक्ति के पापों के शमन का कारण बनता है। वस्तुतः जैन दर्शन में समस्त पापों या बन्धनों की जड़ है– ममत्व और कषाय। प्रभु के वीतराग स्वरूप का स्मरण करने से राग का प्रहाण होता है और चित्त को प्रभु में एकाग्र करने से कषायों की अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलता है। अतः उनका रस क्षीण हो जाता है।

वस्तुतः जैन दर्शन में वैयक्तिक आत्मा और परमात्मा में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। प्रभु के स्मरण से व्यक्ति वस्तुतः अपने ही आत्मस्वरूप को पहचानता है। वह निज में सोये हुए जिनत्व का दर्शन करता है। यह अपने ही परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार है। फिर भी जैनधर्म में नाम–स्मरण की जो परम्परा विकसित हुई, वह उस पर अन्य भक्तिमार्गीय परम्पराओं के प्रभाव को रेखांकित अवश्य

करती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ तांत्रिक साधना में सभी कार्य गुरुकृपा या दैवीय कृपा से सिद्ध होते हैं, वहाँ जैन परम्परा में वे व्यक्ति के प्रयत्न या पुरुषार्थ से सिद्ध होते हैं। जैन परम्परा में गुरु के महत्त्व को तो स्वीकार किया गया है फिर भी उसने किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति के प्रयत्न और पुरुषार्थ को ही प्रधानता दी है। गुरु और परमात्मा मार्ग का ज्ञान कराते हैं, किन्तु उस पर यात्रा तो व्यक्ति को स्वयं ही करनी होती है और वही यात्रा उसे सिद्धि के लक्ष्य तक पहुँचाती है। अतः उसमें व्यक्ति का साधना रूप पुरुषार्थ या प्रयत्न ही प्रधान है। महत्त्व साधना का है, कृपा का नहीं। जैन परम्परा व्यक्ति को स्वामी बनाती है, याचक या दास नहीं।

नामजप

मेरी दृष्टि में जैन धर्म में नामस्मरण के रूप में सर्वप्रथम अरहंत/सिद्ध पद को जपने की और फिर सम्पूर्ण नमस्कार मंत्र के जपने की परम्परा प्रारम्भ हुई होगी। उसी क्रम में चौबीस तीर्थंकरों, गौतम आदि गणधरों एवं लब्धिधरों के नामस्मरण की परम्पराएँ विकसित हुई, जिनकी पूर्णता सूरिमंत्र की साधना के रूप में हुई। आगे चलकर जब विद्यादेवियों एवं यक्ष--यक्षियों को जैन देव मण्डल का सदस्य मान लिया गया तो उनके भी नामस्मरण की परम्पराएँ विकसित हुईं।

लगभग ८वीं शताब्दी के पश्चात् जब हिन्दू परम्परा में विष्णु सहस्रनाम, शिवसहस्रनाम आदि का विकास हुआ तो उसी का प्रभाव जैन परम्परा पर भी आया। परमात्मा के पर्यायवाची नामों की परम्परा तो जैनधर्म में भी प्राचीनकाल से चली आ रही है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध (लगभग ई०पू० प्रथम शती) में भगवान महावीर के कुछ पर्यायवाची नामों का उल्लेख हुआ है। निर्युक्ति आदि आगमिक व्याख्याओं में इन पर्यायवाची नामों के अर्थ को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया। शक्रस्तव (नमोत्थुणं) में सर्वप्रथम अरहंत के विभिन्न गुणवाची नामों का उल्लेख हुआ है, फिर भी इतना निश्चित है कि जिनसहस्रनाम की परम्परा विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम के अनुकरण के आधार पर ही विकसित हुई है। सर्वप्रथम जिनसेन ने अपने आदिपुराण के पच्चीसवें पर्व में अन्त में जिनसहस्रनाम की चर्चा की है। जिनसेन के पश्चात् सिद्धर्षि, आशाधर, देवविजयगणि, विनयविजय, सकलकीर्ति आदि अनेक जैनाचार्यों ने जिननामशतक, जिनसहस्रनाम आदि नामों से ग्रंथों की रचना की है। इन सभी में शिव या विष्णु के विभिन्न पर्यायवाची नामों को जिन के पर्यायवाची नामों के रूप में स्वीकृत किया गया और उनकी जैन दृष्टि से व्याख्या भी की गई। फिर भी यह सब

जैनधर्म पर बृहद् हिन्दू परम्परा के प्रभाव को रेखांकित अवश्य करता है। इन पर्यायवाची नामों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों के पारस्परिक प्रभाव को समझने में पर्याप्त उपयोगी होगा।

मालाजप

नामस्मरण के क्रम में कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र जपने की परम्परा तो निर्युक्तिकाल अर्थात् ईसा की द्वितीय शती से मिलती है, किन्तु माला से जप करने की परम्परा कब प्रचलित हुई कहना कठिन है। फिर भी मध्यकाल से यह परम्परा चली आ रही है। जैन परम्परा में १०८ मनकों की माला विहित मानी गयी है, मनकों की इस संख्या को जैनों ने पंचपरमेष्ठि के १०८ गुणों से जोड़ा है। उनके अनुसार अरिहंत के बारह, सिद्ध के आठ, आचार्य के छत्तीस, उपाध्याय के पच्चीस और साधु के सत्ताईस गुण माने गये हैं, इस प्रकार पंचपरमेष्ठि के सम्पूर्ण गुणों की संख्या एक सौ आठ होती है और इसी आधार पर माला में भी १०८ मनके रखे जाते हैं। माला किस वस्तु की हो, ऐसा कोई स्पष्ट विधान जैन ग्रंथों में मुझे नहीं मिला। सामान्यतया मूंगा, मोती, स्फटिक आदि रत्नों की, सोने, चांदी आदि धातुओं की एवं तुलसी, रुद्राक्ष, चन्दन आदि काष्ठ वस्तुओं की एवं सूत के मनकों की मालाएं बनती हैं। परवर्ती तांत्रिक ग्रंथों में इन विविध प्रकार की मालाओं से जप करने के विविध फल की चर्चा की गई है। जैन साधु–साध्वी सूत या काष्ठ के मनकों की माला रखते हैं। धातुओं मणि, मोती आदि बहुमूल्य रत्नों की माला जैन साधुओं के दिए वर्ज्य है।

आचार्य देशभूषणजी ने णमोकारमंत्र नामक कृति में और कुंथुसागर जी ने लघुविद्यानुवाद में माला विधान सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु उसका मूल आगमिक आधार क्या है? यह हम नहीं जानते हैं। उनके अनुसार दुष्ट या व्यन्तर देवों के उपद्रव शान्त करने हेतु, किसी का स्तम्भन करने के लिए, रोगशांति या पुत्रप्राप्ति के लिए मोती की माला या कमल के बीजों की माला से जप करना चाहिए। शत्रु उच्चाटन के लिए रुद्राक्ष की माला, सर्व कार्य सिद्धि के लिए पंच वर्ण के पुष्पों से जप करना चाहिए। आँवले के बीज की माला से जप करने पर सहस्रगुना फल मिलता है। लौंग की माला से पाँचहजारगुना, स्फटिक की माला से दसहजारगुना, मोतियों की माला से लाखगुना, कमल बीज की माला से दसलाखगुना और सोने की माला से जप करने से करोड़गुना फल मिलता है। मेरी दृष्टि में जप में माला की अपेक्षा भावों की शुद्धता ही प्रमुख तत्त्व है। मात्र वस्तु विशेष की माला जपने से विशिष्ट फल की प्राप्ति सम्भव नहीं मानी जा सकती है। तन्त्र साधना में माला किस

वस्तु की बनी हो इतना ही पर्याप्त नहीं है, माला किस अंगुली से और कैसे जपना चाहिए, इसके भी कुछ तांत्रिक विधि–विधान उन्होंने बताये हैं। वे कोई श्लोक उद्धृत करके लिखते हैं–

अंगुष्ठजापो मोक्षाय, उपचारे तु तर्जनी,
मध्यमा धनसौख्याय, शान्त्यर्थं तु अनामिका।
कनिष्ठा सर्वसिद्धिदा, तर्जनी शत्रु तु नाशये
इत्यपि पाठान्तरोऽस्ति हि।।

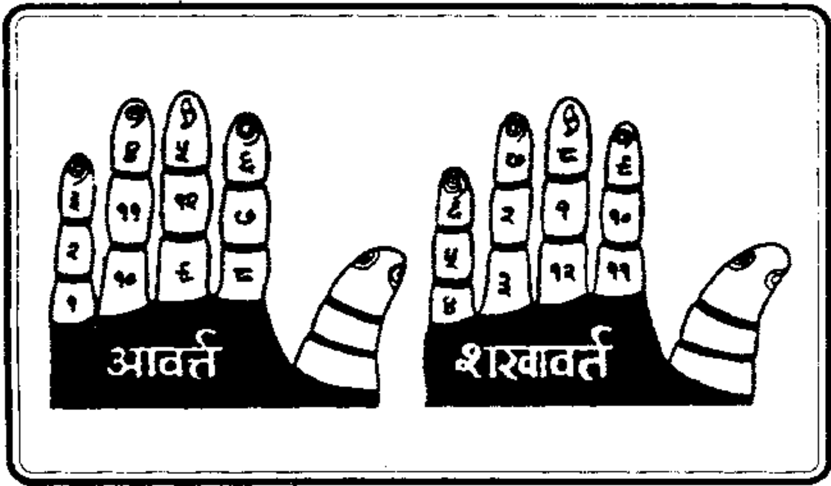
मोक्ष के लिए अंगूठे से उपचार (व्यवहार) के लिए तर्जनी से, धन और सुख के लिए मध्यमा अंगुली से, शांति के लिए अनामिका से और सब कार्यों की सिद्धि के लिए कनिष्ठा से जाप करें। कहीं–कहीं यह भी पाठान्तर है कि शत्रु नाश के लिए तर्जनी अंगुली से जाप करें।,

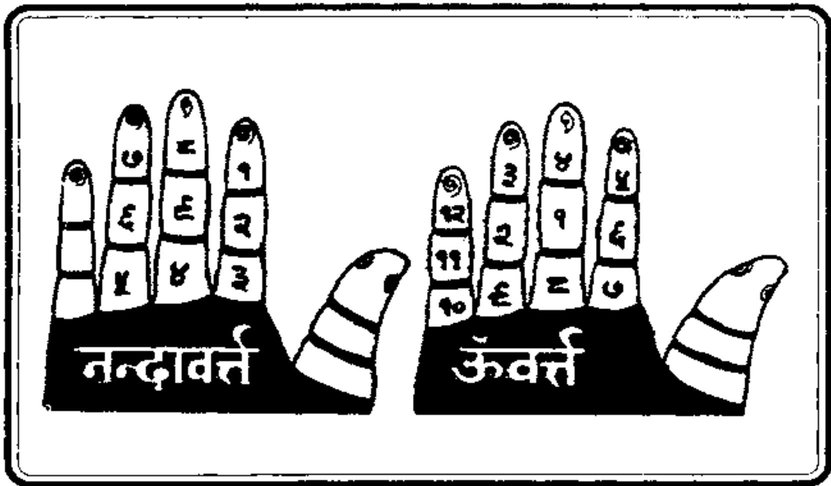
माला दाहिने हाथ में रखनी चाहिए। अंगूठे और तीसरी मध्यमा नामक अंगुली से माला जपना उचित है। दूसरी अंगुली अर्थात् तर्जनी से भूल कर भी माला न फेरें। माला फेरते समय हाथ को हृदय के पास स्पर्श करते हुए रखना चाहिए। माला में जो सुमेरू होता है, उसे लांघना ठीक नहीं है। यदि दूसरी माला फेरनी हो, तो वापस माला बदल कर फेरनी चाहिए।

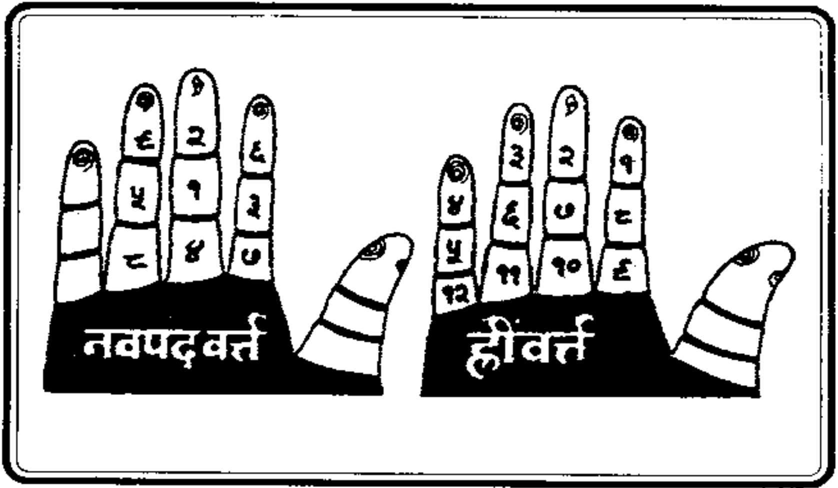
करावर्तजप

हाथ की अंगुलियों के पर्वो के द्वारा जप करना करावर्तजप कहा जाता है। आवर्त से जप करना माला की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। प्राचीन काल में कर–माला से जप किया जाता था, क्योंकि प्रथमतः यह मन की एकाग्रता में अधिक सहायक होता है दूसरे अपरिग्रही जैन साधु के लिए यही सर्व सुलभ मार्ग है। कर–माला के आवर्त छः हैं– १. साधारण आवर्त, २. शंखावर्त ३. नवपद आवर्त ४. ह्री आवर्त, ५. नद्यावर्त ६. ॐ आवर्त।

उदाहरण के लिए हम साधारण आवर्त का परिचय करा देते हैं। दाहिने हाथ की कनिष्ठा अंगुली के नीचे के पौरवें से जपना प्रारम्भ करें। इस प्रकार क्रम से कनिष्ठा के तीनों पौरवे, चौथा अनामिका के ऊपर का, पाँचवां मध्यमा के ऊपर का, छठा तर्जनी के ऊपर का, सातवां तर्जनी के मध्य का, आठवां तर्जनी के नीचे का, नौवां मध्यमा के नीचे का, दशवां अनामिका के नीचे का, ग्यारहवां अनामिका के मध्य का, बारहवां मध्यमा के मध्य का–इस प्रकार बारह जप हुए। इस प्रकार नौ बार जप कर लेने से एक माला पूरी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य आवर्तों को भी नीचे के चित्रों से समझ लेना चाहिए।


आवर्त्त
शखावर्त


नन्दावर्त्त
ऊँवर्त्त



अन्य आवर्तजप

शरीर के विभिन्न अंगों में पांच पदों का स्थापन करके भी जप किया जाता है। इसका एक रूप है पद्मावर्त, इसके नमस्कारमंत्र के प्रथमपद 'नमोअरहंताणं' का ब्रह्मरंध्र में, दूसरे पद का ललाट में, तीसरे पद का कंठ में, चौथे पद का हृदय में और पांचवें पद का नाभि कमल में स्थापन करके पंच परमेष्ठि का जप करें। इस पद्मावर्त का दूसरा क्रम इस प्रकार है, प्रथम पद ब्रह्मरंध्र में, दूसरा ललाट में, तीसरा चक्षु में, चौथा श्रवण में और पांचवां मुख में स्थापित करके जप करें।

तीर्थंकरों के नाम का आवर्तजप

सिद्धावर्त में वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों, का जप किया जाता है। दोनों हाथों को मुख के सामने रखकर दोनों हाथों की आयुष्य रेखा को बराबर मिलावें, जिससे सिद्धशिला की आकृति आभासित होने लगे। इसके बाद दोनों हाथों की आठों अंगुलियों के चौबीस पर्वों पर निम्न चित्र के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों का 'ॐ ह्रीं श्रीं ऋषभदेवाय नमः, 'ॐ ह्रीं श्रीं अजितनाथाय नमः' 'ॐ ह्रीं श्रीं संभवनाथाय नमः' आदि का जप करें।

आनुपूर्वी

जैन परम्परा में जप की एक अन्य विधि प्रचलित है जिसमें संख्याओं

को उल्टे सीधे क्रम में रखकर उनके आधार पर नमस्कार मंत्र का जप किया जाता है।

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

१	२	४	३	५
२	१	४	३	५
१	४	२	३	५
४	१	२	३	५
२	४	१	३	५
४	२	१	३	५

१	३	४	२	५
३	१	४	२	५
१	४	३	२	५
४	१	३	२	५
३	४	१	२	५
४	३	१	२	५

२	३	४	१	५
३	२	४	१	५
२	४	३	१	५
४	२	३	१	५
३	४	२	१	५
४	३	२	१	५

१	२	३	५	४
२	१	३	५	४
१	३	२	५	४
३	१	२	५	४
२	३	१	५	४
३	२	१	५	४

१	२	५	३	४
२	१	५	३	४
१	५	२	३	४
५	१	२	३	४
२	५	१	३	४
५	२	१	३	४

१	३	४	२	४
३	१	५	२	४
१	५	३	२	४
५	१	३	२	४
३	५	१	२	४
५	३	१	२	४

२	३	५	१	४
३	२	५	१	४
२	५	३	१	४
५	२	३	१	४
३	५	२	१	४
५	३	२	१	४

१	२	४	५	३
२	१	४	५	३
१	४	२	५	३
४	१	२	५	३
२	४	१	५	३
४	२	१	५	३

१	२	५	४	३
२	१	५	४	३
१	५	२	४	३
५	१	२	४	३
२	५	१	४	३
५	२	१	४-	३

१	४	५	२	३
४	१	५	२	३
१	५	४	२	३
५	१	४	२	३
४	५	१	२	३
५	४	१	२	३

२	४	५	१	३
४	२	५	१	३
२	५	४	१	३
५	२	४	१	३
४	५	२	१	३
५	४	२	१	३

१	३	४	५	२
३	१	४	५	२
१	४	३	५	२
४	१	३	५	२
३	४	१	५	२
४	३	१	५	२

१	३	५	४	२
३	१	५	४	२
१	५	३	४	२
५	१	३	४	२
३	५	१	४	२
५	३	१	४	२

१	४	५	३	२
४	१	५	३	२
१	५	४	३	२
५	१	४	३	२
४	५	१	३	२
५	४	१	३	२

३	४	५	१	२
४	३	५	१	२
३	५	४	१	२
५	३	४	१	२
४	५	३	१	२
५	४	३	१	२

२	३	४	५	१
३	२	४	५	१
२	४	३	५	१
४	२	३	५	१
३	४	२	५	१
४	३	२	५	१

२	३	५	४	१
३	२	५	४	१
२	५	३	४	१
५	२	३	४	१
३	५	२	४	१
५	३	२	४	१

२	४	५	३	१
४	२	५	३	१
२	५	४	३	१
५	२	४	३	१
४	५	२	३	१
५	४	२	३	१

३	४	५	२	१
४	३	५	२	१
३	५	४	२	१
५	३	४	२	१
४	५	३	२	१
५	४	३	२	१

आनुपूर्वी जप विधि

जहाँ १ है, वहाँ 'नमो अरिहन्ताणं' का उच्चारण करे।
जहाँ है, वहाँ 'नमो सिद्धाणं' का उच्चारण करे।
जहाँ है, वहाँ 'नमो आयरियाणं' का उच्चारण करे।
जहाँ है, वहाँ ' नमो उवज्झायाणं' का उच्चारण करे।
जहाँ है, वहां 'नमो लोएसव्वसाहूणं' का उच्चारण करे।

आनुपूर्वी जप का फल

आनुपूर्वी प्रतिदिन जपिये! चंचल मन स्थिर हो जावे।
छह मासी तप का फल होवे, पाप पंक सब धुल जावे।
मन्त्रराज नवकार हृदय में शान्ति सुधारस बरसाता।
लौकिक जीवन सुखमय करके अजर अमर पद पहुँचाता।
जिनवाणी का सार है, मन्त्र राज नवकार।
भाव सहित जपिये सदा यही जैन आचार।।

आनुपूर्वी की संख्यात्मक तालिकाएं अग्रिम पृष्ठों में दी जा रही हैं—

जप में आसन–विधान

जप किस वस्तु के आसन पर बैठकर किया जाये इसके भी कुछ विधि–विधान हैं। बांस की चटाई पर बैठकर जप करने से दारिद्र्य प्राप्त होता है, शिला पर बैठकर जप करने से व्याधि हो सकती है। भूमि पर जप करने से दुःख प्राप्त होता है। लकड़ी के पाट पर बैठकर जप करने से दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है। घास की चटाई पर बैठकर जप करने से अयश प्राप्त होता है। पत्तों के आसन पर बैठकर जप करने से व्यक्ति भ्रमित हो सकता है। कथरी पर बैठकर जप करने से मन चंचल होता है। चमड़े के आसन पर बैठकर जप

करने से ज्ञान नष्ट हो जाता है। कंबल पर बैठकर जप करने से मानभंग हो जाता है। अतः सर्वधर्म कार्य सिद्ध करने के लिए दर्भासन (डाभ का आसन) उत्तम हैं।

मेरी दृष्टि में यह आसन विधान तांत्रिक परम्परा से ही गृहीत हुआ है। श्वेताम्बर साधु तो सामान्यतया कम्बल के आसन पर बैठकर ही जप आदि किया करते हैं।

जप में वस्त्रों के रंग का भी महत्त्व है। सामान्यतया तांत्रिक साधना में लालरंग के वस्त्रों से जप करने का विधान है। किस रंग के वस्त्र पहनकर जप करने से क्या लाभ होता है इसके भी उल्लेख हैं। नीले रंग के वस्त्र पहन कर जप करने से मान भंग होता है। श्वेत वस्त्र पहनकर जप करने से यश की वृद्धि होती है। पीले रंग के वस्त्र पहनकर जप करने से हर्ष बढ़ता है। लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हेतु ध्यान में लाल रंग के वस्त्र श्रेष्ठ माने गये हैं।

जपस्थलविधान

जप किस स्थल पर किया जाये इस सम्बन्ध में निम्न मान्यता है–

गृहे जपफलं प्रोक्तं वने शतगुणं भवेत्।
पुण्यारामे तथा रण्ये सहस्रगुणितं मतम्।।
पर्वते दशहसहस्रं च नद्यां लक्षमुदाहृतम्।
कोटिर्देवालये प्राहुरनन्तं जिनसन्निधौ।।

अर्थात् घर में जप करने का जो फल होता है उससे सौगुना फल वन में जप करने से होता है। पुण्य क्षेत्र तथा अरण्य में जप करने से हजारगुना फल होता है। पर्वत पर जप करने से दसहजारगुना, नदी के किनारे जप करने से एकलाखगुना, देवालय (मन्दिर) में जप करने से करोड़ गुंना फल होता है। भगवान की प्रतिमा के सान्निध्य में जप करने से अनन्तगुना फल मिलता है। मुझे प्राचीन जैन ग्रन्थों में ऐसा कोई विधान देखने को नहीं मिला। मेरी दृष्टि में यह विधान भी आचार्य श्री देशभूषणजी ने कहीं से अवतरित किया है। मुझे १२वीं शताब्दी के पश्चात् के कुछ ग्रन्थों में इस प्रकार के संदर्भ उपलब्ध हुए हैं। श्राद्धविधि प्रकरण में किसी, अन्य आचार्य के मत को अभिव्यक्त करते हुए रत्नशेखर सूरि ने नन्द्यावर्त, शंखावर्त आदि करजाप के प्रकारों का उल्लेख किया है। उसमें यह भी लिखा है कि जो कर आवर्त से ९ बार इस पंचनमस्कार मंत्र का पाठ करता है उससे पिशाचादि छल नहीं कर सकते। उसी ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि जो करजाप करने में समर्थ न हो उसे सूत, रत्न अथवा

रुद्राक्ष की माला से जप करना चाहिए। जप करते समय माला को हृदय के समीप किन्तु शरीर, परिधान और स्थल से विलग रखकर मेरु का उल्लंघन नहीं करते हुए जपना चाहिए। मात्र यही नहीं उसमें यह भी बताया गया है कि जो अंगुली के अग्रभाग से माला जपता है अथवा जो जप में माला के मेरु का उल्लंघन करता है अथवा जो व्यग्रचित्त से माला जपता है उसे अल्प फल ही प्राप्त होता है। उसी क्रम में उसमें यह भी बताया गया है कि सशब्द जप की अपेक्षा मौन जप और मौन जप की अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है। इसकी चर्चा हमने जप के प्रकारों में की है–

बन्धनादिकष्टे तु विपरीतशङ्खावर्त्तादिनाक्षरैः पदैर्वा विपरीतं नमस्कारं लक्षाद्यपि जपेत्, क्षिप्रं ल्केशनाशादि स्यात्। करजापाद्यशक्तस्तु सूत्ररत्नरुद्राक्षादिजपमालया स्वहृदयसमश्रेणिस्थया परिधानवस्त्रचरणादावलगन्त्या मेर्वनुल्लङ्घनादिविधिना जपेत् यतः–

"अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरुलङ्घने।
व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत्।।१।।
सङ्कुलाद्विजने भव्यः, सशब्दान्मौनवान् शुभः।
मौनजान्मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाघ्यः परः परः।।२।।

यह सत्य है कि मन को एकाग्र करने में और भावों की विशुद्धि हेतु माला आसन, आदि स्थान का अपना महत्त्व है। फिर भी इनके भेद से जप के फल में इतना अंतर मानना युक्तिसंगत नहीं लगता है।

मालाजप के विविधरूप

नमस्कार मंत्र के किसी एक पद की अर्थात् सम्पूर्ण नमस्कार मंत्र की माला जपने की परम्परा प्रचलन में आयी। नमस्कार मंत्र के पांच पदों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ऐसे चार पदों को जोड़कर नवपदों की माला का प्रचलन हुआ। तीर्थंकरों में से किसी तीर्थंकर विशेष के नाम की माला फेरने की परम्परा भी प्राचीन काल से लेकर आज तक जीवित है। साधक के लौकिक प्रयोजन विशेष के आधार पर किसी तीर्थंकर विशेष के नाम की माला फेरने का निर्देश जैन–परम्परा के ग्रंथों में मिलता है। लौकिक प्रयोजनों को लेकर चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि देवियों, मणिभद्र आदि यक्षों और नाकोड़ा आदि भैरवों की माला भी जपी जाती है।

मंत्र–जप

जहाँ तक मंत्र–जप का प्रश्न है प्राचीन जैनागमों में हमें मंत्र–जप और उसके विधि–विधान के संबंध में कहीं कोई संदर्भ प्राप्त नही होता। जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं जैन परम्परा में मन्त्रों की रचना पञ्चपरमेष्ठि, नवपद, चौबीस तीर्थंकर, गणधर और लब्धिधर के नामों के साथ तान्त्रिक परम्परा के बीजाक्षरों को योजित करके मन्त्रों की रचना हुई। कालक्रम में श्रुतदेवता (सरस्वती), श्री देवता (लक्ष्मी), सोलह विद्यादेवियों, चौबीस यक्षों और चौबीस यक्षिणियों के नामों के साथ भी बजाक्षरों की योजना करके मन्त्रों की रचनाएँ हुईं। यह ज्ञातव्य है कि विद्यादेवियों एवं यक्ष–यक्षियों के कुछ नाम जैसे अम्बिका, चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, गौरी, गंधारी आदि को छोड़कर उपास्य के नाम तो जैन परम्परा के अपने है, किन्तु मन्त्र रचना में जो ॐ, ह्रीं, क्रीं आदि बीजाक्षर तथा टिरि, किरि, वग्गु वग्गु, फग्गु फग्गु आदि पद अन्य तान्त्रिक परम्पराओं से ही जैनाचार्यों ने गृहीत किये हैं। हाँ इतना अवश्य है कि उनकी योजना जैनाचार्यों अपनी परम्परा के अनुसार की है। किस मन्त्र का किस विधि से कितना जप करना चाहिए इसका विधान भी जैन आचार्यों ने अपने स्वविवेक से किया है– यद्यपि इस विधान–निर्धारण में वे हिन्दू तान्त्रिक परम्पराओं से प्रभावित अवश्य हुए हैं। किस प्रयोजन से किस मन्त्र का किस विधि–विधान से कितनी संख्या में जप करना चाहिए इन सबकी चर्चा मन्त्रों के प्रसंग में की जा चुकी है अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है। प्रयोजनों के आधार पर मन्त्र–साधना में वस्त्र, माला आसन, आदि किस वस्तु के और किस रंग के हों इसका निर्धारण भी जैनाचार्यों ने अपने ढंग से किया है किन्तु इस सम्बन्ध में वे अन्य तान्त्रिक परम्पराओं से प्रभावित अवश्य रहे। पञ्चपरमेष्ठि, नवपद, चौबीस तीर्थंकर आदि के वर्णों की कल्पना जैनों की अपनी है किन्तु इस कल्पना के मूल में तन्त्र के प्रभाव को रेखांकित अवश्य किया जा सकता है।

जप के प्रकार

हिन्दू तान्त्रिक परम्परा में जप के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख अनेक दृष्टिकोणों से किया गया है। जैसे नित्य जप और नैमित्तिकजप, सकामजप और निष्कामजप, विहितजप और निषिद्धजप, चलजप और अचलजप, प्रदक्षिणाजप और स्थिरासनजप, भ्रमरजप और अखण्डजप, प्रायश्चित्तजप और अप्रायश्चित्त जपमानसिक जप, और वोचिकजप उपांशुजप और अजपाजप आदि। जहाँ तक जैन परम्परा में जप के इन विविध प्रकारों की मान्यता का प्रश्न है, इनमें ऐसा कुछ भी नही है जो उन्हें अमान्य हो, फिर भी जैन ग्रन्थों में मुझे इस प्रकार के वर्गीकरण देखने को नहीं मिले। मात्र एक सन्दर्भ श्री रत्नशेखरसूरि विरचित श्राद्धविधि प्रकरण का मिलता है, जिसे नमस्कार स्वाध्याय

नामक ग्रन्थ (पृ०३१८) से उद्धृत किया गया है। उनके अनुसार जप के तीन प्रकार है–१ सशब्दजप २ मौनजप और ३ मानसजप इनमें सशब्द जप की अपेक्षा मौनजप और मौन जप की अपेक्षा मानसजप श्रेष्ठ माना गया है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि हेतु पादलिप्तसूरिकृत, प्रतिष्ठापद्धति का सन्दर्भ भी दिया है। पादलिप्तसूरि के अनुसार जप तीन प्रकार का है– (१) मानस (२) उपांशु और (३) भाष्य।

(१) मानसजप

जिस जप में मात्र मन की प्रवृत्ति हो, वचन व्यापार और कायिक व्यापार निवृत्त हो गया हो तथा जो जप मात्र स्वसंवेद्य हो वह मानस जप है।

(२) उपांशुजप

जो जप दूसरों को सुनाई न दे, किन्तु अन्तर में सशब्द (सजल्प) हो वह उपांशु जप है।

(३) भाष्यजप

जो जप सशब्द हो और दूसरे को सुनाई दे, वह भाष्य जप है।

पादलिप्तसूरि ने इन तीनों जपों को यथाक्रम उत्तम, मध्यम और अधम माना है। इन तीनों को क्रमशः मानसिक, कायिक और वाचिक भी कहा है। मानसजप मानसिक जप है, उपांशु जप कायिक जप है और वाचिक जप ही भाष्य (श्रूयमाण) जप है। वे प्रतिष्ठापद्धति में लिखते हैं–

"जापस्त्रिविधे मानसोपांशुभाष्यभेदात् तत्र मानसो मनोमात्रप्रवृत्तिनिर्वृत्तः स्वसंवेद्यः, उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणेऽन्तः सञ्जल्परूपः, यस्तु परैः श्रूयते स भाष्यः, अयं यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसिद्धिषु शान्तिपुष्ट्यभिचारादिरूपासु नियोज्यः, मानसस्य प्रयत्नसाध्यत्वाद् भाष्यस्याधमसिद्धिफलत्त्वादुपांशुः साधारणत्वात्प्रयोज्यः इति।"

स्तोत्रपाठ, जप, ध्यान आदि का पारस्परिक सम्बन्ध

जैन आचार्यों ने पूजा, स्तोत्रपाठ (गुणसंकीर्तन), जप, ध्यानादि के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि–

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमोजपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यान कोटिसमो लयः।।

—उद्धृत श्राद्धविधिप्रकरण (रत्नशेखरसूरि १५वीं शती) पृ० ८६

स्तोत्र पाठ करोड़ पूजा के समकक्ष होता है, जप करोड़ स्तोत्रपाठ के समकक्ष होता है, ध्यान करोड़ जप से भी श्रेयस्कर है और लय अर्थात् निर्विकल्प समाधि तो करोड़ ध्यान से भी श्रेष्ठ है।

पूजा, स्तोत्र पाठ, जप और ध्यान की क्रमिक श्रेष्ठता के संबंध में जैन आचार्यों के इस दृष्टिकोण से यह फलित होता है कि उनका मुख्य उद्देश्य तो चित्त को विकल्प रहित या तनाव रहित बनाना ही है। जो साधन चित्त को जितना अधिक निर्विकल्प या तनाव मुक्त बनाने में समर्थ हो उसे उतना ही श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि जैन परम्परा में स्तोत्र पाठ जप, ध्यान आदि की श्रेष्ठता और कनिष्ठता का विचार किया गया है किन्तु साधना के क्षेत्र में जप और ध्यान क्षेत्रों का सम्बन्ध मानसिक एकाग्रता से है। यह एकाग्रता सदैव समानरूप से नहीं रह सकती। इसीलिए जिस समय जिस प्रकार की मानसिक एकाग्रता की स्थिति हो उसी के अनुसार साधना करनी चाहिए क्योंकि ध्यान की अपेक्षा जप में और जप की अपेक्षा स्तोत्रपाठ में एकाग्रता लाना सहज होता है। इसीलिए जैन आचार्यों ने यह माना है कि यदि चित्त जप और ध्यान से श्रान्त हो गया हो तो स्तोत्र पाठ करना चाहिए। श्राद्धविधिप्रकरण में रत्नशेखरसूरि लिखते हैं—

जपश्रान्तो विशेद् ध्यानं, ध्यानश्रान्तो विशेज्जपम्।
द्वयश्रान्तः पठेत् स्तोत्रम्—, इत्येवं गुरुभिः स्मृतम्।।२।।

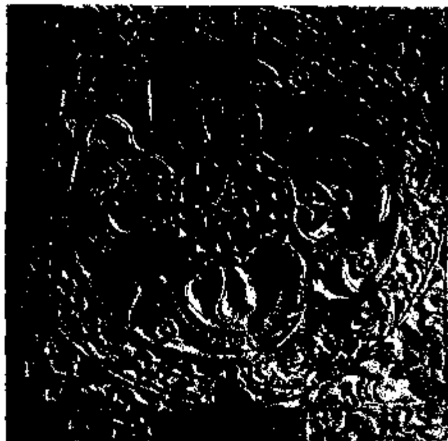
अध्याय ७
यन्त्रोपासना और जैनधर्म

अन्य तान्त्रिक परम्पराओं के समान जैन धर्म में भी मन्त्रों के साथ–साथ यन्त्रों का भी विकास हुआ है। यन्त्र ज्यामितीय आकृतियों के आधार पर निर्मित किये जाते हैं, जिनके अन्दर विविध मन्त्र एवं संख्याएँ एक निश्चित क्रम में लिखे हुए होते हैं। जहाँ मन्त्र ध्वनिरूप होते हैं और उनका जप किया जाता है, वहाँ यन्त्र आकृतिरूप होते हैं और उनका धारण या पूजन होता है। रचना स्वरूप की अपेक्षा से यन्त्र दो प्रकार के होते हैं– (१) जिनमें बीजाक्षर या मन्त्र लिखे जाते हैं एवं (२) वे जिनके अन्दर विशिष्ट क्रम में संख्याएँ लिखी जाती हैं। प्रथम प्रकार के उदाहरण ऋषिमण्डल, परमेष्ठिविद्यायंत्र आदि हैं, जबकि दूसरे प्रकार के उदाहरण नमस्कारमंत्रआनुपूर्वीयन्त्र, पैसठियाँ यन्त्र आदि हैं। पुनः पूजन और धारण की अपेक्षा से भी यन्त्र दो प्रकार के होते हैं, जिनका धारण किया जाता है वे धारणयंत्र होते हैं और जिनका पूजन किया जाता है वे पूजा यन्त्र कहलाते हैं। पूजायंत्र सामान्यतया स्वर्ण, रजत या ताम्र पत्रों पर अंकित होते हैं जबकि धारणयन्त्र भोजपत्र, कागज आदि पर लिखे जाते हैं और ताबीज आदि के रूप में धारण किये जाते हैं। जैन परम्परा में पूजायन्त्र और धारण यन्त्र दोनों ही प्रचलन में हैं। जैन परम्परा में पूजायन्त्र का सर्वप्राचीन रूप मथुरा के आयागपट्टों में मिलता है। ये आयागपट्ट ईसापूर्व प्रथमशताब्दी से ईसा की तीसरी शती के मध्य निर्मित हैं। ये यन्त्रोपासना के प्राचीन उत्तम रूप हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि जैनधर्म में पूजायंत्रों की अपेक्षा धारणयंत्र परवर्तीकाल में तन्त्र के प्रभाव से ही अस्तित्व में आये हैं।

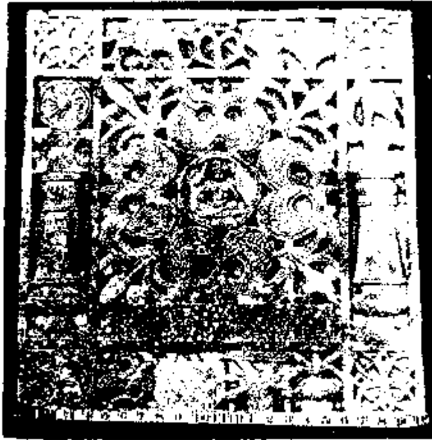
जहाँ तक यन्त्रों की कार्य शक्ति का प्रश्न है, मन्त्र के समान यन्त्र को भी पौद्गलिक ही माना गया है, अतः यन्त्रों की प्रभावशीलता भी यान्त्रिक ही होगी। यन्त्राकृतियों और उनमें लिखित बीजाक्षरों, मन्त्रों और संख्याओं की कितनी क्या प्रभावशीलता होती है, यह एक स्वतन्त्र शोध का विषय है और वैज्ञानिक विधि से प्रयोगात्मक आधारों पर ही उसे सिद्ध किया जा सकता है। प्रामाणिक शोधों के अभाव में यन्त्रों की प्रभावशीलता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है, फिर भी जैन परम्परा में पूजाविधान एवं प्रतिष्ठा आदि कार्यों में सम्पूर्ण आस्था के साथ यन्त्रों का प्रयोग होता है। इन जैन यन्त्रों की, अन्य तान्त्रिक साधनाओं में प्रयुक्त यन्त्रों से आकृतिगत समानताओं के अतिरिक्त अन्य समानताएँ अल्प ही हैं, क्योंकि इन यन्त्रों में लिखे जाने वाले बीजाक्षरों, मन्त्रों अथवा संख्या आदि की योजना जैन आचार्यों ने अपने ढंग से की है। आगे हम 'मंगलम', जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भैरवपद्मावतीकल्प तथा लघुविद्यानुवाद आदि ग्रन्थों से कुछ प्रमुख जैन यन्त्र प्रस्तुत कर रहे हैं।

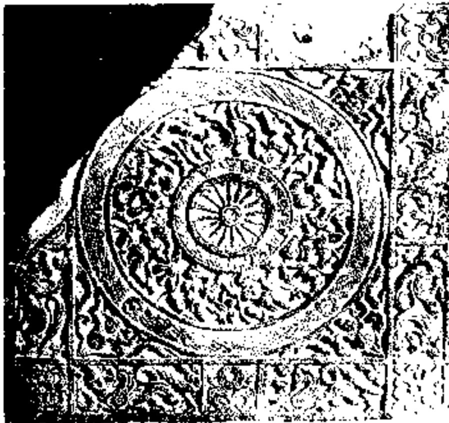
मथुरा के आयागपट्ट: प्राचीनतम् जैन यन्त्र

पूजा यन्त्रों का सबसे प्राचीनतम रूप मथुरा के आयागपट्टों में मिलता हैं। यद्यपि ये आयागपट्ट अन्य पूजा यन्त्रों से कुछ अर्थों में भिन्न हैं, सर्वप्रथम तो यह कि जहां पूजा यन्त्र स्वर्ण, रजत या ताम्रपत्रों पर अंकित होते हैं, वहां ये आयागपट्ट पत्थरों पर ही उत्कीर्ण हैं। दूसरे, पूजा यन्त्रों में सामान्यतया बीजाक्षर, मन्त्र अथवा एक विशिष्ट क्रम में संख्याएं लिखी होती हैं। इन आयागपट्टों में न तो बीजाक्षर अंकित हैं और न ही संख्याएँ। ये मात्र कलात्मक आकृतियां हैं जिनके मध्य में 'जिन' का अंकन है। बीजाक्षरों या मन्त्रों के स्थान पर इन आयागपट्टों में स्वस्तिक, मीनयुगल आदि अष्टमंगल उत्कीर्ण हैं। कलात्मक दृष्टि से इन आयागपट्टों में अष्टमंगल, धर्मचक्र, स्वस्तिक और रत्नत्रय का अंकन प्रमुख रूप से हुआ है। एक आयागपट्ट में चार मीन आकृतियों को जोड़कर अत्यन्त सुन्दर ढंग से स्वस्तिक की रचना की गयी है। इसके अतिरिक्त भी इनकी कलात्मक साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक है। अपनी इन आकृतिगत विशेषताओं के कारण ही हम इन्हें पूजा यन्त्रों का सबसे प्राचीनतम रूप कह सकते हैं। वस्तुतः ये आयागपट्ट जैन कला के प्राचीनतम रूप हैं तथा इनकी योजना जैन अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में ही हुई है। इन आयागपट्टों पर तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव प्रायः नगण्य ही है। मात्र इतना ही नहीं सिद्धचक्र, परमेष्ठि यन्त्र आदि यन्त्रों का विकास जो जैन तान्त्रिक परम्परा में हुआ है उनका मूल स्रोत ये ही आयागपट्ट हैं। पाठकों के अवबोध के लिए हम अग्रिम पृष्ठों में इन आयागपट्टों के कुछ चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं-









भक्तामर सम्बन्धी—यन्त्र

जैन परम्परा में तान्त्रिक साधना की दृष्टि से भक्तामर और कल्याण मंदिर स्तोत्रों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह हम पूर्व में निर्देशित कर चुके हैं। जैन आचार्यों ने भक्तामर के प्रत्येक श्लोक के ऋद्धि, मन्त्र, यन्त्र, साधना पद्धति और फल का उल्लेख किया है। भक्तामर से सम्बन्धित ये मन्त्र और यन्त्र अनेक स्थानों से प्रकाशित हुए हैं। सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा से जो नमस्कार मन्त्र का चित्र प्रकाशित हुआ है, उसमें भक्तामर के सभी यन्त्रों को मुद्रित किया गया है। इसी प्रकार 'तीर्थंकर' वर्ष ११, अंक ६, जनवरी १६८२ के भक्तामर विशेषांक में भी भक्तामर के मन्त्र और यन्त्रों का प्रकाशन हुआ है। पंडित राजेश दीक्षित ने जैन तंत्रशास्त्र नामक अपनी कृति (१६८४) में भी भक्तामर के इन मन्त्रों और यन्त्रों का उल्लेख किया है। इन सभी ने मन्त्र और यन्त्रों का ग्रहण प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर किया है। प्रस्तुत संकलन में हम तीर्थंकर (संपादक— डॉ० नेमिचन्द जैन) के आधार पर भक्तामर के मन्त्र और यन्त्रों को प्रस्तुत कर रहे हैं। इनके साधना विधान 'जैन तन्त्रशास्त्र' में सविस्तार दिये गये हैं, इच्छुक व्यक्ति उन्हें वहाँ देख सकते हैं।

(मंत्र और यन्त्र अगले पृष्ठ पर)

भक्तामर–प्रणतमौलि–मणि–प्रभाणा–
मुद्योतकं दलित–पाप–तमोवितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा–
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।१।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो जिणाणं ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा।
मंत्र –ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं श्रीं क्लीं ब्लूं क्रौं ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।
प्रभाव–सारी विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं।

यः संस्तुतः सकल–वाङ्मय–तत्त्बोधा–
दुद्भूत–बुद्धि–पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय–चित्त–हरै–रुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।।२।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो ओहिजिणाणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं नमः।
प्रभाव–सारे रोग, शत्रु शान्त होते हैं तथा सिरदर्द दूर होता है।

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित–पादपीठ!
स्तोतुं समुद्यत–मतिर्विगत–त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल–संस्थित–मिन्दु–बिम्ब–
मन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुम्।।३।।



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो परमोहिजिणाणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः सर्वसिद्धिदायकेभ्यो नमः स्वाहा।
प्रभाव–सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

वक्तुंगुणान् गुण–समुद्र–शशाङ्क–कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरु–प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त–काल–पवनोद्धत–नक्र–चक्रं,
को वा तरीतु–मलमम्बुनिधिं भुजाभ्यां।।४।।



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहिजिणाणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं जलयात्रादेवताभ्यो नमः स्वाहा।
प्रभाव–जाल में मछलियाँ नहीं फँसतीं।

सो हं तथापि तव भक्ति–वशान्मुनीश!
कर्तुं स्तवं विगत–शक्ति–रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म–वीर्य–मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।५।।

मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो अणंतोहिजिणाणं।

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्रौं सर्वसंकट-निवारणेभ्यः सुपार्श्वयक्षेभ्यो नमो नमः स्वाहा।

प्रभाव—आँख के सारे रोग दूर होते हैं।



अन्वय + अर्थ

मुनीश !
हे मुनियों के ईश्वर !

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास–धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किलमधौ मधुर विरौति,
तच्चाम्र–चारु–कलिकानिकरैकहेतु।।६।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो कोट्ठबुद्धीणं।

मंत्र—ॐ ह्रीं श्रां श्रीं श्रूं श्रः हं सं थः थः ठः ठः ठः सरस्वती भगवती विद्या-प्रसादं कुरु कुरु स्वाहा।

प्रभाव—अनेक विद्याएँ सहज ही आ जाती हैं।

त्वत् संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोक—मलिनील—मशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वर—मन्धकारम्॥७॥

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो बीजबुद्धीणं।
मंत्र—ॐ ह्रीं हं सं श्रां श्रीं क्रौं क्लीं सर्वदुरितसंकटक्षुद्रोपद्रवकष्टनिवारणं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव—सर्प कीलित हो जाता है; सारे पाप, संकट, छोटे-मोटे उपद्रव दूर हो जाते हैं।

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद—
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी—दलेषु,
मुक्ताफल—द्युति—मुपैति ननूद—बिन्दुः॥७॥

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो पादाणुसारिणं।
मंत्र—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अप्रतिचक्रे फट् विचक्राय झ्रौं झ्रौं स्वाहा। ॐ ह्रीं लक्ष्मणरामचंद्र देव्यै नमो नमः स्वाहा।
प्रभाव—सारे अरिष्ट योग दूर हो जाते हैं।

आस्तां तव स्तवन–मस्त–समस्त–दोषम्,
त्वत्–सङ्कथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्र–किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास–भाञ्जि।।६।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो अरिहंताणं णमो संभिण्णसोदाराणं ह्रां ह्रीं ह्रूं फट् स्वाहा।

मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्रौं क्लीं ह्वीं रः रः हं हः नमः स्वाहा।

प्रभाव–पथ कीलित होता है और सातों भय भाग जाते हैं।

नात्यद्भुतं भुवन–भूषण! भूत–नाथ!
भूतै–र्गुणै–र्भुवि भवन्त–मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्म–समं करोति।।१०।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सयंबुद्धीणं।

मंत्र –जन्मसद्ध्यानतो जन्मतो वा मनोत्कर्षधृतावादि नोर्याक्षान्ताभावे प्रत्यक्षा बुद्धान्मनो ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रूं ह्रः श्रां श्रीं श्रूं श्रौं श्रः सिद्धबुद्धकृतार्थो भव भव वषट् संपूर्ण स्वाहा।

प्रभाव–कुत्ते का काटा निर्विष हो जाता है।

दृष्ट्वा भवन्त–मनिमेष–विलोकनीयम्,
नान्यत्र तोष–मुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर–द्युति–दुग्ध–सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे–रसितुं क इच्छेत्।।११।।

यन्त्र

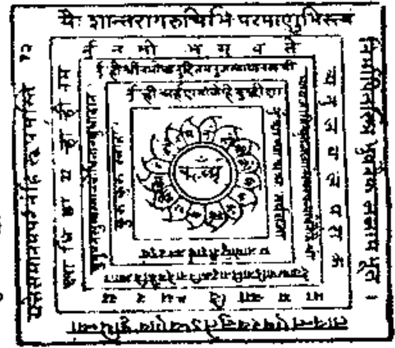


मन्त्र

ऋद्धि–ॐ ह्रीं अर्हं णमो पत्तेयबुद्धीणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं श्रां श्रीं कुमति-निवारिण्यै महामायायै नमः स्वाहा।
प्रभाव–इच्छित को आकर्षित करता है; वर्षा को विवश करता है।

यैः शान्त–राग–रुचिभिः परमाणुभिस्त्वम्,
निर्मापित–स्त्रिभुवनैक–ललामभूत!
तावन्त एवं खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समान–मपरं नहि रूप–मस्ति।।१२।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि–ॐ ह्रीं अर्हं णमो बोहियबुद्धीणं।
मंत्र –ॐ आं आं अं अः सर्वराजप्रजा-मोहिनि सर्वजनवश्यं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–हाथी का मद उतर जाता है, अभीप्सित रूप मिल जाता है।

वक्त्रं क्व ते सुर–नरोरग–नेत्र–हारि,
निःशेष–निर्जित–जगत्–त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्क–मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्–वासरे भवति पाण्डु–पलाश–कल्पम्।।१३।।

यन्त्र



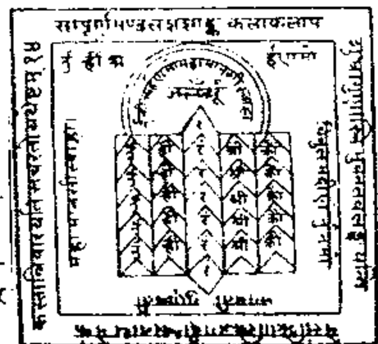
मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो ऋजुमदीणं।

मंत्र –ॐ ह्रां श्रीं हं सः ह्रौं ह्रां ह्रीं द्रां द्रीं द्रौं द्रः मोहिनि सर्वजनवश्यं कुरु कुरु स्वाहा।

प्रभाव–चोर चोरी नहीं कर पाते, मार्ग में कोई भय नहीं रहता, लक्ष्मी प्राप्त होती है।

सम्पूर्ण–मण्डल–शशाङ्क–कला–कलाप–
शुभ्रा गुणा–स्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रिता–स्त्रिजगदीश्वर–नाथ–मेकम्,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।१४।।



मन्त्र

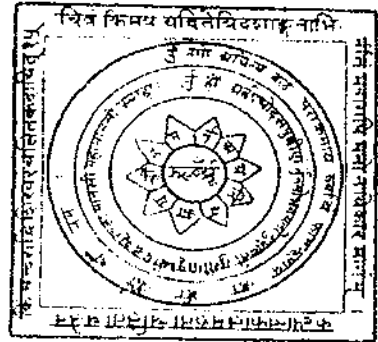
ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउलमदीणं।

मंत्र –ॐ नमो भगवत्यै गुणवत्यै महामानस्यै स्वाहा।

प्रभाव–लक्ष्मी प्राप्त होती है, आधि-व्याधि-शत्रु आदि का आतंक/भय दूर हो जाता है।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचित्।।१५।।

यन्त्र

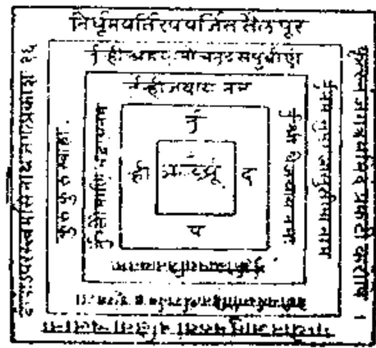


मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो दसपुव्वीणं।
मंत्र —ॐ नमो भगवती गुणवती सुसीमा पृथ्वी वज्रशृङ्खला मानसी महामानसीदेवीभ्यः स्वाहा।
प्रभाव—प्रतिष्ठा और सौभाग्य में वृद्धि होती है।

निर्धूम-वर्ति-रपवर्जित-तैल-पूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रय-मिदं प्रकटी-करोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानाम्,
दीपो परस्त्व-मसि नाथ! जगत्प्रकाशः।।१६।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो चउदसपुव्वीणं।
मंत्र —ॐ नमो मंगला-सुसीमा-नाम-देवीभ्यां सर्वसमीहितार्थवज्रशृङ्खलां कुरु कुरु स्वाहा।

नास्तं कदाचि–दुपयासि न राहु–गम्यः,
स्पष्टी–करोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधारोदर–निरुद्ध–महा–प्रभावः,
सूर्यातिशायि–महिमासि मुनीन्द्र! लोके।।१७।।

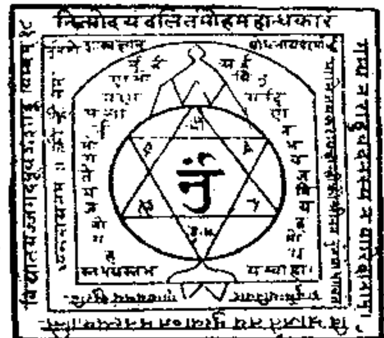


मन्त्र

ऋद्धि–ॐ ह्रीं णमो अट्ठाङ्गमहानिमित्त कुसलाणं।
मंत्र –ॐ णमो णमिऊण अट्ठे मट्ठे क्षुद्रविघट्टे क्षुद्रपीड़ां जठरपीड़ां भंजय भंजय सर्वपीड़ां निवारय निवारय राजरोगनिवारणं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–शरीर रोग रुकते तथा दूर होते हैं।

नित्योदयं दलित–मोह–महान्धकारम्,
गम्यं न राहु–वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्ज–मनल्प–कान्ति–
विद्योतयज्जग–दपूर्व–शशाङ्क–बिम्बम्।।१८।।

यन्त्र

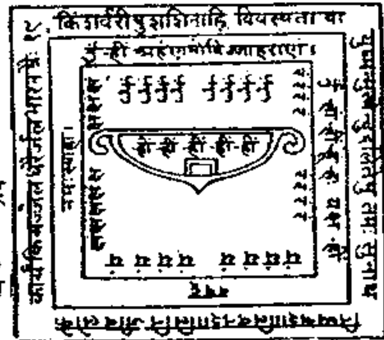


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउयणट्ठिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवते जय विजय मोहय मोहय स्तम्भय स्तम्भय स्वाहा।
प्रभाव–शत्रुसैन्य स्तम्भित होती है।

किं शर्वरीषु शशिनाहि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु–दलितेषु तमःसु नाथ!
निष्पन्न–शालि–वन–शालिनि जीव–लोके,
कार्यं कियज्जलधरै–र्जलभार–नम्रैः।।१९।।

यन्त्र

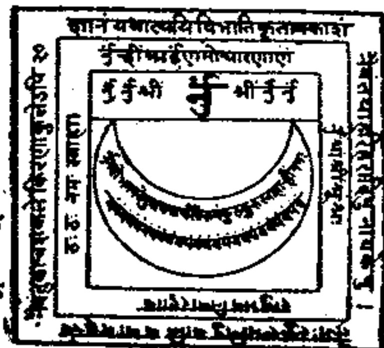


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो विज्जाहराणं।
मंत्र –ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः यक्ष ह्रीं वषट् फट् स्वाहा।
प्रभाव–अन्यों द्वारा प्रयुक्त मंत्र, जादू, टोना, टोटका, मूठ, उच्चाटन आदि का भय नहीं रहता।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशम्,
नैवं तथा हरि–हरीदिषु नायकेषु।
तेजो महा–मणिषु याति यथा महत्त्वम्,
नैवं तु काच–शकले किरणाकुलेऽपि।।२०।।

यन्त्र

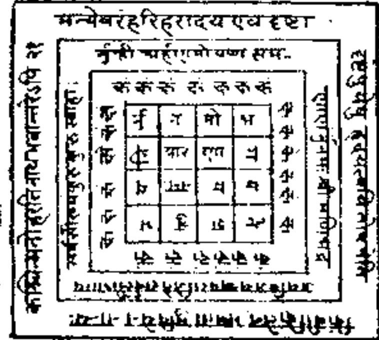


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो चारणाणं।
मंत्र –ॐ श्रां श्रीं श्रं श्रः शत्रुभयनिवारणाय ठः ठः स्वाहा।
प्रभाव–सम्पत्ति, सौभाग्य, बुद्धि, विवेक और विजय प्राप्त कराने में समर्थ हैं।

मन्ये वरं हरि–हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोष–मेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन् मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि।।२१।।

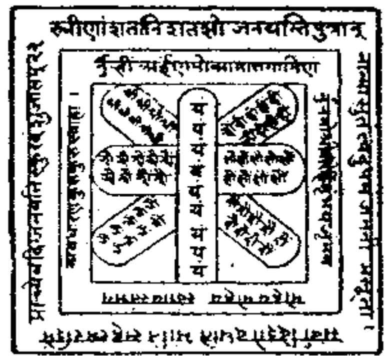
यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो पण्णसमणाणं।
मंत्र –ॐ नमः श्री मणिभद्रः जयः विजयः अपराजितश्च सर्वसौभाग्यं सर्वसौख्यं च कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–सब वशीभूत होते हैं और सुख-सौभाग्य बढ़ता है।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिम्,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुर–दंशु–जालम्।।२२।।

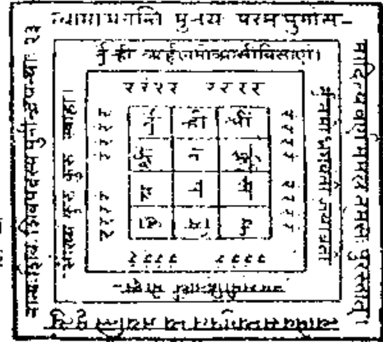


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो आगासगामिणं।
मंत्र –ॐ नमो वीरेहिं जृंभय जृंभय मोहय मोहय स्तम्भय स्तम्भय अवधारणं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–डाकिनी, शाकिनी, भूत, पिशाच, चुड़ैल आदि भाग जाते हैं।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस–
मादित्य–वर्ण–ममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युम्,
नान्यः शिवः शिव–पदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।।२३।।

यन्त्र

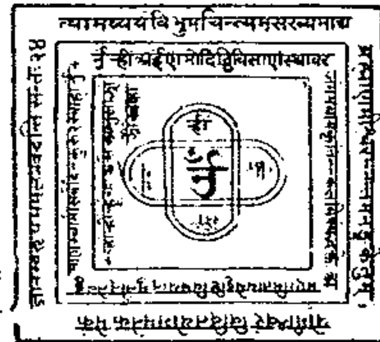


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो आसीविसाणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवती जयावती मम समीहितार्थं मोक्षसौख्यं च कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–प्रेत-बाधा दूर होती है।

त्वा–मव्ययं विभु–मचिन्त्य मसंख्य–माद्यम्,
ब्रह्माण–मीश्वर–मनन्त–मनङ्ग–केतुम्,
योगीश्वरं विदित–योग–मनेक–मेकम्,
ज्ञान–स्वरूप–ममलं प्रवदन्ति सन्तः।।२४।।

यन्त्र

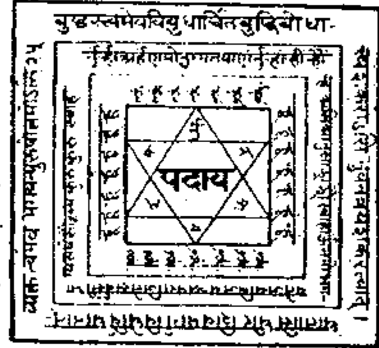


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो दिट्ठिविसाणं।
मंत्र –स्थावरजंगमकायकृतं सकलविषं यद्भक्तेः अमृतायते दृष्टिविषासने

बुद्धस्त्व–मेव विबुधार्चित–बुद्धि–बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय–शङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिव–मार्ग–विधे–र्विधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।२५।।

यन्त्र



मन्त्र

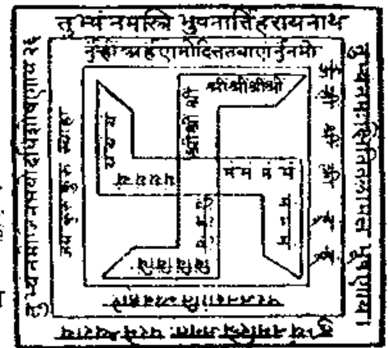
ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो उग्गतवाणं।

मंत्र –ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रां झ्रौं स्वाहा। ॐ नमो भगवते जयविजयापराजिते सर्वसौभाग्यं सर्वसौख्यं च कुरु कुरु स्वाहा।

प्रभाव–दृष्टि-दोष दूर होता है, साधक पर अग्नि का असर नहीं होता।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति–हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति–तलामल–भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि–शोषणाय।।२६।।

यन्त्र



मन्त्र

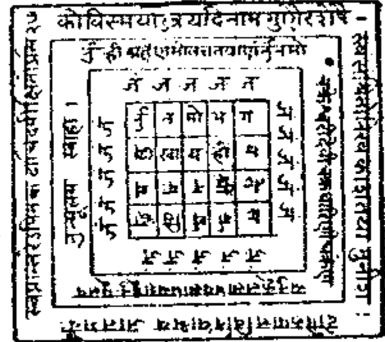
ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो दित्ततवाणं।

मंत्र –ॐ नमो ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रूं ह्रूं, परजनशान्तिव्यवहारे जयं कुरु कुरु स्वाहा।

प्रभाव–आधाशीशी की पीड़ा का निवारण होता है।

को विस्मयोऽत्र यदि नामगुणै–रशेषै–
स्त्वं संश्रितो निरवकाश–तया मुनीश!
दोषै–रुपात्त–विविधाश्रय–जात–गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचि–दपीक्षितोऽसि।।२७।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो दित्ततवाणं।
मंत्र –ॐ नमो चक्रेश्वरी देवी चक्रधारिणी चक्रेणानुकूलं साधय साधय शत्रून्नुन्मूलयोन्मूलय स्वाहा।
प्रभाव–शत्रु का उन्मूलन होता है, वह आराधक को कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता।

उच्चै–रशोक–तरु–संश्रित–मुन्मयूख–
माभाति रूप–ममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्–किरण–मस्त–तमो–वितानम्,
बिम्बं रवे–रिव पयोधर–पार्श्ववर्ति।।२८।।

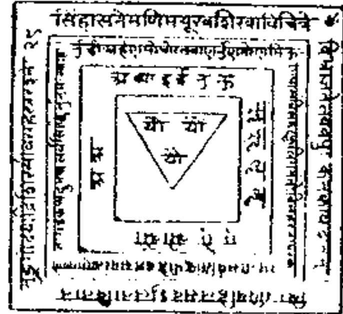
यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो महातवाणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवते जयविजय जृम्भय जृम्भय मोहय मोहय सर्वसिद्धि सम्पत्ति सौख्यं च कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं।

सिंहासने मणि–मयूख–शिखा–विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्–विलसदंशु–लता–वितानम्,
तुङ्गोदयाद्रि–शिरसीव सहस्ररश्मेः ।।२९।।

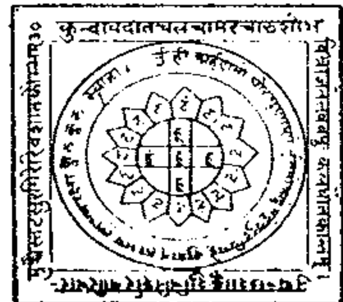


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुणाणं।
मंत्र –ॐ नमो अट्ठे मट्ठे क्षुद्रविघट्टे क्षुद्रान् स्तम्भय रक्षा कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–शत्रु का स्तम्भन होता है।

कुन्दावदात–चलचामर–चारु–शोभम्,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत–कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क–शुचि–निर्झर–वारिधार–
मुच्चै–स्तटं–सुरगिरे–रिव शातकौम्भम्।।३०।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरतवाणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं णमो णमिऊण पासं विसहर फुलिंगमंतो विसहर नाम रकारमंतो सर्वसिद्धिमीहे इह समरंताणमण्णे जागई कप्पदुमच्चं सर्वसिद्धि ॐ नमः स्वाहा।
प्रभाव–नेत्र-पीड़ा दूर होती है।

छत्र–त्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त–
मुच्चैः स्थितं स्थगित–भानुकर–प्रतापम्।
मुक्ताफल–प्रकर–जाल–विवृद्ध–शोभम्,
प्रख्यापयत्–त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।३१।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं नमो घोरगुणपरक्कमाणं

मंत्र –ॐ उवसग्गहरं पासं वंदामि कम्म-घणमुक्कं विसहर विसणिर्णासिणं मंगलकल्लाणावासं ॐ ह्रीं नमः स्वाहा।

प्रभाव–राज्य-मान्यता मिलती है और सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है।

गम्भीर–तार–रव–पूरित–दिग्विभाग–
स्त्रैलोक्य–लोक–शुभ–सङ्गम–भूति–दक्षः।
सद्–धर्मराज–जय–घोषण–घोषक. सन्
खे दुन्दुभि–र्ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।३२।।

यन्त्र



मन्त्र

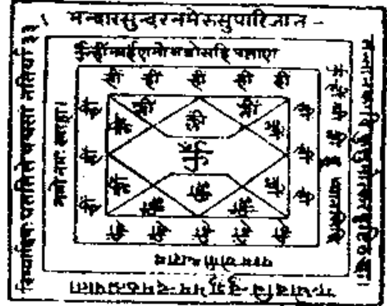
ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरबंभचारिणं।

मंत्र –ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः सर्वदोष-निवारणं कुरु कुरु स्वाहा।

प्रभाव–संग्रहणी रोग तथा उदर की अन्य पीड़ाएँ दूर होती हैं।

मन्दार–सुन्दर–नमेरु–सुपारिजात–
सन्तानकादि–कुसुमोत्कर–वृष्टि–रुद्धा।
गन्धोद–विन्दु–शुभ–मन्द–मरुत्–प्रपाता,
दव्या दिवः पतति ते वचसां तति–र्वा।।३३।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ध्यानसिद्धि-
परमयोगीश्वराय नमो नमः स्वाहा।
प्रभाव–सब तरह के ज्वर दूर होते हैं।

शुम्भत्–प्रभा–वलय–भूरि–विभा विभोस्ते,
लोक–त्रये द्युतिमतां द्युति–माक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्–दिवाकर–निरन्तर–भूरि–संख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशा–मपि सोम–सौम्याम्।।३४।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो खिल्लोसहिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ नमो ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं ह्यौं
पद्मावत्यै नमो नमः स्वाहा।
प्रभाव–गर्भ की संरक्षा होती है।

स्वर्गापवर्ग–गम–मार्ग–विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म–तत्त्व–कथनैक–पटु–स्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनि–र्भवति ते विशदार्थ–सर्व–
भाषा–स्वभाव–परिणाम–गुणैः प्रयोज्यः।।३५।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो जल्लोसहिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ नमो जयविजयापराजितमहा-
लक्ष्मीः अमृतवर्षिणी अमृतस्राविणी
अमृतं भव भव वषट् स्वधा स्वाहा।
प्रभाव–चोरी, मृगी, अकाल, राजभय आदि
नष्ट हो जाते हैं।

उन्निद्र–हेमनव–पङ्कज–पुञ्जकान्ति–
पर्युल्लसन्–नख–मयूख–शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।।३६।।

यन्त्र

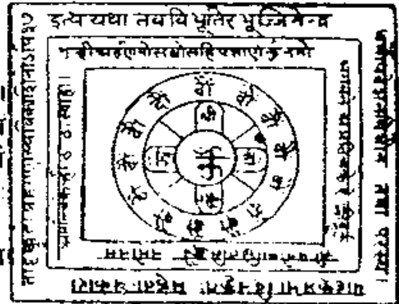


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पोसहिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं कलिकुण्डदण्डस्वामिन्
आगच्छ आगच्छ आत्ममंत्रान्
आकर्षय आकर्षय आत्ममंत्रान् रक्ष
रक्ष परमंत्रान् छिन्द मम समीहितं
च कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–सम्पत्ति का लाभ होना है।

इत्थं यथा तव विभूति–रभूज्जिनेन्द्र!
धर्मोपदेशन–विधौ न तथा परस्य।
यादृक्–प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रह–गणस्य विकासिनोऽपि।।३७।।

यन्त्र

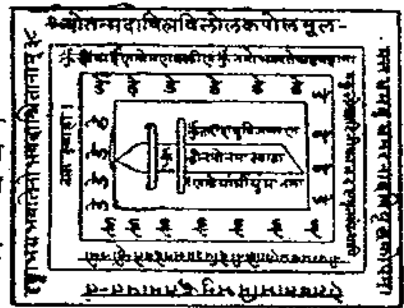


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवते अप्रतिचक्रे ऐं क्लीं ब्लूं ॐ ह्रीं मनोवांछितसिद्धयै नमो नमः। अप्रतिचक्रे ह्रीं ठः ठः स्वाहा।
प्रभाव –दुर्जन वशीभूत होते हैं और उनका मुंह बन्द हो जाता है।

श्च्योतन् मदाविल–विलोल–कपोल मूल–
मत्त–भ्रमद्–भ्रमर–नाद–विवृद्ध–कोपम्।
ऐरावताभ–मिभ–मुद्धत–मापतन्तम्,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भव–दाश्रितानाम्।।३८।।

यन्त्र

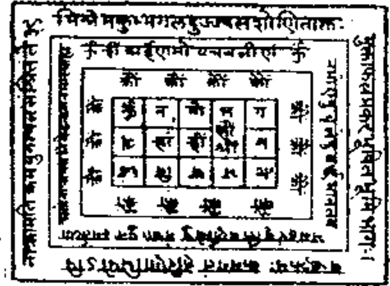


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो मणबलीणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवते महानागकुलोच्चाटिनी कालदष्टमृतकोपस्थापिनी परमंत्रप्रणाशिनी देविदेवते ह्रीं नमो नमः स्वाहा।
प्रभाव–हाथी का मद उतरता है और समृद्धियाँ बढ़ती हैं।

भिन्नेभ–कुम्भ–गलदुज्ज्वल–शोणिताक्त–
मुक्ताफल–प्रकर–भूषित–भूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचल–संश्रितं ते।।३९।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं वचनबलीणं।
मंत्र –ॐ नमो एषु दत्तेषु वर्द्धमान तव भयहरं वृत्ति वर्णा येषु मंत्राः पुनः स्मर्तव्या अतोना परमंत्रनिवेदनाय नमः स्वाहा।
प्रभाव–सिंह निःशक्त हो जाता है और सर्प का भय नहीं रहता।

कल्पान्त–काल–पवनोद्धत–वह्नि–कल्पम्,
दावानलं ज्वलित–मुज्ज्वल–मुत्स्फुलिङ्गम्
विश्वं जिघत्सु–मिव सम्मुख–मापतन्तम्,
त्वन्नाम–कीर्तन–जलं शमयत्यशेषम्।।४०।।

यन्त्र

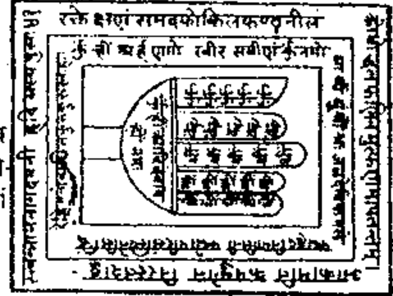


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो कायबलीणं।
मंत्र –ॐ ह्रीं श्रीं ह्रां ह्रीं अग्नेः उपशमं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–अग्नि का संकट/भय दूर होता है।

रक्तेक्षणं समद–कोकिल–कण्ठ नीलम्,
क्रोधोद्धतं फणिन–मुत्फण–मापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्त–शङ्क–
स्त्वन्नाम–नागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।४१।।

यन्त्र

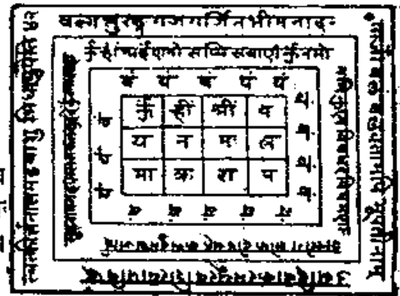


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो खीरसवीणं।
मंत्र –ॐ नमो श्रां श्रीं श्रूं श्रः जलदेवि कमले कमले पद्महृदनिवासिनी पद्मोपरिसंस्थिते सिद्धिं देहि मनोवांछितं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–सांप का जहर उतर जाता है।

वल्गत्तुरङ्ग–गज–गर्जित–भीमनाद–
माजौ बलं बलवता–मपि भूपतीनाम्।
उद्यद्–दिवाकर–मयूख–शिखापविद्धम्,
त्वत्–कीर्तनात्तम इवाशु भिदा–मुपैति।।४२।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सप्पिसवाणं।
मंत्र –ॐ नमो नमिऊणविषप्रणाशनरोगशोकदोषग्रहकप्पदुमच्चजाई सुहनामगहण–सकलसुहदे ॐ नमः स्वाहा।
प्रभाव–युद्ध-भय मिट जाता है।

कुन्ताग्र–भिन्न–गजशोणित–वारिवाह–
वेगावतार–तरणातुर–योध–भीमे।
युद्धे जयं विजित–दुर्जय–जेय–पक्षा–
स्त्वत्–पद–पङ्कज–वनाश्रयिणो लभन्ते।।४३।।

यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो महुरसवाणं।
मंत्र –ॐ नमो चक्रेश्वरी देवी चक्रधारिणी जिनशासनसेवाकारिणी क्षुद्रोपद्रवविनाशिनी धर्मशान्तिकारिणी इष्टसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–भय मिटता है और शान्ति प्राप्त होती है।

अम्भोनिधौ क्षुभित–भीषण–नक्र–चक्र–
पाठीन–पीठ–भय–दोल्बण–वाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग–शिखर–स्थित–यान–पात्रा–
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति।।४४।।

यन्त्र

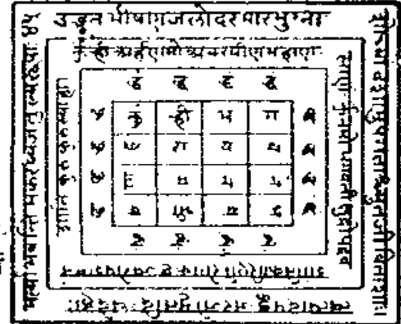


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो अमयसवीणं।
मंत्र –ॐ नमो रावणाय विभीषणाय कुम्भकरणाय लंकाधिपतये महाबलपराक्रमाय मनश्चिन्तितं कुरु कुरु स्वाहा।
प्रभाव–सब प्रकार की आपत्तियाँ हट जाती हैं।

उद्भूत–भीषण–जलोदर–भार–भुग्नाः,
शोच्यां दशा–मुपगताश्च्युत–जीविताशाः।
त्वत्–पाद–पङ्कज–रजोऽमृत–दिग्ध–देहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज–तुल्य–रूपाः।।४५।।

यन्त्र

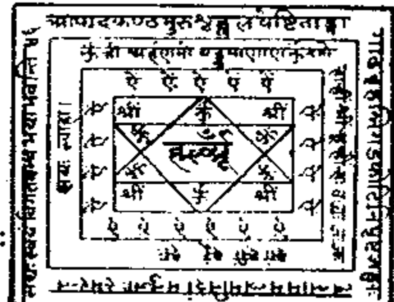


मन्त्र

ऋद्धि –ॐ अर्हं णमो अक्खीणमहाणसाणं।
मंत्र –ॐ नमो भगवती क्षुद्रोपद्रवशान्तिकारिणी रोगकुष्टज्वरोपशमं (शान्तिं) कुरु कुरु स्वाहा।

आपादकण्ठ–मुरु–श्रृङ्खल–वेष्टितङ्गा,
गाढं वृहन्–निगड–कोटि–निघृष्ट–जङघा।
त्वन्नाम्–मन्त्र–मनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत–बन्ध–भया भवन्ति।।४६।।

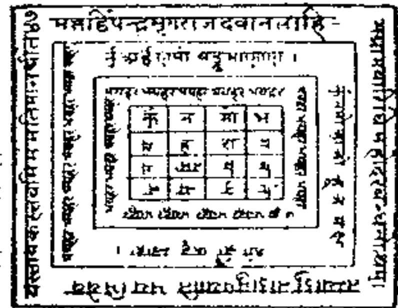
यन्त्र



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो वड्ढमाणाणं।
मंत्र –ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः क्षः श्रीं ह्रीं फट् स्वाहा।

मत्त–द्विपेन्द्र–मृगराज–दवानलाहि–
संग्राम–वारिधि–महोदर–बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाश–मुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।४७।।



मन्त्र

ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो वड्ढमाणं।
मंत्र –ॐ नमो ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः ठः ठः जः जः क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः यः स्वाहा।
प्रभाव–शत्रु परास्त होता है और शस्त्रादि के घाव शरीर में नहीं हो पाते।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र! गुणै–र्निबद्धाम्,
भक्त्या मया विविध–वर्ण–विचित्र–पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगता–मजस्रम्,
तं मानतुङ्ग–मवशा समुपैति लक्ष्मीः।।४८।।



मन्त्र

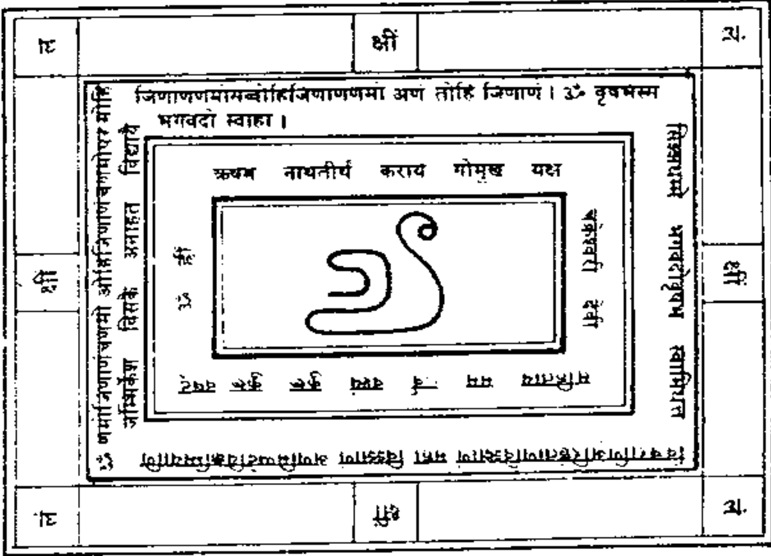
ऋद्धि –ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वसाहूणं।
मंत्र –महतिमहावीरवड्ढमाणवुद्धिरिसीणं ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं स्वाहा।
प्रभाव–समस्त मनवांछित कामनाएं सिद्ध होती हैं।

चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहतयन्त्र

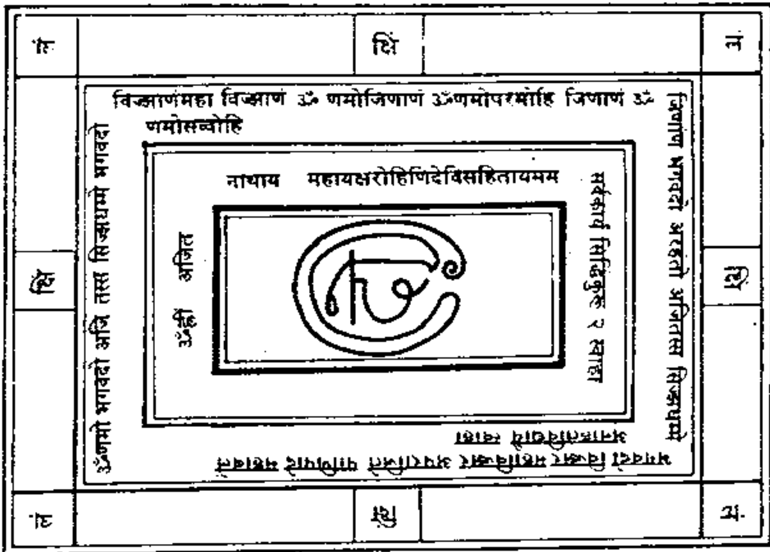
चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा जैन परम्परा की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। चौबीस तीर्थंकरों और उनके यक्ष–यक्षिणियों के आधार पर चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहत यन्त्रों की रचना हुई है। ये यन्त्र मन्त्रगर्भित हैं। इन यन्त्रों में तीर्थंकर के अतिरिक्त उनके यक्ष और यक्षी का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि यन्त्रों से सम्बन्धित जो मन्त्र हैं, उनमें मात्र तीर्थंकरों के ही नामों का उल्लेख है, उनके यक्ष–यक्षियों का नहीं। इन मन्त्रों में प्रत्येक तीर्थंकर के नाम के पूर्व 'ॐ णमो भगवदो अरहदो' तथा तीर्थंकर नाम के पश्चात् 'सिज्झधम्मे भगवदो विज्झर महाविज्झर' का उल्लेख है। सभी मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' शब्द का उल्लेख भी मिलता है। चूंकि इनमें 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग है एवं 'नमः' शब्द का प्रयोग नहीं है, अतः इन्हें मन्त्र ही कहना होगा। योजना की दृष्टि से इन यन्त्रों में अन्तर्गर्भित चार चतुष्कोण बनाये गये हैं। प्रथम बाहरी चतुष्कोण में बीजाक्षर; दूसरे चतुष्कोण में तीर्थंकर से सम्बन्धित प्राकृत मन्त्र, तीसरे चतुष्कोण में बीजाक्षरयुक्त तीर्थंकर एवं उनके यक्ष–यक्षिणियों के नामोल्लेख सहित अपनी अभीष्ट कामना का स्वाहापूर्वक उल्लेख एवं चतुष्कोण में विशिष्ट प्रकार की आकृतियां बनाई गयी हैं। ये चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहत यन्त्र हमने डा० दिव्यप्रभाजी एवं डा० अनुपमाजी द्वारा संपादित 'मंगलम्' नामक पुस्तिका से उद्धृत किये हैं, एतदर्थ हम सम्पादिकाद्वय के आभारी हैं। उनसे इन यन्त्रों के मूलस्रोत के सन्दर्भ में जानकारी चाहे जाने पर उन्होंने बताया कि ये यन्त्र उन्हें स्थानकवासी परम्परा के ऋषि सम्प्रदाय के पूज्य श्री त्रिलोक–ऋषि जी म०सा० के हस्तलिखित संग्रह से उपलब्ध हुए थे। इन मन्त्रों के भाषायी स्वरूप का अध्ययन करने पर हमें यह भी ज्ञात होता है कि भाषा की अपेक्षा प्रायः सभी मन्त्र अशुद्ध छपे हैं। पुनः इनमें शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों के ही शब्द रूपों का प्रयोग है, कहीं–कहीं संस्कृत शब्दरूप भी हैं। 'णमोभगवदो अरहदो' शब्द निश्चित रूप से शौरसेनी प्राकृत का है तो 'सिज्झधम्मे' अपभ्रंश रूप है। शौरसेनी प्राकृत मुख्य रूप से दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों की भाषा रही है। अतः यह निश्चित है कि पूज्य त्रिलोकऋषि जी म०सा० को ये यन्त्र दक्षिण में विचरण करते समय दिगम्बर परम्परा के किसी भट्टारक के संग्रह से प्राप्त हुए होंगे। जैन परम्परा के यन्त्र–मन्त्रों के सन्दर्भ में जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें मात्र आचार्य राजेश दीक्षित द्वारालिखित 'जैनतन्त्रशास्त्र' नामक पुस्तक में ये यन्त्र हमें देखने को मिले, किन्तु उनमें भी भाषागत अशुद्धियाँ हैं। दुर्लभता की दृष्टि से इन यन्त्रों का एक विशेष महत्त्व है। यह सत्य है कि ये यन्त्र जैन परम्परा में ही निर्मित हैं, क्योंकि इनमें तीर्थंकरों और उनके

यक्ष–यक्षिणियों का स्पष्ट निर्देश है किन्तु इन यन्त्रों में मुख्यतया तीर्थंकर और उनके शासन रक्षक यक्ष–यक्षिणियों से युद्ध में विजय, शत्रुओं के पराभव अथवा वांछित स्त्री के वशीकरण आदि के स्पष्ट उल्लेख हैं। इसलिए हमें यह तो स्वीकार करना होगा कि इन पर तान्त्रिक परम्परा के मारण, वशीकरण आदि षट्कर्मों का भी स्पष्ट प्रभाव है, जो जैन परम्परा की मूलभूत निवृत्तिमार्गी दृष्टि का विरोधी है। जैन परम्परा में इन यन्त्रों की रचना उस समय हुई जान पड़ती है जब उस पर तान्त्रिक परम्परा का व्यापक प्रभाव आ गया था। साथ ही इनके भाषायी स्वरूप पर अपभ्रंश का व्यापक प्रभाव भी यही सूचित करता है कि ये यन्त्र परवर्तीकाल में ही निर्मित हुए होंगे। पाठकों की जानकारी के लिए हम चतुर्विंशतितीर्थंकर अनाहतयन्त्र के कुछ चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं–

ऋषभनाथ अनाहत
यंत्र नं–१

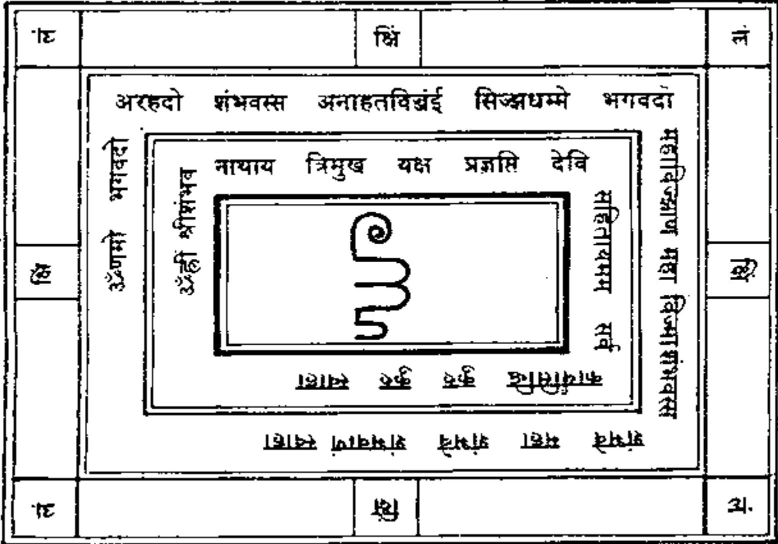


अजितनाथ अनाहत
यंत्र नं–२

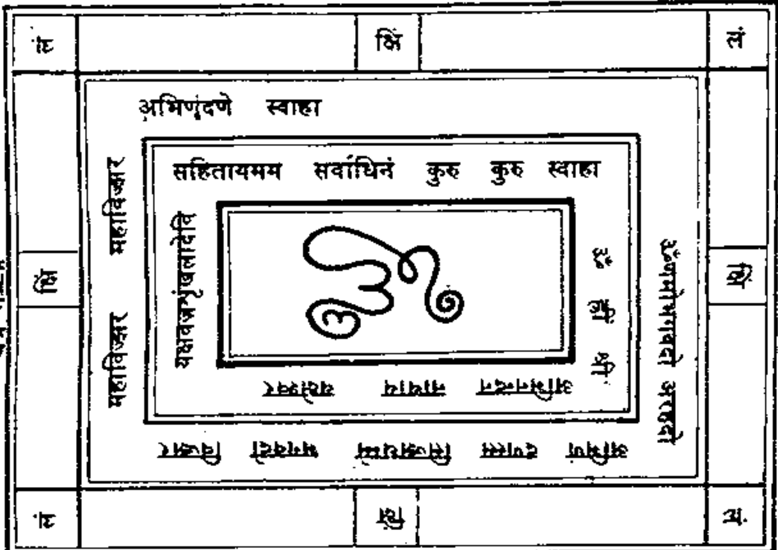


'मङ्गलम से साभार

श्री संभवनाथ अनाहत यंत्र नं—३



श्री अभिनन्दन नाथ अनाहत यंत्र नं—४



'मङ्गलम से साभार

श्री सुमतिनाथ अनाहत
यंत्र नं—५

लं क्षिं लं

व नं गे स्वाहा

ॐ णमोभगवदो अर हंतो

सुमतिस्स सिज्झ-धम्मे भगवदो विज्झर

सुमति—सामिणं

मम सर्व पुरुष वश्यं वषट्

ॐ ह्रीं श्रीं

सुमति नाथाय तुष्ठव यक्ष पुरुष

वस यक्षि सहिताय

क्षिं क्षिं

लं क्षिं लं

श्री • पद्म प्रभ अनाहत
यंत्र नं—६

लं क्षिं लं

महापोमे महापोमेश्वरी स्वाहा

ॐ णमो भगवदो

अरहंतो पोमे अरहंतस्स सिज्झधम्मे भगवदो

विज्झरमहा विज्झरपोमे २

संपती वृद्धि कुरु कुरु वषट्

ॐ ह्रीं श्रीं

पद्मप्रभाय पुष्प यक्षमोहिनी यक्षि

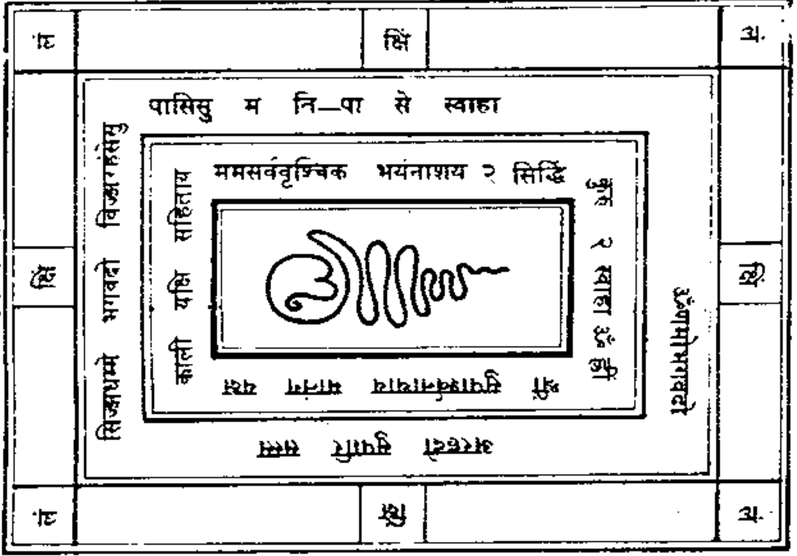
सहिताय ममलक्ष्मी

क्षिं क्षिं

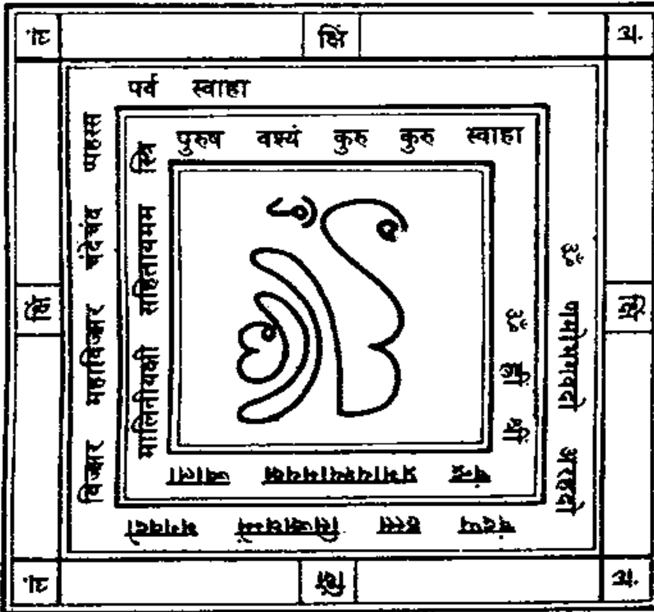
लं क्षिं लं

'मङ्गलम से साभार

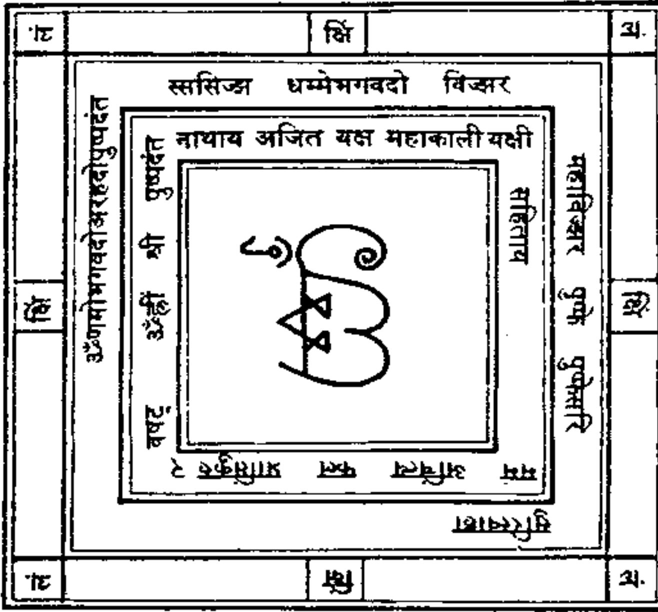
श्री सुपार्श्वनाथ अनाहत
यंत्र नं—७

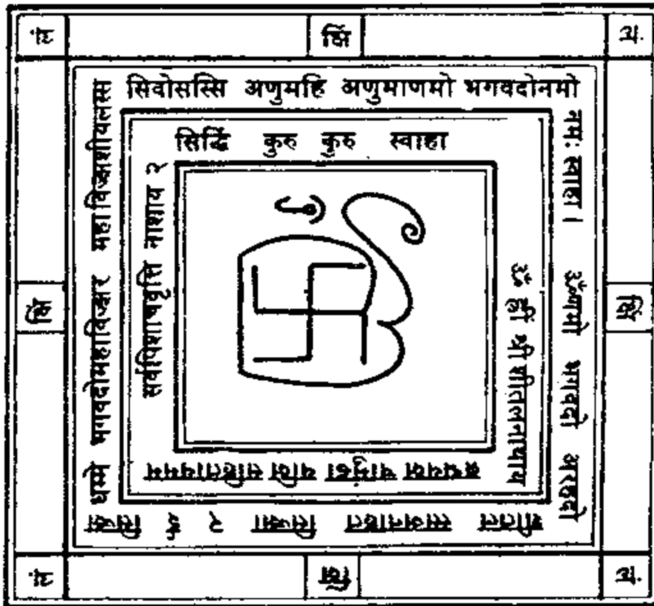


श्री चन्द्र प्रभ अनाहत
यंत्र नं—८

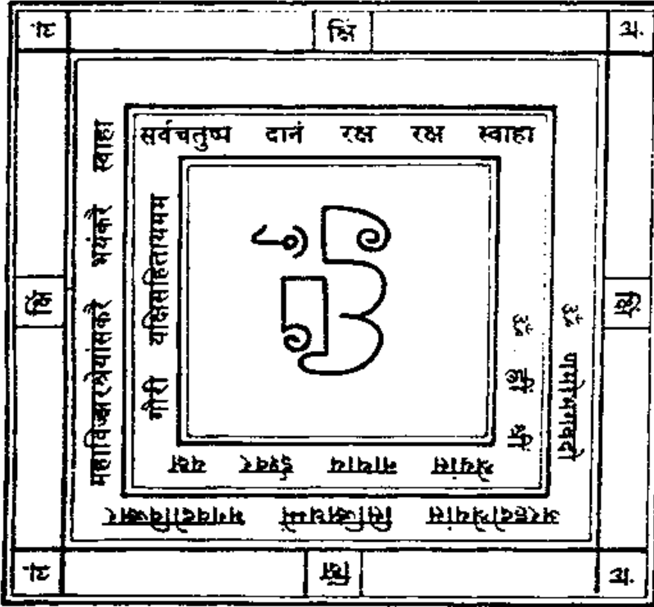


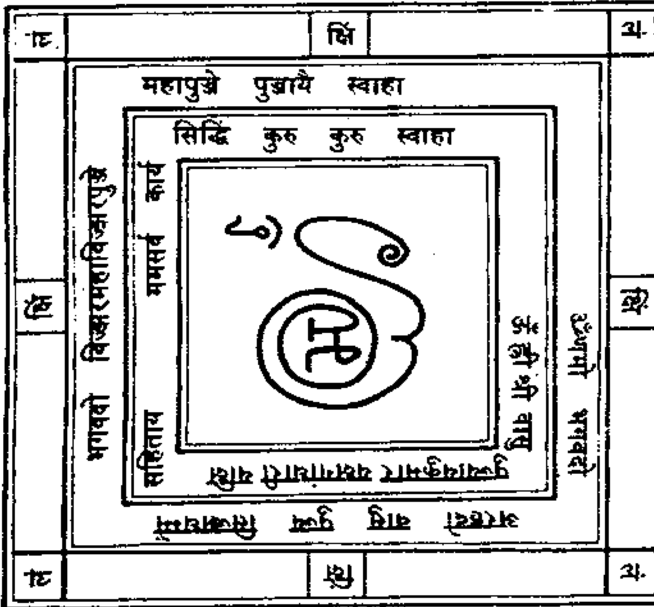
'मङ्गलम से साभार


श्री पुष्पदंत नाथ अनाहत
यंत्र नं—९
स्ससिज्झ धम्मेभगवदो विज्झर
नाथाय अजित यक्ष महाकाली यक्षी

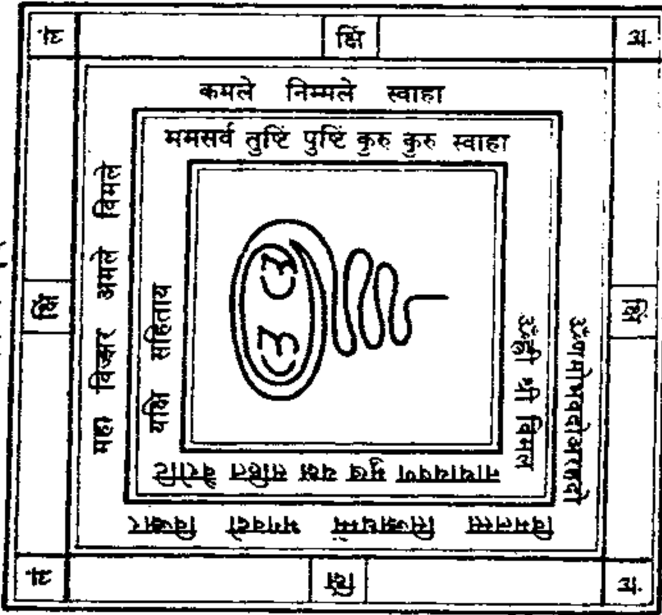

श्री शीतलनाथ अनाहत
यंत्र नं—१०
सिवोसस्सि अणुमहि अणुमाणमो भगवदोनमो
सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा

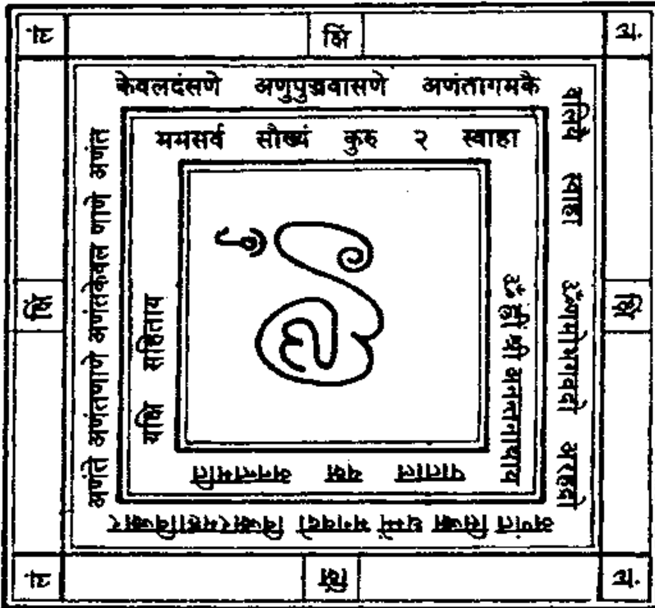
'मङ्गलम से साभार


श्री श्रेयांस नाथ अनाहत
यंत्र नं.—११
सर्वचतुष्प दानं रक्ष रक्ष स्वाहा
गौरी यक्षिसहितायमम
महाविक्रमश्रेयांसकरे भयंकरे स्वाहा

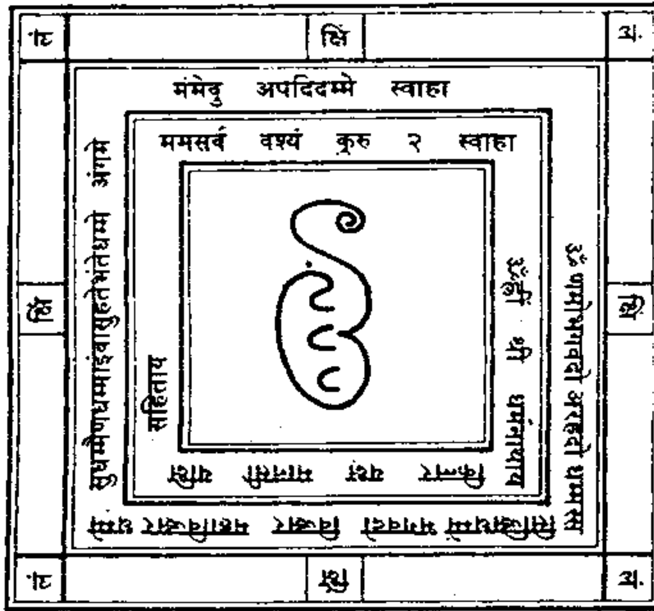

श्रीवासु पूज्य नाथ अनाहत
यंत्र नं.—१२
महापुञ्जे पुञ्जाये स्वाहा
सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा
ममसर्व कार्यं
भगवतो विक्रमविक्रमपुञ्जे
सहिताय

'मङ्गलम से साभार

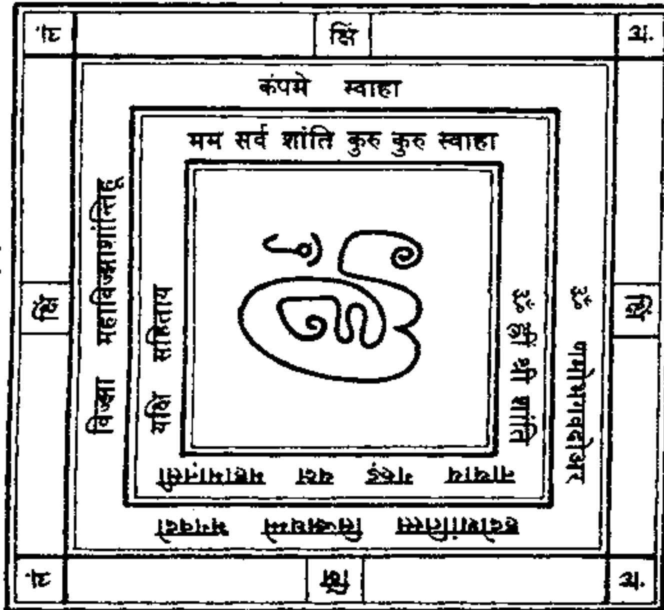

श्री विमल नाथ अनाहत
यंत्र नं.—१३
कमले निम्मले स्वाहा
ममसर्व तुष्टिं पुष्टिं कुरु कुरु स्वाहा
महा विक्कार अमले विमले
यक्षि सहिताय
ॐ ह्रीं श्री विमल
ॐणमोभयवदोअरहदो


श्री अनन्तनाथ अनाहत
यंत्र नं.—१४
केवलदंसणे अणुपुव्ववासणे अणंतागमके
वलिये स्वाहा
ममसर्व सौख्यं कुरु २ स्वाहा
अणंते अणंतणाणे अणंतकेवल णाणे अणंत
यक्षि सहिताय
ॐ ह्रीं श्री अनन्तनाथाय
ॐणमोभगवदो अरहदो

'मङ्गलम से साभार



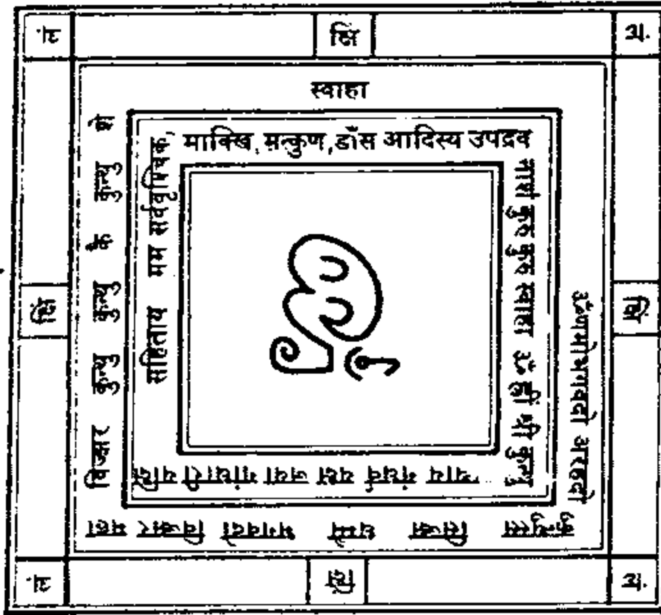
श्री धर्मनाथ अनाहत
यंत्र नं—१५



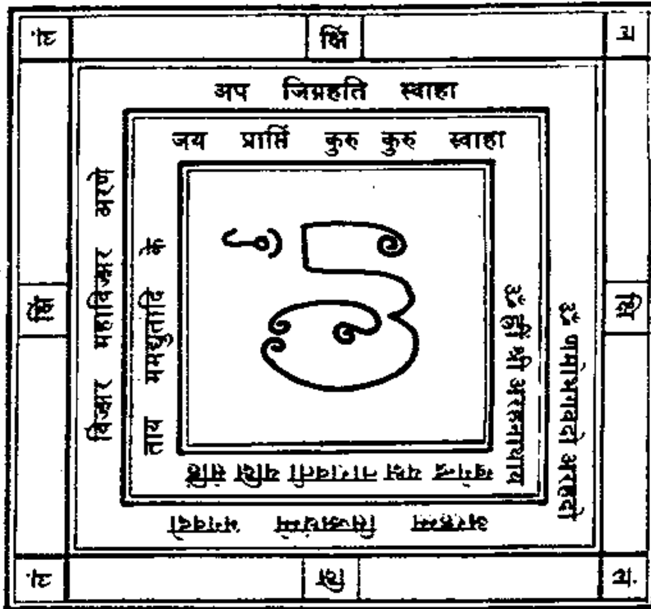
श्री शांतिनाथ अनाहत
यंत्र नं—१६

'मङ्गलम से साभार

श्री कुन्थुनाथ अनाहत
यंत्र नं—१७

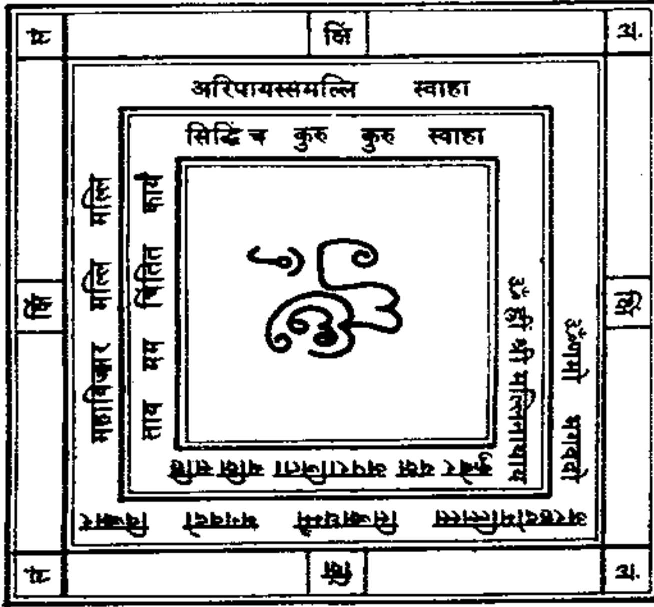


श्री अरहनाथ अनाहत
यंत्र नं—१८

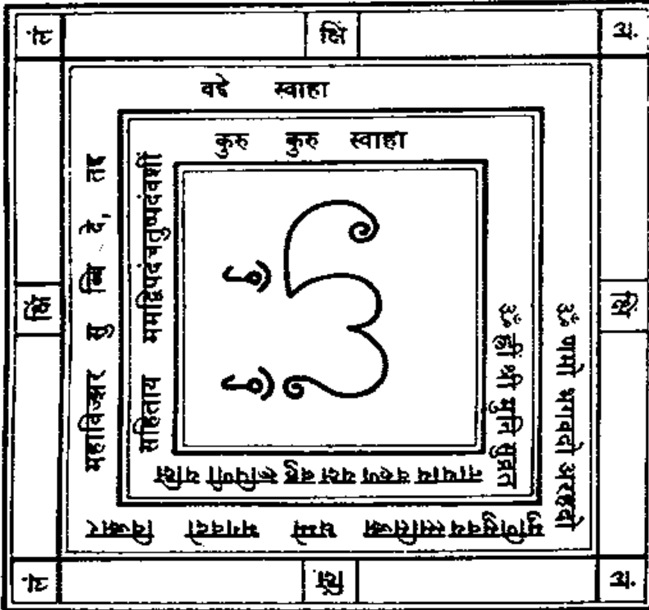


'मङ्गलम से साभार

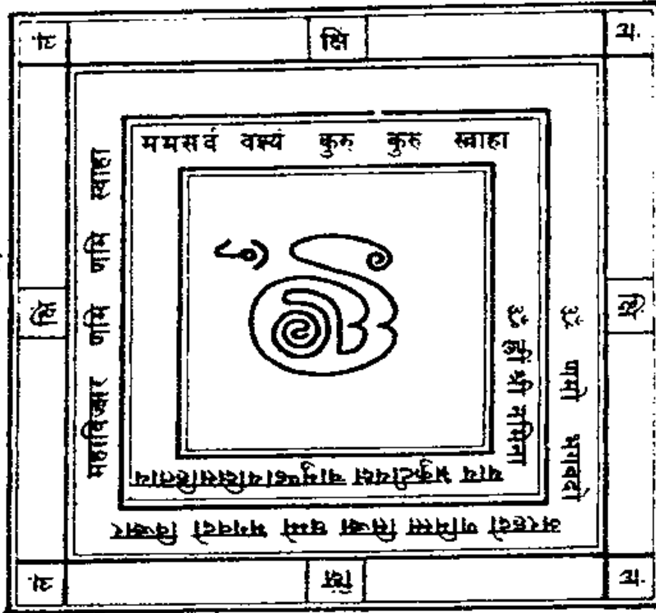
श्री मल्लिनाथ अनाहत
यंत्र नं—१९



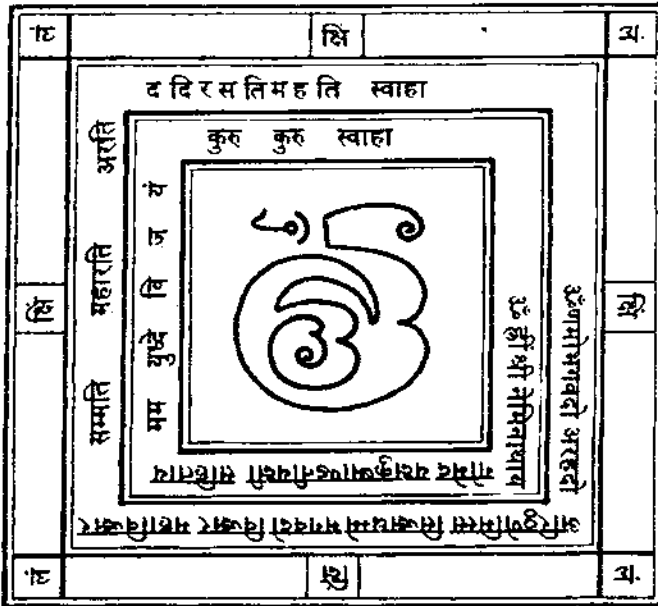
श्री मुनिसुव्रतनाथ अनाहत
यंत्र नं—२०



'मङ्गलम से साभार

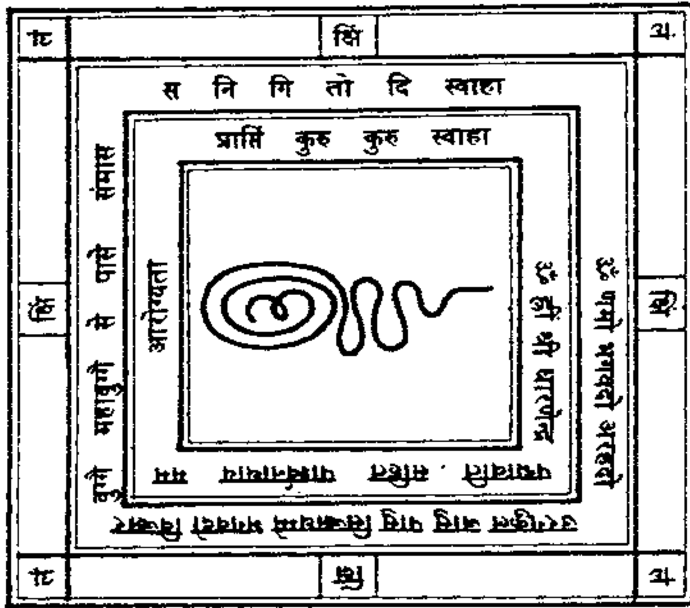


श्री नमिनाथ अनाहत
यंत्र नं—२१

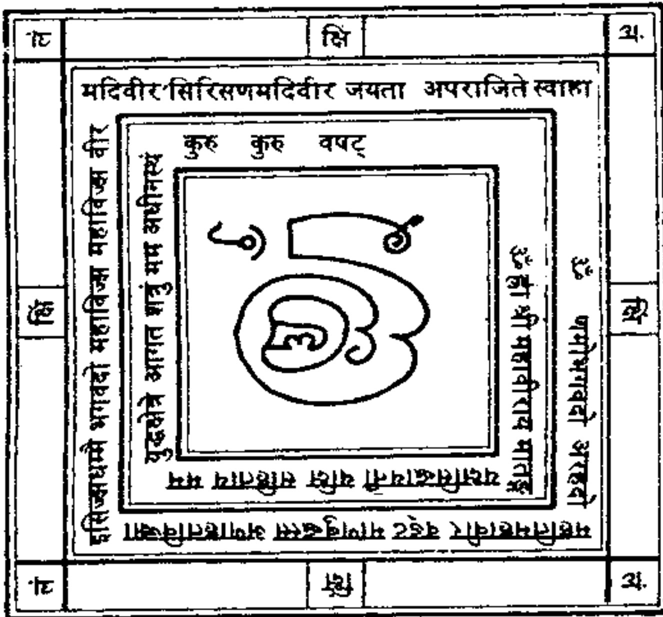


श्री नेमिनाथ अनाहत
यंत्र नं—२२

'मङ्गलम से साभार



श्री पार्श्व नाथ अनाहत
यंत्र नं.-२३



श्री महावीर अनाहत
यंत्र नं.-२४

'मङ्गलम से साभार

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत यन्त्र

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थों पर आधारित जैन विद्या का विश्वकोश है। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी जी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इस कोशग्रन्थ की रचना की थी। 'यन्त्र' शब्द के अन्तर्गत उन्होंने निम्न अड़तालीस यन्त्रों का उल्लेख किया है।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश के यन्त्रों की अकारादिक्रम से सूची

१. अंकुरार्पण यन्त्र
२. अग्निमण्डल यन्त्र
३. अर्हन्मण्डल यन्त्र
४. ऋषिमण्डल यन्त्र
५. कर्मदहन यन्त्र
६. कलिकुण्डदण्ड यन्त्र
७. कल्याणत्रैलोक्यसार यन्त्र
८. कुल यन्त्र
६. कूर्मचक्र यन्त्र
१०. गन्ध यन्त्र
११. गणधरवलय यन्त्र
१२. घटस्थानोपयोगी यन्त्र
१३. चिन्तामणि यन्त्र
१४. चौबीसी मण्डल यन्त्र
१५. जलमण्डल यन्त्र
१६. जलाधिवासन यन्त्र
१७. णमोक्कार यन्त्र
१८. दशलाक्षणिकधर्मचक्रोद्धार यन्त्र
१६. नयनोन्मीलन यन्त्र
२०. निर्वाणसम्पत्ति यन्त्र
२१. पीठ यन्त्र
२२. पूजा यन्त्र
२३. बोधिसमाधि यन्त्र
२४. मातृका यन्त्र
२५. मृत्तिकानयन यन्त्र
२६. मृत्युञ्जय यन्त्र
२७. मोक्षमार्ग यन्त्र
२८. यन्त्रेश यन्त्र
२६. रत्नत्रयचक्र यन्त्र
३०. रत्नत्रयविधान यन्त्र
३१. रुक्मपत्राङ्कित तीर्थमण्डल यन्त्र
३२. रुक्मपत्रांङ्कित वरुण मंडल यन्त्र
३३. रुक्मपत्राङ्कित व्रजमण्डल यन्त्र
३४. वर्द्धमान यन्त्र
३५. वश्य यन्त्र
३६. विनायक यन्त्र
३७. शान्ति यन्त्र
३८. शान्तिचक्रयन्त्रोद्धार
३६. शान्तिविधान यन्त्र
४०. षोडशकरणधर्मचक्रोद्धार यन्त्र
४१. सरस्वती यन्त्र
४२. सर्वतोभद्र यन्त्र (लघु)
४३. सर्वतोभद्र यन्त्र (बृहत्)
४४. सारस्वत यन्त्र
४५. सिद्धचक्र यन्त्र (लघु)
४६. सिद्धचक्र यन्त्र (बृहत्)
४७. सुरेन्द्रचक्र यन्त्र
४८. स्तम्भन यन्त्र

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत ये यन्त्र मुख्यतः पूजायन्त्र हैं। इन यन्त्रों को हम ऐतिहासिक विकासक्रम एवं तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से मुख्यतया तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं– प्रथम भाग में वे यन्त्र आते हैं जो मुख्यरूप से जैन परम्परा की धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित हैं और जिनके पूजा आदि का प्रयोजन भी व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास ही माना गया है। ऐसे यन्त्रों में अर्हन्मंडल यन्त्र (३); कर्मदहन यन्त्र (५); गणधरवलय यन्त्र (११); चौबीसी मंडल यन्त्र (१४); दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार यन्त्र (१८) निर्वाणसम्पत्ति यंत्र (२०) पूजा यन्त्र (२२); मोक्षमार्ग यन्त्र (२७); रत्नत्रयचक्रयन्त्र (२९); रत्नत्रयविधान यन्त्र (३०); विनायक यन्त्र (३६); शांतिविधान यन्त्र (३९) षोडशकरणधर्मचक्रोद्धार यन्त्र (४०); सरस्वती (जिनवाणी) यन्त्र (४१); सिद्धचक्र यन्त्र (लघु) (४५); सिद्धचक्र यन्त्र (बृहद्) (४६) आदि मुख्य हैं। यद्यपि इन यन्त्रों में कहीं–कहीं बीजाक्षरों और मातृकापदों का भी उल्लेख हुआ है फिर भी इनमें जो उपास्य देवता हैं वे जैनपरम्परा के पञ्चपरमेष्ठि, चौबीस तीर्थंकर आदि ही हैं। गणधरवलय यन्त्र में जिन अड़तालीस लब्धिधारियों का उल्लेख है वे भी जैन आगम सम्मत हैं। इसी प्रकार इन यन्त्रों में आत्मा के अष्टगुण, दशधर्म, रत्नत्रय, मोक्षमार्ग के चार अंग, बारह व्रत आदि का भी निर्देश किया गया है। सरस्वती या जिनवाणी यन्त्र में मुख्यरूप से आगमधरों तथा आगमों का उल्लेख हुआ है।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत यन्त्रों का दूसरा वर्ग वह है जिसमें अष्ट लोकपालों या दिक्पालों, अष्टदेवियों, सोलह विद्यादेवियों, चौबीस यक्षों एवं यक्षियों, जैन देव मण्डल में स्वीकृत देव–देवियों के नामोल्लेख पाये जाते हैं। ऐसे यन्त्रों में अंकुरार्पण यन्त्र (१) ऋषिमंडल यन्त्र (४) कुल यन्त्र (८); पीठ यन्त्र (२१); शांतिचक्रयन्त्रोद्धार (३८); सारस्वत यन्त्र (४४) प्रमुख हैं। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत यन्त्रों का तीसरा वर्ग, ऐसे यन्त्रों से सम्बन्धित है, जिनमें प्रमुखरूप से बीजाक्षरों का निर्देश किया गया है। ऐसे यन्त्रों में अग्निमण्डल यन्त्र (२); कलिकुण्डदण्ड यन्त्र (६); कल्याणत्रैलोक्यसार यन्त्र (७); कूर्मचक्र यंत्र (९); गन्ध यन्त्र (१०); घटस्थानोपयोगी यन्त्र (१२); चिन्तामणि यन्त्र (१३); जलमण्डल यन्त्र (१५); नयनोन्मीलन यन्त्र (१६); मातृका यन्त्र (२४); मृत्तिकानयन यन्त्र (२५); मृत्युञ्जय यन्त्र (२६); यन्त्रेश यन्त्र (२८); रुक्मपत्रांकित वरुण यन्त्र (३२); रुक्मपत्रांकित व्रजमण्डल यन्त्र (३३) वश्य यन्त्र (३५); लघुसिद्धचक्र यन्त्र (४५) (इस यंत्र में पञ्चपरमेष्ठि के साथ–साथ मातृकापदों का उल्लेख है);

सुरेन्द्रचक्रयन्त्र (४७) और स्तम्भन यंत्र (४८) मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तीर्थमण्डल यन्त्र और जलाधिवासन यन्त्र ऐसे यन्त्र हैं जिनमें क्रमशः तीर्थों और नदियों के निर्देश हैं।

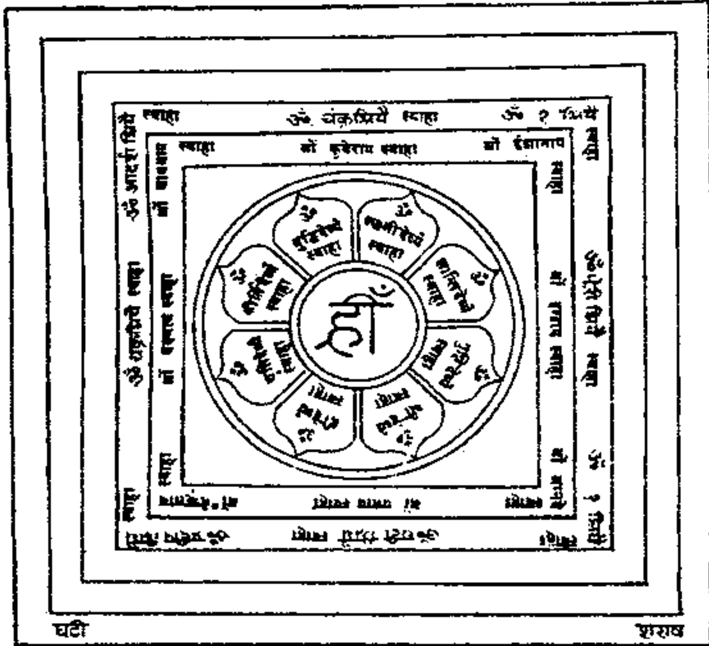
जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत ४८ यन्त्रों में मात्र एक यन्त्र णमोक्कार यन्त्र (१७) ही ऐसा यन्त्र है जो संख्याओं के आधार पर निर्मित किया गया है। शेष सभी यन्त्र बीजाक्षरो, मातृकापदों एवं मन्त्रों के आधार पर निर्मित हैं। इनमें जो आकृतिगत विशेषताएं हैं उन्हें इन यन्त्र–चित्रों के आधार पर सहज ही समझा जा सकता है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में न तो हम उनकी आकृतिगत विशेषताओं की चर्चा करेंगे और न इनको सिद्ध करने की विधि एवं इनके सिद्ध होने पर मिलने वाले फलों की चर्चा करेंगे, क्योंकि यहां हमारा मूल उद्देश्य जैनपरम्परा में तान्त्रिक साधनाओं के ऐतिहासिक विकासक्रम का तुलनात्मक अध्ययन करना है। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में वर्णित यन्त्रों के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिये जा रहे हैं–

१- अंकुरार्पण यंत्र

सर्वाङ्ग यक्ष



पीठम्



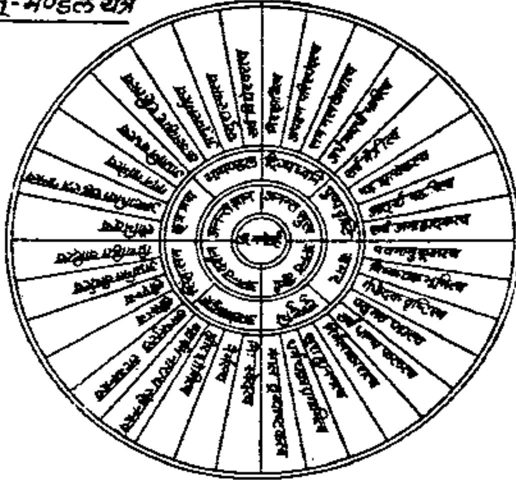
नोट- ऊपरसे चतुर्थ कोष्ठकमें दिये गए चक्रश्रियै आदि नाम संक्षित हैं।

२-अग्नि मण्डल यंत्र

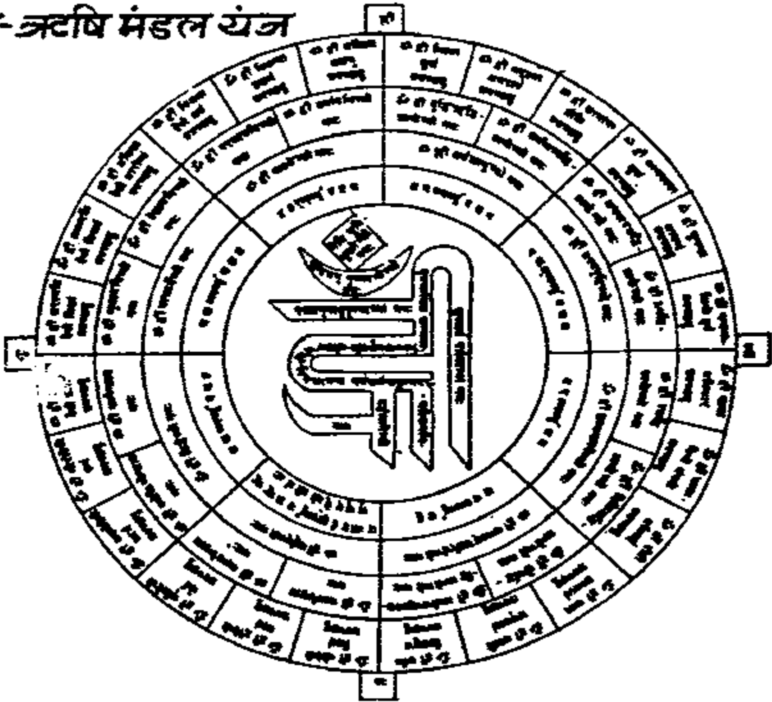


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

३- अर्हन्-मण्डल यंत्र

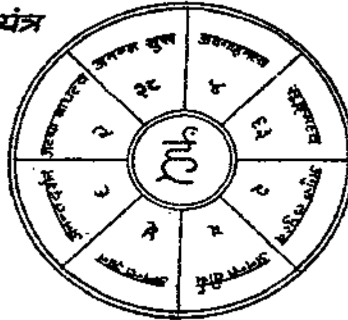


४-ऋषि मंडल यंत्र



'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

५- कर्म दहन यंत्र



६- कलिकुण्डदण्ड यंत्र

'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

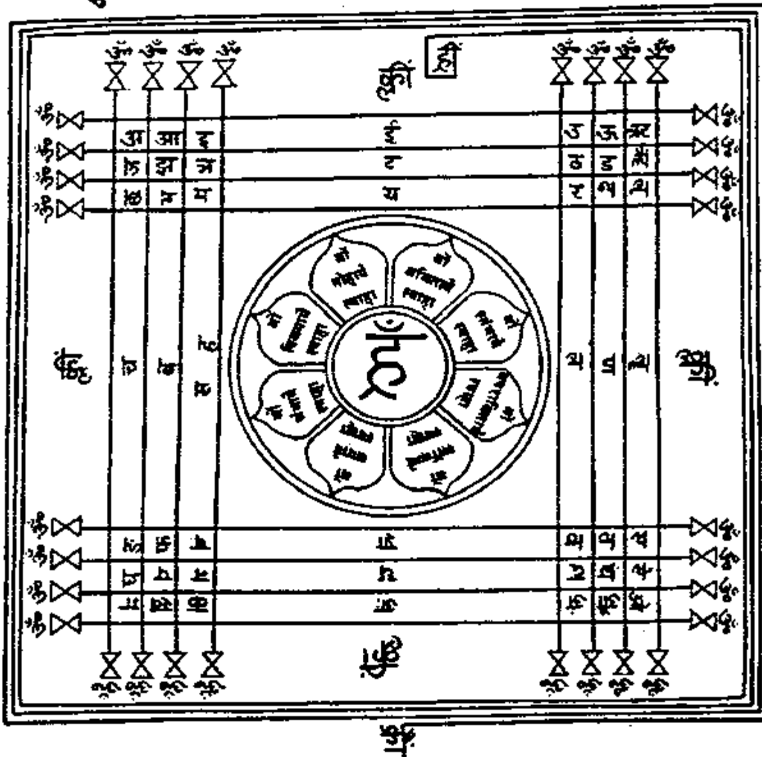
७-कल्याण त्रैलोक्यसार यंत्र



९-कूर्म चक्र यंत्र

<table>
<tr><td>ल क्ष</td><td colspan="3">क ख ग घ ङ</td><td>च छ ज झ ञ</td></tr>
<tr><td rowspan="3">श ष स ह</td><td>अं अः</td><td>अ आ</td><td>इ ई</td><td rowspan="3">ट ठ ड ढ ण</td></tr>
<tr><td>ओ औ</td><td>अपस्थानं</td><td>उ ऊ</td></tr>
<tr><td>ए ऐ</td><td>ऌ ॡ</td><td>ऋ ॠ</td></tr>
<tr><td>य र ल व</td><td colspan="3">प फ ब भ म</td><td>त थ द ध न</td></tr>
</table>

८-कुल यंत्र

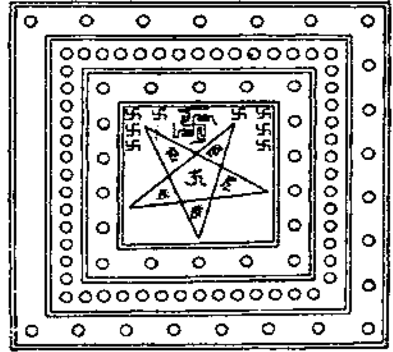


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

१०-गंध यंत्र



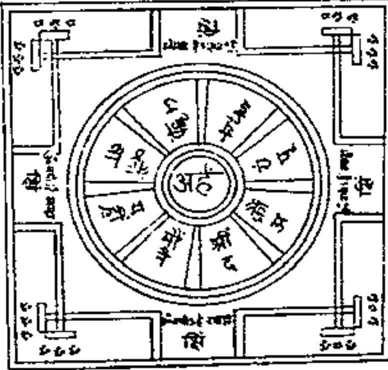
११-घट स्थापनोपयोगी यंत्र



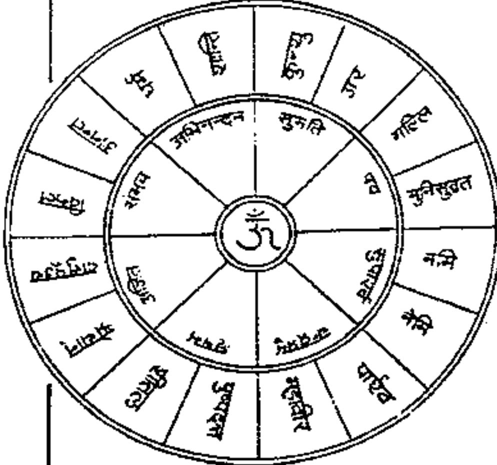
१२-गणधर वलय यंत्र

'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

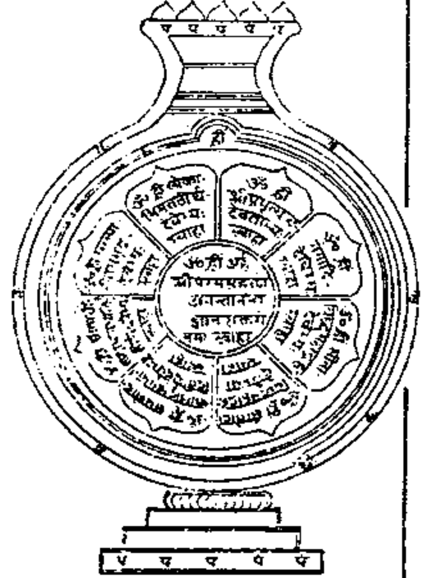
१३-चिन्तामणि यंत्र

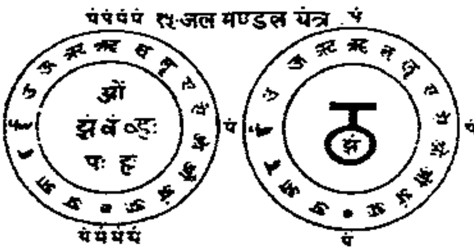


१४-चौबीसी मण्डल यंत्र



१६-जलादिवासन यंत्र





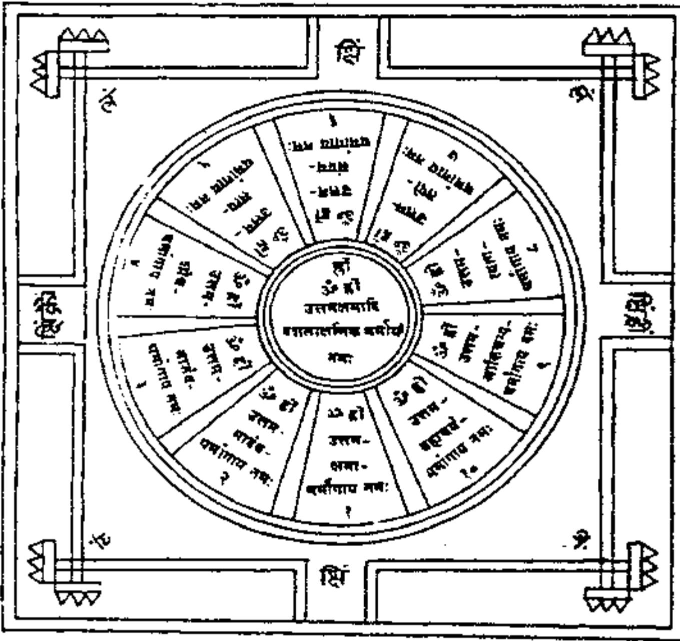
१५-जल मण्डल यंत्र

१७-णमोकार यंत्र

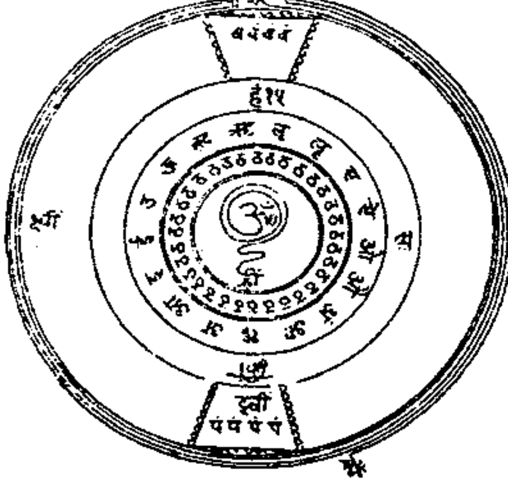
१	२	३	४	५
२	३	४	५	१
३	४	५	१	२
४	५	१	२	३
५	१	२	३	४

'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

१८-दशलाक्षणिक धर्म चक्रोद्धार यंत्र

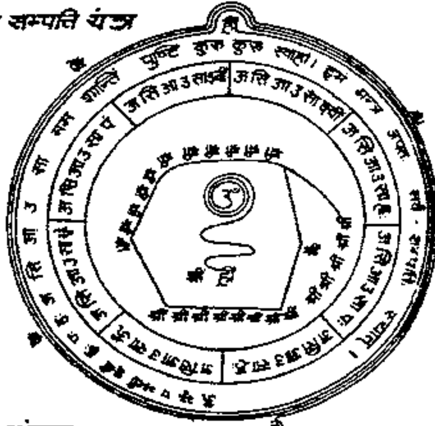


१९-नयनोन्मीलन यंत्र

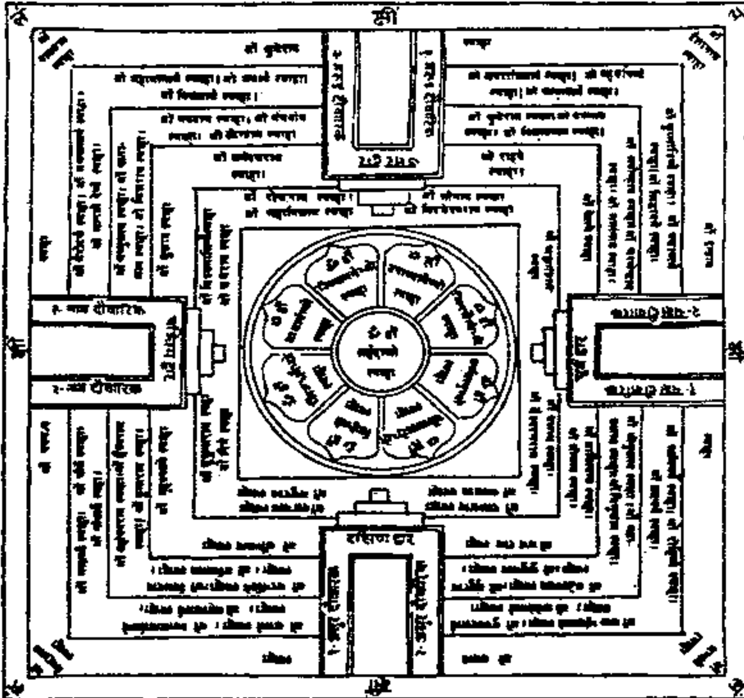


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

२०-निर्वाण सम्पति यंत्र

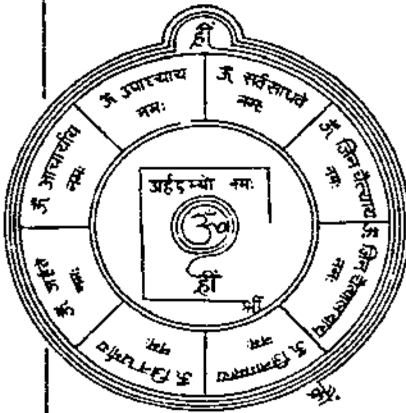


२१- पीठ यंत्र

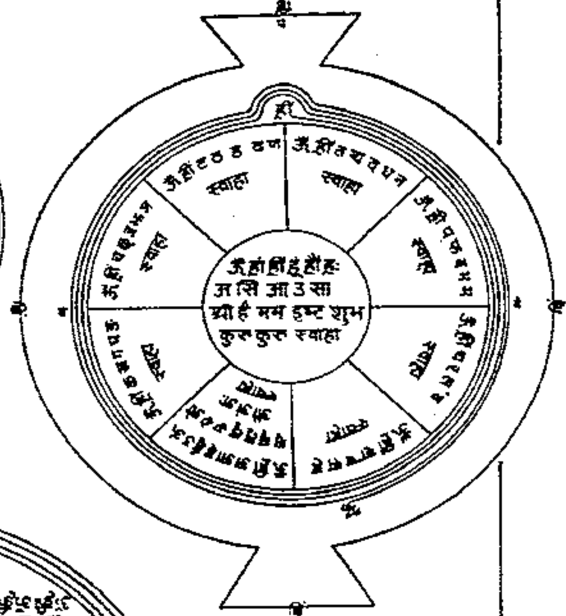


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

२२- पूजा यंत्र

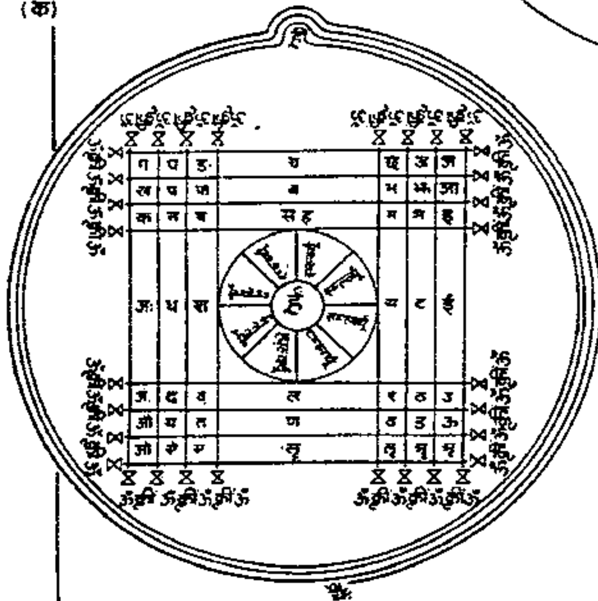


२३- बोधि समाधि यंत्र



२४-मातृका यंत्र

(क)



२४ (ख)

ॐ नमो	क ख ग घ ङ			च छ ज झ ञ
श ष स ह	अं अः	अ आ	इ ई	ट ठ ड ढ ण
	ओ औ	ॠ	उ ऊ	
	ए ऐ	ऌ ॡ	ऋ ॠ	
य र ल व	प फ ब भ म			त थ द ध न

क्ष्वीं ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा

'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

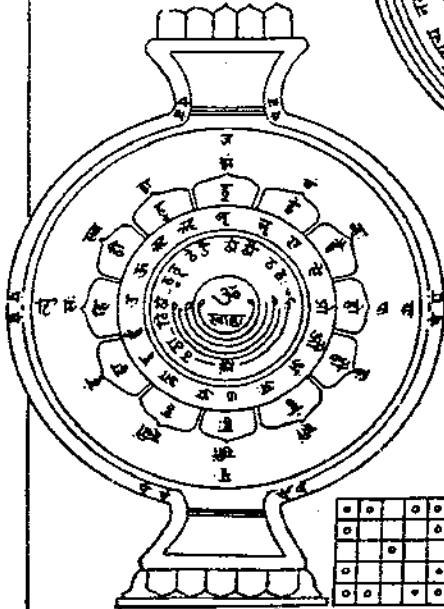
२५-मृत्तिकानयन यंत्र



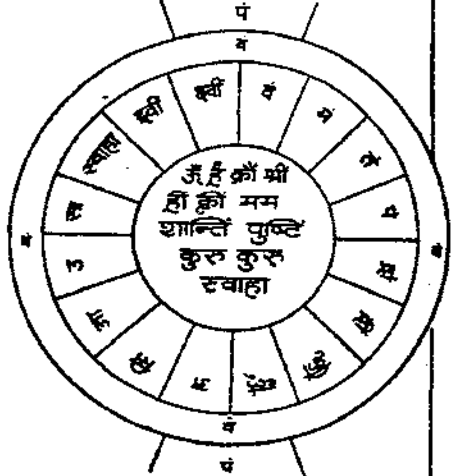
२७-मोक्षमार्ग यंत्र



२६-मृत्युञ्जय यंत्र

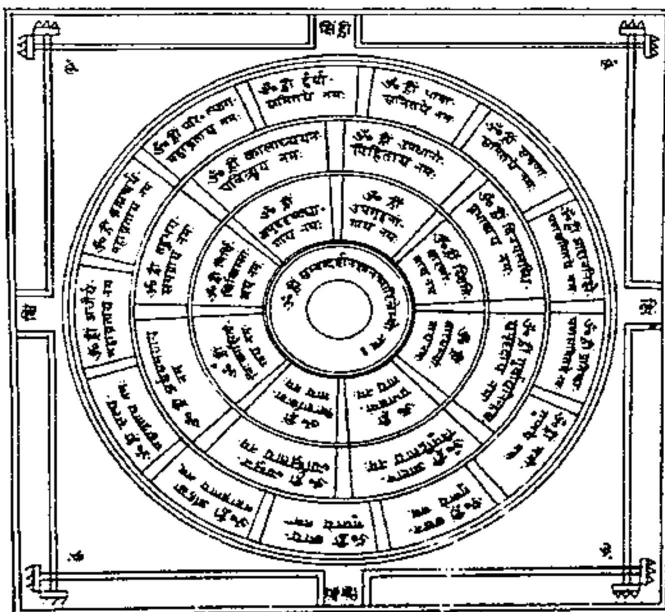


२८ यंत्रेश यंत्र



'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

२९-रत्नत्रय चक्र यंत्र



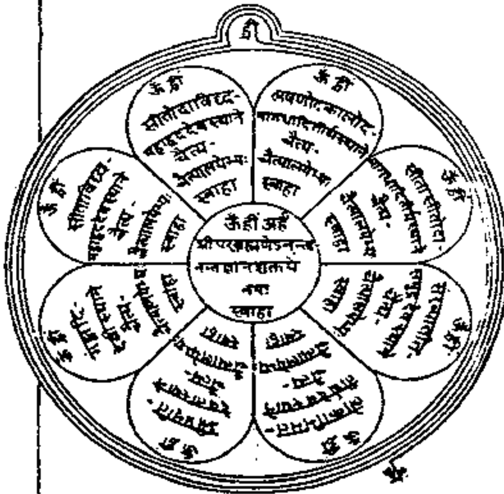
३०-रत्नत्रय-विधान यंत्र



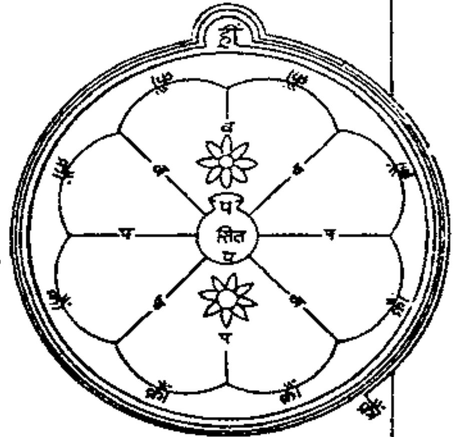
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

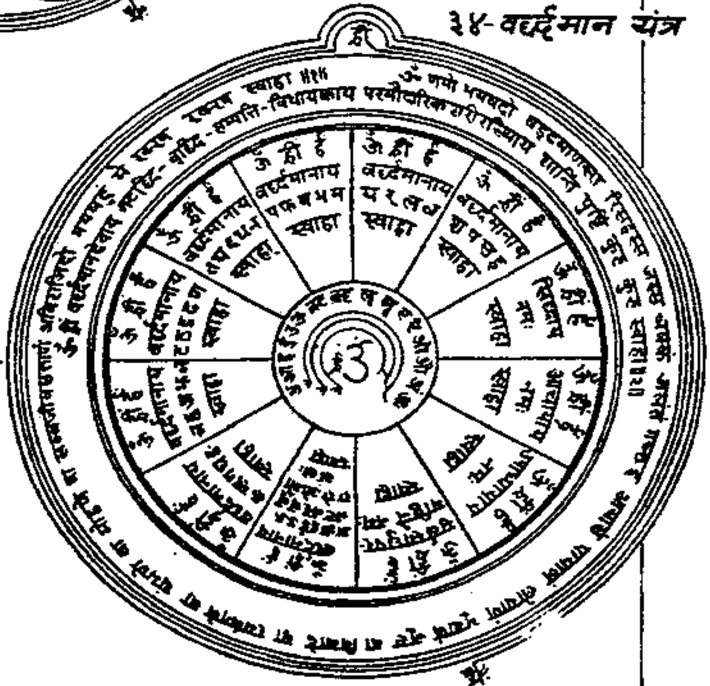
३१ - रुक्मपात्रांकित-तीर्थ-मण्डल यंत्र



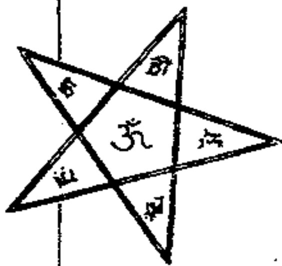
३२ - रुक्मपात्रांकित-वरुण-मंडल यंत्र



३४ - वर्द्धमान यंत्र

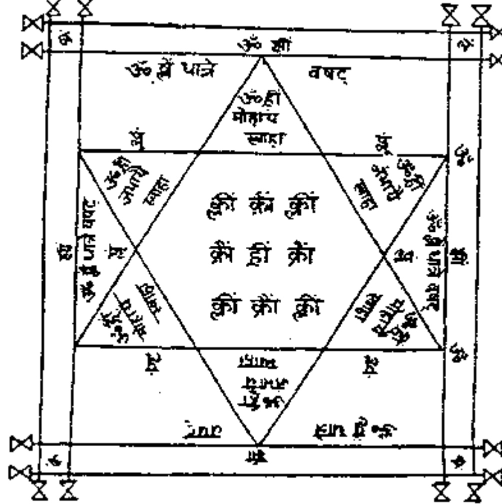


३३ - रुक्मपात्रांकित वज्रमंडल यंत्र

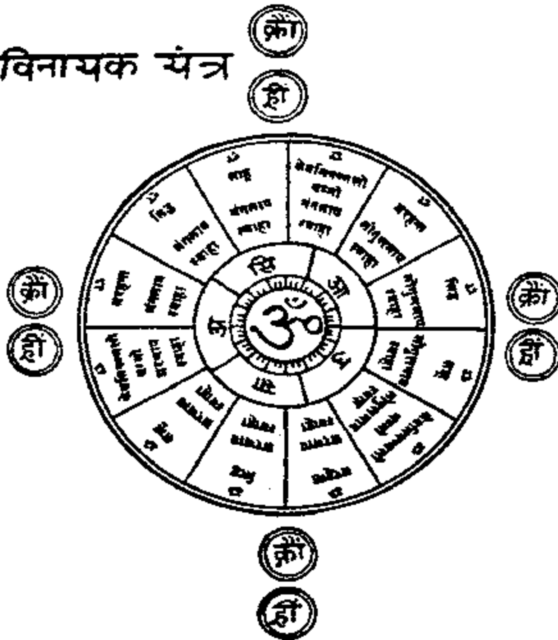


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

३५-वश्य यंत्र



३६-विनायक यंत्र



'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

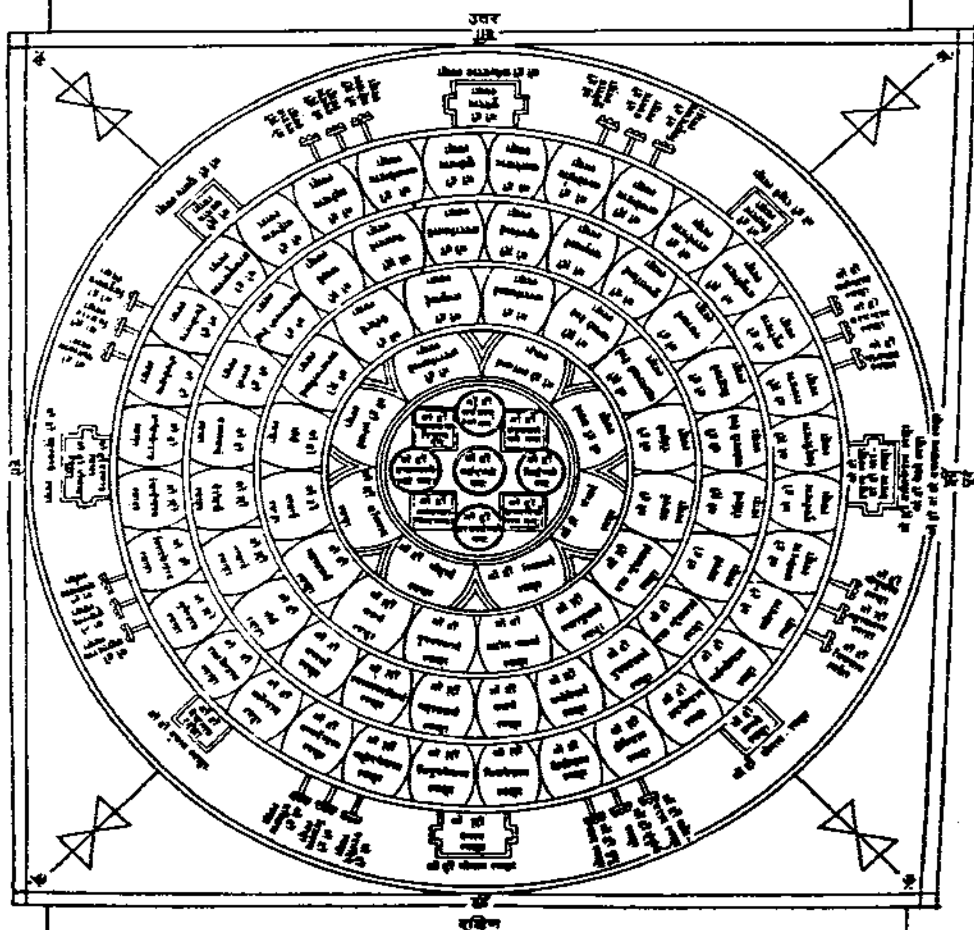
३७-शान्ति यंत्र

ह्रीं

अर्हं

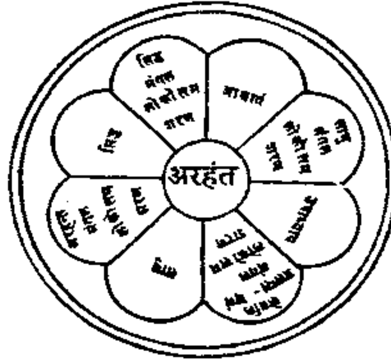
'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

३८-शान्ति चक्र यंत्रोद्धार

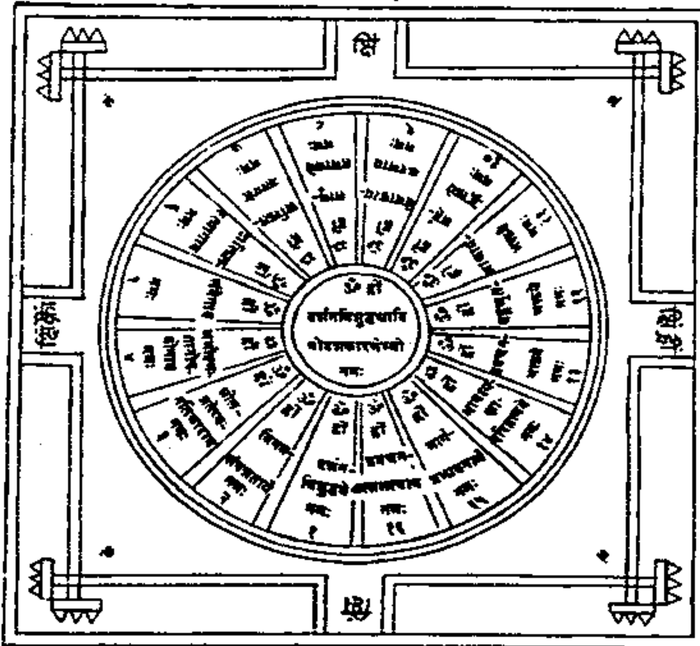


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

३९- शान्ति विधान यंत्र

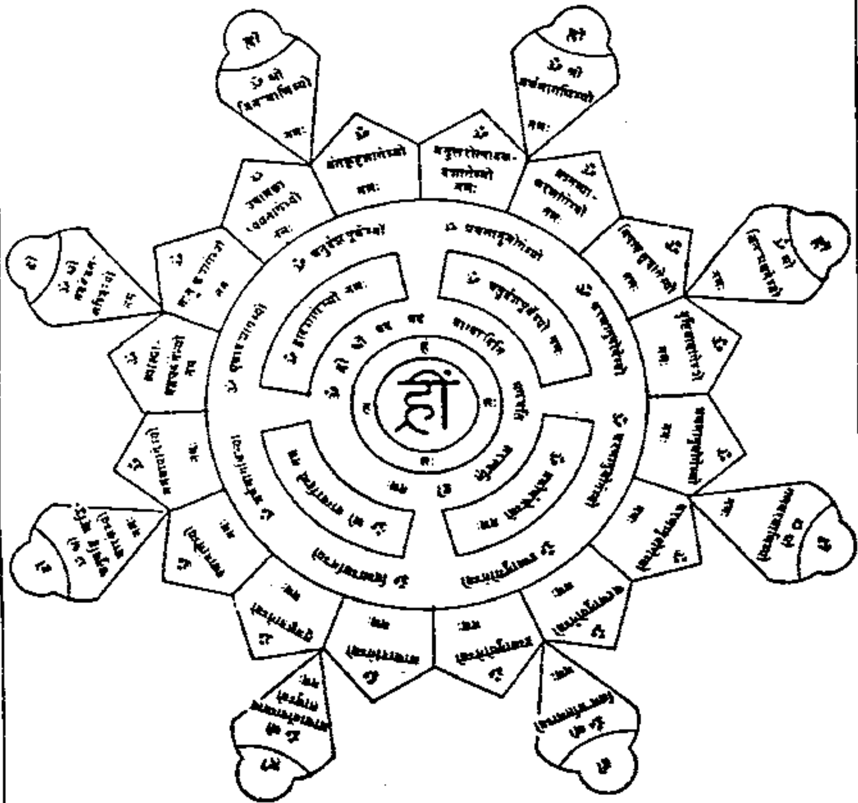


४०-षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यंत्र



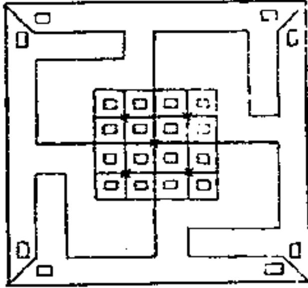
'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

४१-सरस्वती यंत्र

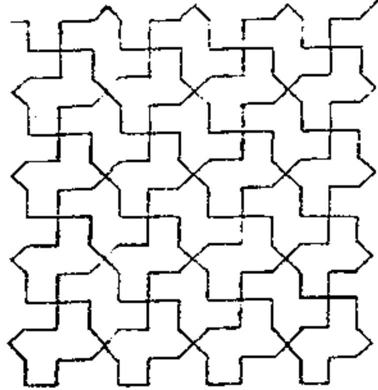


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

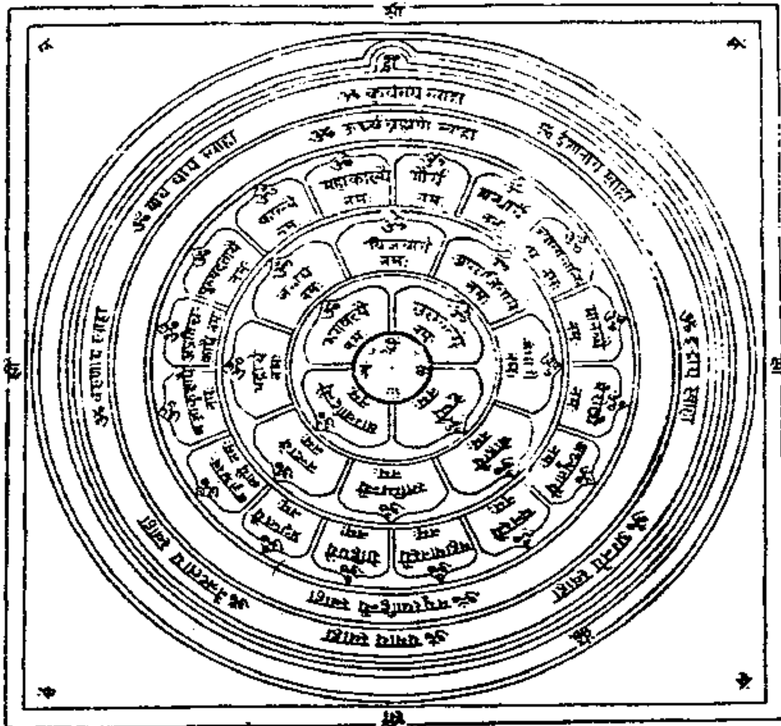
४२-सर्वतोभद्र यंत्र (लघु)



४३-सर्वतोभद्र यंत्र (वृहत)

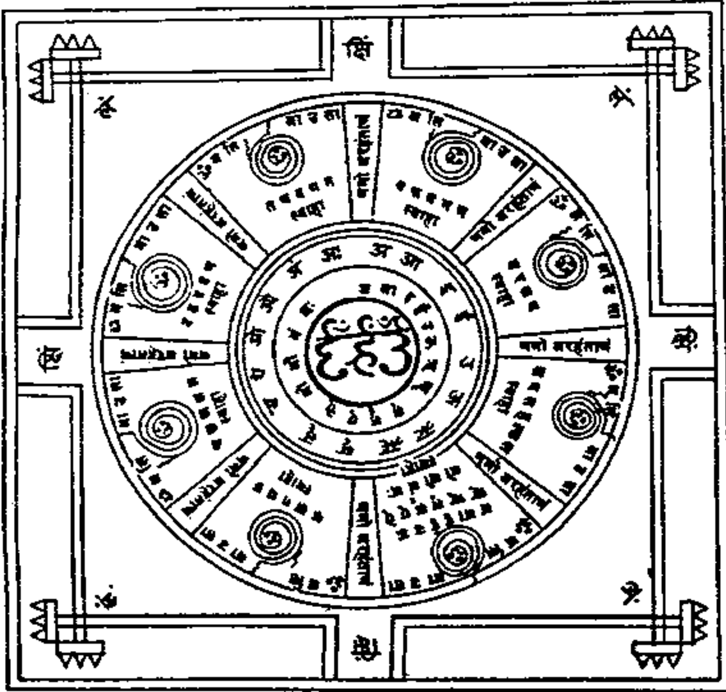


४४-सारस्वत यंत्र



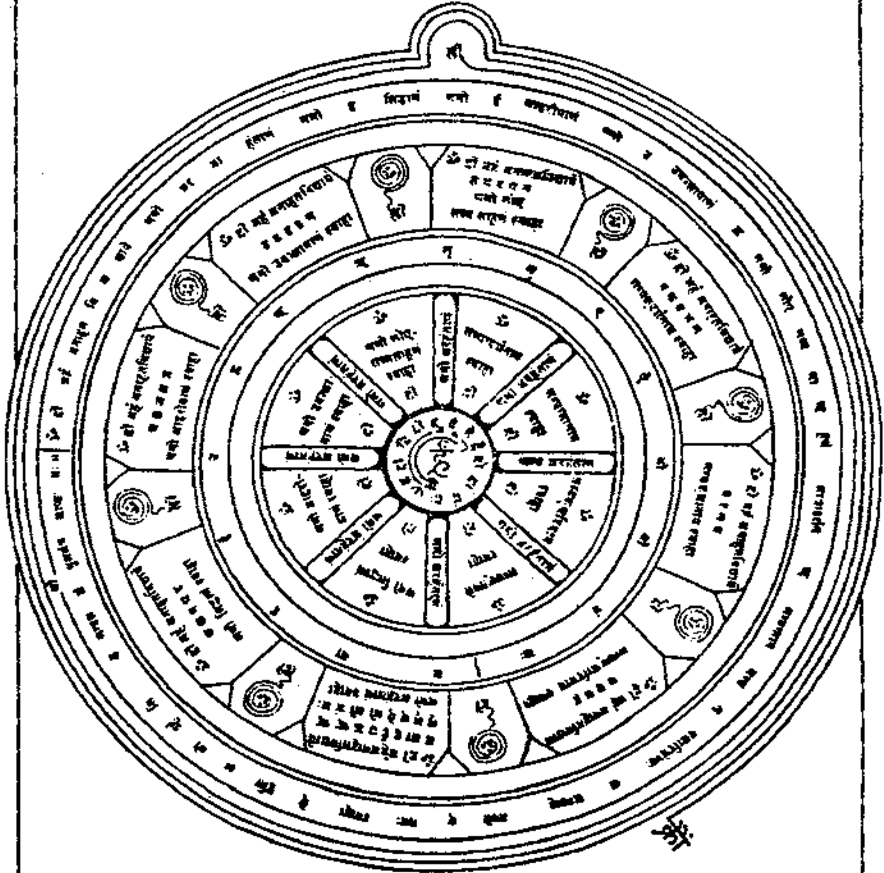
'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

४५-सिध्द चक्र यंत्र (लघु)



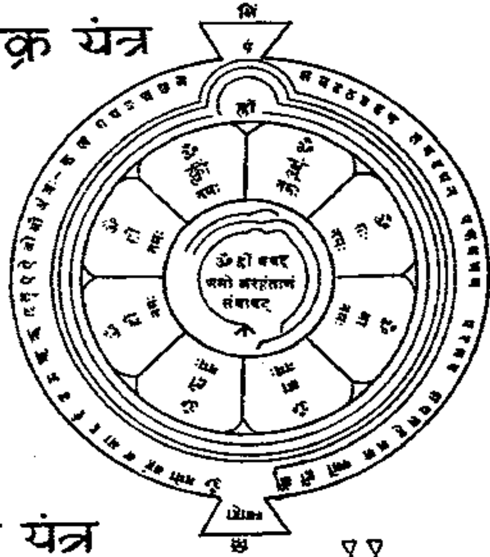
'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

४६-सिद्ध चक्र यंत्र (वृहत्)

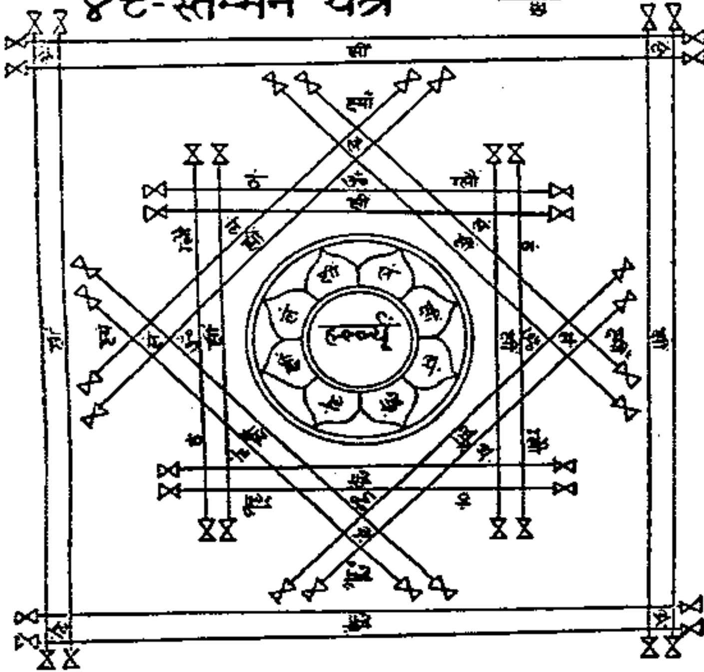


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

४७-सुरेन्द्र चक्र यंत्र



४८-स्तम्भन यंत्र

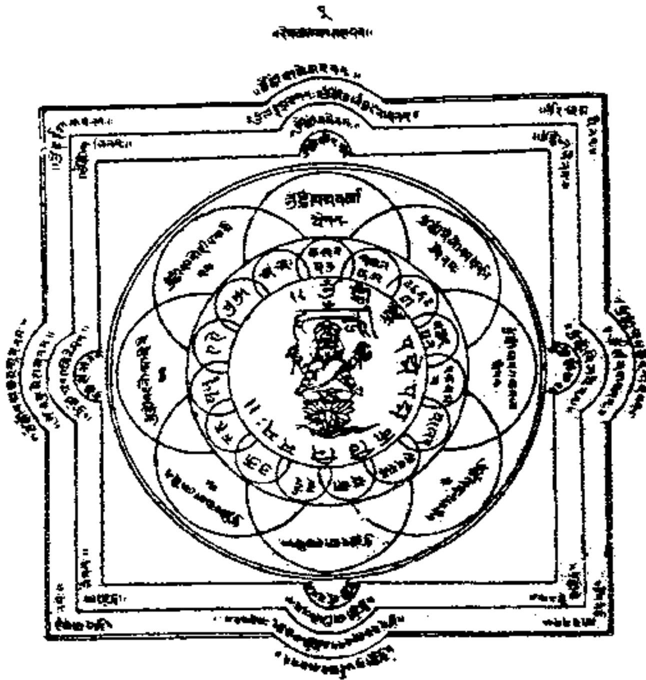


'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश से साभार'

भैरवपद्मावतीकल्प में संगृहीत यन्त्र

यन्त्रों के संग्रह के इस क्रम में 'भैरवपद्मावतीकल्प' में ४४ यन्त्र संगृहीत किये गये हैं। ये मंत्र 'मंगलम्' में संगृहीत चतुर्विंशतितीर्थंकर अनाहत यंत्रों और जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में संगृहीत अड़तालीस यन्त्रों से भिन्न हैं। उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में संगृहीत यन्त्र रचनाशैली के आधार पर, चाहे आंशिक रूप से तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित रहे हों, किन्तु विषयवस्तु की अपेक्षा से उनका निर्माण जैन परम्परा के आधार पर ही हुआ है। जबकि भैरवपद्मावतीकल्प में संगृहीत सभी यंत्र पूर्णतः तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित हैं। इनकी रचना 'जये'; 'जम्भे'; विजये'; 'मोहे'; 'अजिते'; 'स्तम्भे'; 'अपराजिते'; 'स्तम्भिनी; नामक देवियों तथा बीजाक्षरों के आधार पर ही हुई है। अधिकांश यन्त्रों में तो आकृतिगत समानता भी परिलक्षित होती है। इसके कुछ यन्त्रों की रचना मात्र–मातृकापदों के आधार पर भी हुई है। इनमें से कुछ यन्त्रों में मात्र पंचनमुक्कारो का उल्लेख होने से हम यह कह सकते हैं कि ये यन्त्र जैन परम्परा में ही निर्मित हुये हैं। किन्तु आश्चर्य है कि इनमें किसी भी पंचपरमेष्ठि का उल्लेख नहीं है। पुनः इन यन्त्रों में फलश्रुति के रूप में जिस प्रयोजन के सिद्धि की बात कही गयी है, वह पूर्णतः लौकिक है। इनमें दुष्टजनों से रक्षा, रोगों के उपशमन और उपसर्गों (अनपेक्षित) कष्टों से त्राण दिलाने की ही प्रार्थनाएं हैं। इनमें से कतिपय यंत्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे हैं–

भैरव पद्मावती कल्प से सम्बन्धित यन्त्र



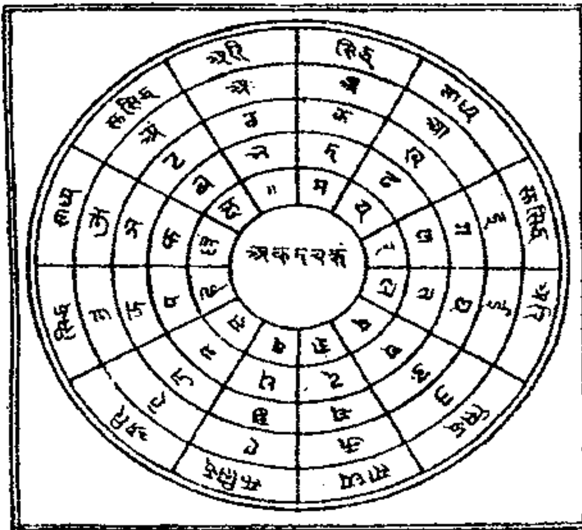
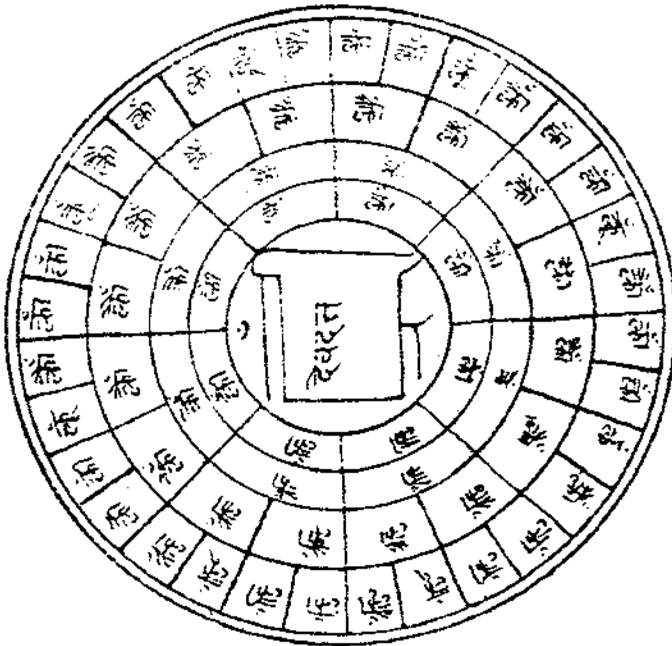


Fig. 2

'भैरवपद्मावतीकल्प' से साभार



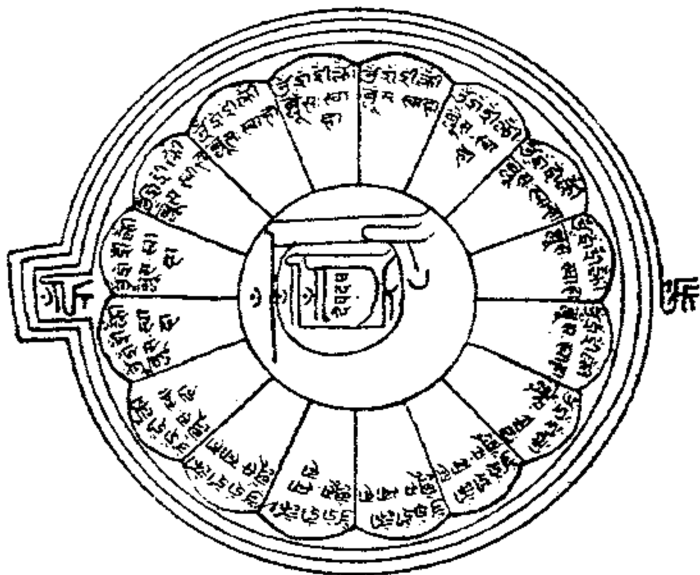


Fig. 4 'भैरवपद्मावतीकल्प' से साभार

'भैरवपद्मावतीकल्प' से साभार

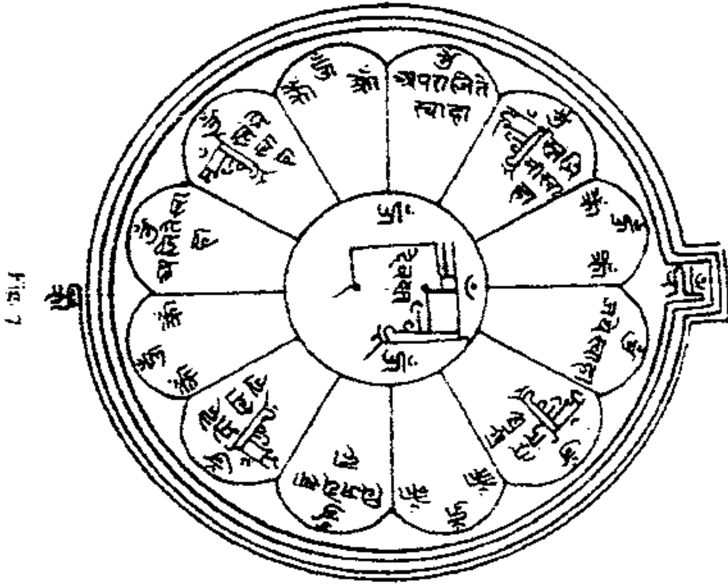


Fig. 7

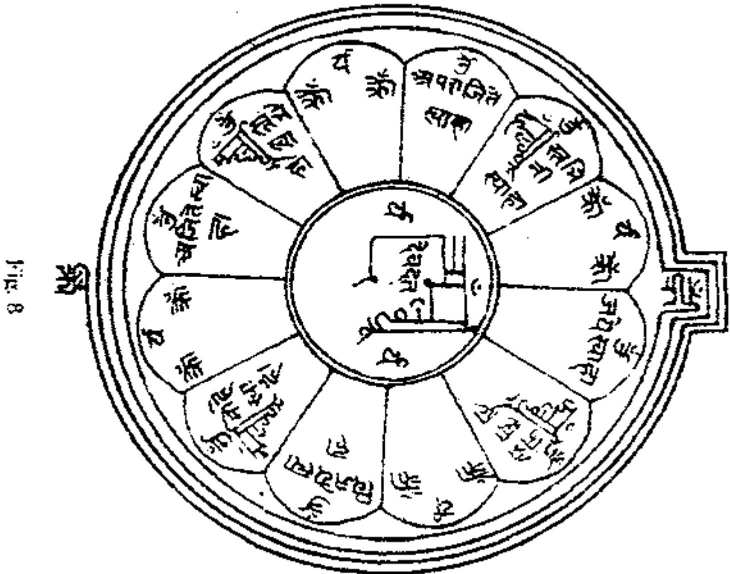
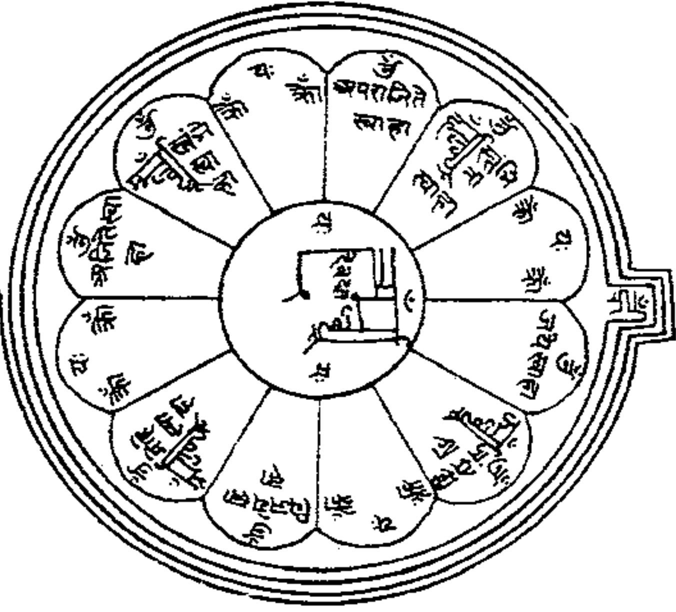
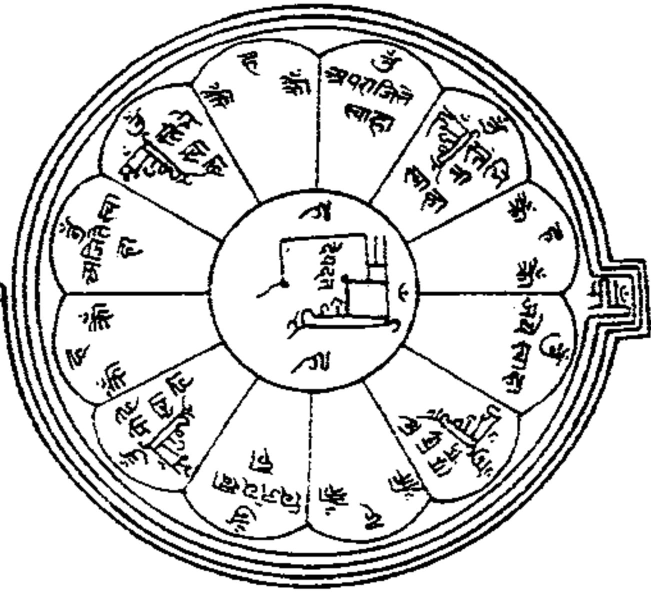


Fig. 8

'भैरवपद्मावतीकल्प' से साभार



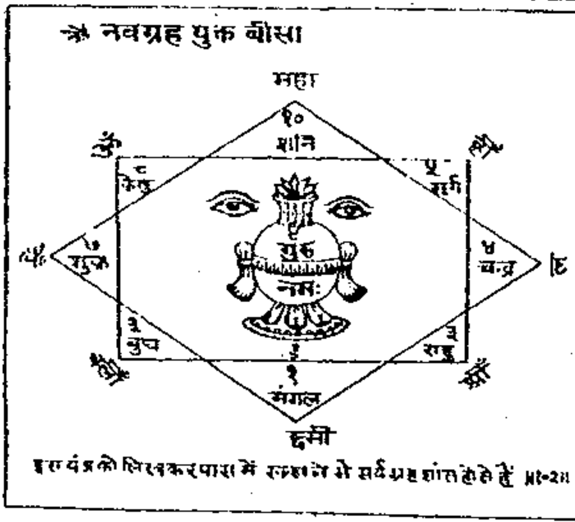


'भैरवपद्मावतीकल्प' से साभार

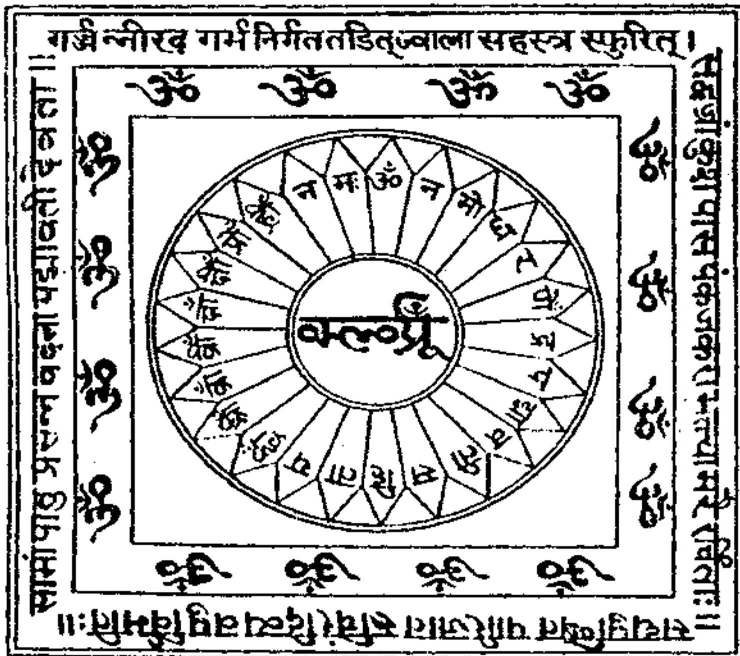
लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्र

आचार्य श्री कुन्थुसागर जी के लघुविद्यानुवाद नामक ग्रन्थ में अनेक यन्त्रों का विपुल मात्रा में संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न यक्ष–यक्षियों एवं देवियों से सम्बन्धित मन्त्रों से गर्भित यन्त्रों के साथ–साथ मातृकापदों और संख्याओं के आधार पर निर्मित यन्त्रों का भी एक बृहद् संग्रह है। यद्यपि जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश एवं लघुविद्यानुवाद दोनों ही ग्रन्थों की रचना दिगम्बर परम्परा में ही हुई है फिर भी लघुविद्यानुवाद में आचार्य श्री ने न केवल दिगम्बर परम्परा में प्रचलित यन्त्रों का संग्रह किया है अपितु उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित घण्टाकर्ण महावीर और उवसग्गहर स्तोत्र पर आधारित यन्त्र एवं अन्य ऐसे ही कुछ अन्य यन्त्रों का संग्रह किया है। मात्र यही नहीं, उनके इस ग्रन्थ में भैरव, सुग्रीव, हनुमान, गरुड़, शंकर, महादेव, शिव, तारा, चामुण्डा आदि हिन्दू परम्परा के अनेकों देवी–देवताओं द्वारा अधिष्ठित मंत्र और यन्त्र भी संगृहीत है। इसके साथ ही जहां तक मंगलम्, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश और भैरवपद्मावतीकल्प में संगृहीत यन्त्रों का प्रश्न है, उनमें संख्या पर आधारित यन्त्रों का प्रायः अभाव ही है। इनमें मात्र दो–तीन यन्त्र ही ऐसे हैं जिनमें संख्याओं का उल्लेख हुआ है, वहीं लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्रों में दो सौ से अधिक यन्त्र संख्याओं पर आधारित हैं। मात्र इतना ही नहीं लघुविद्यानुवाद में सामान्य यन्त्रों एवं संख्या पर आधारित यन्त्रों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए और उन्हें सिद्ध किस प्रकार से करना चाहिए, इसका भी विस्तार से उल्लेख हुआ है। जिन पाठकों की इसमें रुचि हो वे उन्हें उसमें देख सकते हैं।

लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्रों की एक विशेषता यह भी है कि इसके ६५ प्रतिशत यन्त्र तो लौकिक उपलब्धियों के निमित्त हैं। उदाहरणार्थ–द्रव्यप्राप्ति यन्त्र (पृ० २५७); वशीकरण यन्त्र (पृ० २५८); उच्चाटन निवारण यन्त्र (पृ० २५८); प्रसूतिपीड़ाहर यन्त्र (पृ० २५६); मृत्युकष्ट–निवारण यन्त्र (पृ० २५६); पिशाच पीड़ायन्त्र (पृ० २६०); सर्वकार्यलाभदाता यन्त्र (पृ० २६२); आपत्ति निवारण यंत्र (पृ० २६४); गृहक्लेश निवारण यन्त्र (पृ० २६५); गर्भरक्षा यन्त्र (पृ० २६६); प्रभाव प्रशंसावर्धक यन्त्र (पृ० २७२); ज्वरपीड़ाहर यन्त्र (पृ० २७४); पुत्रदाता यन्त्र (पृ० २८५); संकटमोचन यन्त्र (पृ० २६३) आदि यन्त्र लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए ही हैं। लघुविद्यानुवाद के धारण–यन्त्र कागज, भोजपत्र, चांदी अथवा सोने के पत्रों पर विधिपूर्वक लिखवाकर धारण किए जाने से व्यक्ति के लौकिक संकटों का निवारण होता है एवं सुख–सम्पत्ति आदि की प्राप्ति होती है। पाठकों की जानकारी के लिए हम उनमें से कुछ यन्त्रों को नीचे दे रहे हैं–

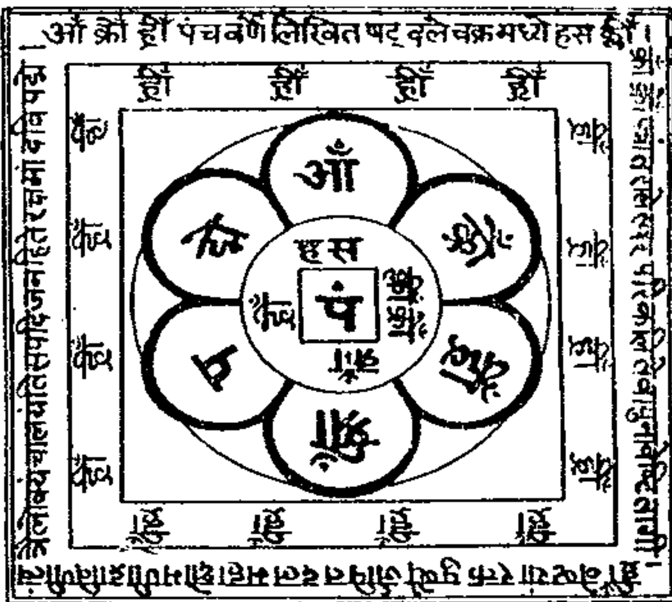


नवग्रह शांतियन्त्र

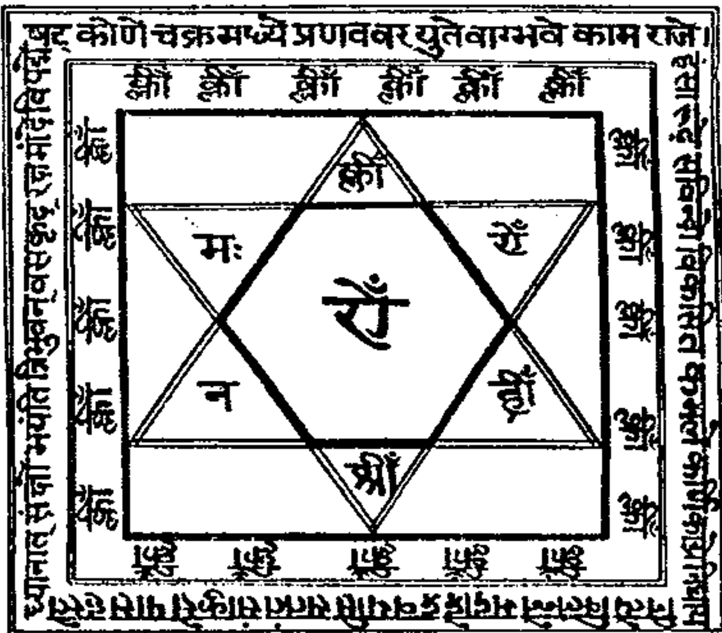


पुत्रप्रदाता धरणेन्द्र पद्मावती यन्त्र

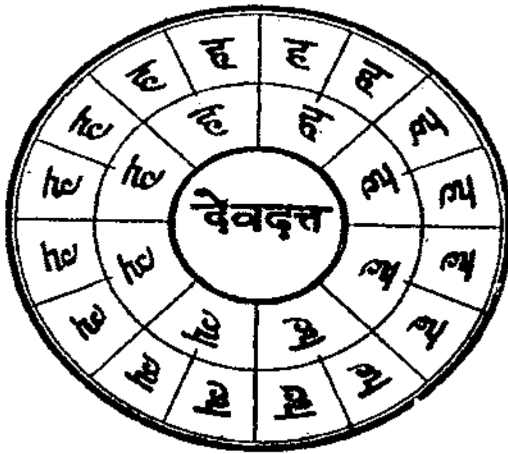
'लघुविद्यानुवाद' से साभार



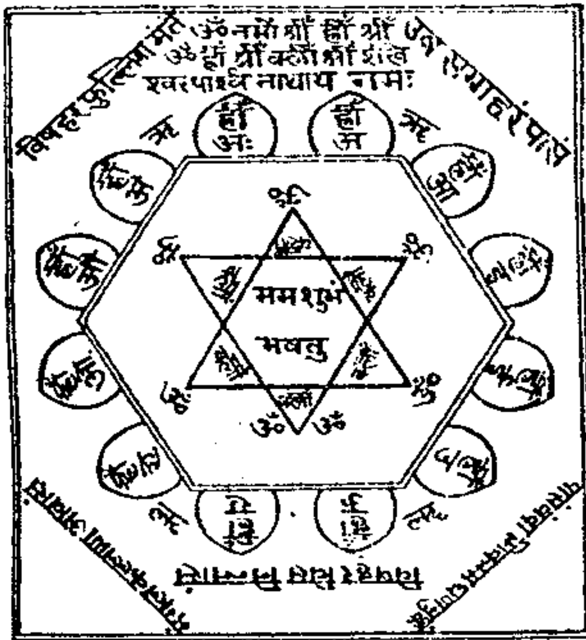
कीर्तिवर्धक एवं वशीकरण यन्त्र



बुद्धिप्रदाता यन्त्र 'लघुविद्यानुवाद' से साभार



शत्रुज्वर प्रदायक यन्त्र



सर्वसौख्यप्रदाता उवसग्गहर यन्त्र

'लघुविद्यानुवाद' से साभार

महा लक्ष्मये	५		नमः
९	श्रीं		६
ॐ	१	४	ह्रीं
	७	८	
३	क्लीं		२

लक्ष्मी प्रदाता यन्त्र

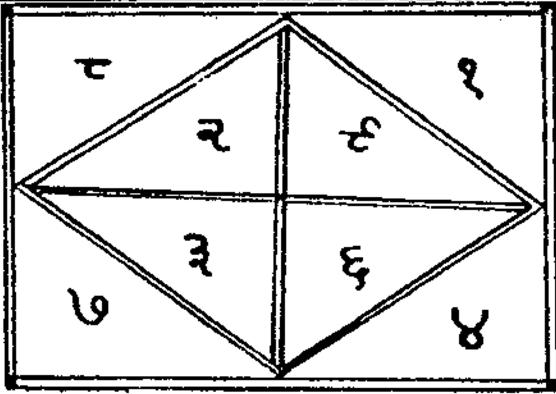
१५	६	८
२	१०	१८
१२	१४	४

प्रसूति पीड़ा हर यन्त्र

१६	२	१२
६	१०	१४
८	१८	४

गर्भ रक्षा तीसा यन्त्र

'लघुविद्यानुवाद' से साभार



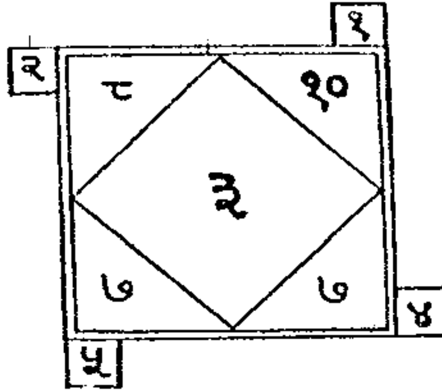
लाभप्रदाता बीसा यन्त्र

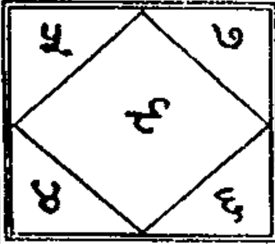
९	१६	२	७
६	३	१३	१२
१५	१०	८	१
४	५	१	१४

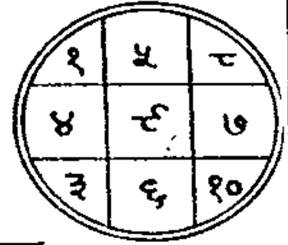
७	६	११
१२	८	४
५	१०	९

दृष्टि दोषहर चौबीसा यन्त्र

'लघुविद्यानुवाद' से साभार







शांतिपुष्टिप्रदाता यन्त्र

२२	२९	२	७
६	३	२६	२५
२८	२३	८	१
४	५	२४	२७

सर्व सौख्य प्रदाता चौबीस जिन पेसठिया यन्त्र

'लघुविद्यानुवाद' से साभार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में यन्त्रोपासना का विकास हुआ है और वह आजतक जीवित भी है। किन्तु लगभग नवीं–दसवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य में हमें कहीं भी यंत्रों के निर्माण और उनकी उपासना के उल्लेख नहीं मिलते। बाद में १०वीं–११वीं शताब्दी से जैन ग्रंथों में यंत्र रचना और यंत्रोपासना के विधि–विधान परिलक्षित होने लगते हैं। इससे यह भी फलित होता है कि यंत्रोंपासना की पद्धति जैनों की अपनी मौलिक नहीं रही। उन्होंने उसे अन्य परम्पराओं के प्रभाव से ही अपने में विकसित किया। सम्भावना यही है कि हिन्दू और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव से जैनों में यंत्र रचना और यंत्रोपासना की पद्धति विकसित हुई हो, किन्तु यंत्रों की आकृतिगत समरूपता को छोड़कर जैन यन्त्रों की हिन्दू और बौद्ध यंत्रों से और कोई समरूपता नहीं है। यंत्रों में लिखे जाने वाले नामों, पदों, बीजाक्षरों अथवा संख्याओं की योजना उन्होंने अपने ढंग से ही की है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यन्त्रों के प्रारूप तो जैनों ने अन्य परम्पराओं से गृहीत किये किन्तु उनकी विषय वस्तु और यन्त्र रचना विधि जैनों की अपनी मौलिक है।

अध्याय ८

ध्यान साधना और जैन धर्म

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां तक कि अति प्राचीन नगर मोहनजोदरो और हरप्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाये जाते हैं।[1] इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में ध्यानमार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

श्रमणधारा और ध्यान

औपनिषदिक और उसकी सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमणसाधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यानसाधना को स्थान देते रहे हैं– यह एक निर्विवाद तथ्य है। तान्त्रिक साधना में ध्यान को जो स्थान मिला है, वह मूलतः इसी श्रमणधारा की देन है। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान–साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान साधना की अपनी–अपनी विशिष्ट विधियाँ थीं, ऐसे संकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यान साधक श्रमण आचार्य रामपुत्त के पास स्वयं ध्यानसाधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्त के संबंध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[2] इन्हीं रामपुत्त का उल्लेख जैन आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग[3] में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृत्दशा[4], ऋषिभाषित[5] आदि में तो उनसे संबंधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृत्दशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित[6] में उनके उपदेशों का संकलन आज भी उपलब्ध है।

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं, मात्र यत्र–तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान–साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग परम्परा के साथ–साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा, जो आज जैन परम्परा के नाम से जानी जाती है, अपने अस्तित्व काल से ध्यान साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों आचारांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि में ध्यान का महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[७] उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।[८] आज भी जैन श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एवं पदयात्रा से लौटने पर गमनागमन एवं मलमूत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रातःकालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।[९] उसके आचार और उपासना के साथ कदम–कदम पर ध्यान की प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्त्व है– इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हों या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन प्रतिमा ध्यान–मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नहीं हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकांश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं– यथा अभयमुद्रा, वरदमुद्रा और उपदेशमुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यानमुद्रा में मिलती हैं– किन्तु नृत्यमुद्रा आदि में भी शिव प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहां अन्य परम्पराओं में अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रहीं, वहां तीर्थंकर या जिन प्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में ही निर्मित हुईं, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं बनीं। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का

साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन प्रतिमा/तीर्थंकर प्रतिमा ध्यानमुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है– यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

ध्यानसाधना की आवश्यकता

मानव मन स्वभावतः चंचल माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मन को दुष्ट अश्व की संज्ञा दी गई है, जो कुमार्ग में भागता है।[१०] गीता में मन को चंचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निगृहीत करना वायु को रोकने के समान अति कठिन है।[११] चंचल मन में विकल्प उठते रहते हैं-- इन्हीं विकल्पों के कारण चैतसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दुःख है। इसी चैतसिक पीड़ा या दुःख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दुःख–विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नहीं चाहता है। अद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना यही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनावों से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समता युक्त चित्त की उपलब्धि ही है इसे ही समाधि–सामायिक (प्राकृत–समाहि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना पद्धतियाँ जो चित्त को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्व–युक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

ध्यान का स्वरूप एवं प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।[१२] चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चंचलता को समाप्त करने का

अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चंचलता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही 'योग' है। स्पष्ट है कि चित्त की चंचलता की समाप्ति या चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव है। अतः ध्यान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है।

गीता में मन की चंचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।[१३] उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं— १. अभ्यास, २. वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निगृहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।[१४] चंचल चित्त की संकल्प--विकल्पात्मक तरंगें या वासनाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नहीं हो जाते हैं। पहले उनकी भाग--दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय—मन या विक्षोभित चित्त निरोध के संकल्प मात्र से नियन्त्रित नहीं हो पाता है। पुनः यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मनुष्य को पागलपन के कगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयंकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चंचलता का यकायक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है।

प्रथमतः मानव मन की गतिशीलता को नियंत्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता यकायक समाप्त तो नहीं होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है। ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्व प्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म—चिन्तन में लगाया जाता है— फिर क्रमशः इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल या क्षीण किया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैतसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त—दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। उसके द्वारा संकल्प—विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है विविध वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना—शक्ति अनेक रूपों में विखण्डित होकर स्वतः में ही संघर्षशील हो जाती है।[१५] उस शक्ति का यह

बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैतसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूंकि वह विघटित चेतना को संगठित करता है इसीलिए वह योग (Unification) है। ध्यान चेतना के संगठन की कला है। संगठित चेतना ही शक्तिस्रोत है, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धियां या सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं एवं आकांक्षाओं के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इन विभक्त एवं निर्बल चित्तधाराओं को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियंत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बांध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान भी हमारी चेतनाधारा को सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बांध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ति का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

संक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एवं उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। वह चित्त वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्षोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामतः वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्परिक लाभ

ध्यानशतक (झाणाज्झयन) में ध्यान से होने वाले पारम्परिक एवं व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया है कि धर्म ध्यान से शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एवं अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। यहां यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकांक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हो, तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा ही। फिर भी यह शुभास्रव अन्ततोगत्वा मुक्ति का निमित्त होने से उपादेय ही माना गया है। ऐसा आस्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण संसार की अभिवृद्धि का कारण नहीं बनता है।[%]

पुनः ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,[१७] जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के संचित कर्म संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।[१८] जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।[१९] संक्षेप में ध्यान साधना से आत्मा, कर्मरूपी मल एवं आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाता–द्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान और तनावमुक्ति

ध्यान के इन चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है, वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद, आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता है।[२०] ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता–द्रष्टा भाव में स्थित होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिति में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणित नहीं होता है। अतः काषायिक भावों की परिणति नहीं होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (झाणाज्झयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीड़ायें भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दुःखों से भी विचलित नहीं होता है। वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।[२१] यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीड़ाओं को भूल जाते हैं; जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख–प्यास आदि को भूल जाता है। अतः ध्यान में दैहिक पीड़ाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है।

ध्यान के व्यावहारिक लाभ

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पांच लाभ हैं[22] १. देह जाड्य शुद्धि – श्लेष्म एवं चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २. मति जाड्य शुद्धि – कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३.सुख–दुःख तितिक्षा, (समताभाव) ४. कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५. ध्यान, कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुतः ध्यान साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग–दौड़ को नियंत्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियंत्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैतसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके न केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वयं अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्मबोध से महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नहीं। आत्मसाक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह 'कोऽहं' से 'सोऽहं' तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुतः अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी संभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात्, इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अतः ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्वप्रथम तो हमें अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है–

दूसरे शब्दों में हम अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जागते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हमें उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं– विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाव से रहित शुद्ध आत्मदशा की अनुभूति करता है– यही परमात्म दर्शन है, स्वभावदशा में रमण है। यहां यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्म–दर्शन में कैसे सहायक होता है।

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आंख बन्द करनी होती है। जैसे ही आंख बन्द होती है– व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत् से टूटकर अन्तर्जगत् से जुड़ता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुएं न होकर मनोसृजनाएं होती हैं। जब व्यक्ति इन मनोसृजनाओं (संकल्प–विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर–निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्म–अनात्म का विवेक या स्व–पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता–भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म–दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग–दौड़ समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाएं या संकल्प–विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताएं समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज–समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, संकल्प–विकल्पों एवं तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अतः वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुणस्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुणस्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग–आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात् शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अतः ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन परम्परा में ध्यान

में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है वे निम्न हैं–

ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि[23]–

अर्थात् "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहां हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नहीं है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नहीं अपनेपन के भाव अर्थात् ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्म–विशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।[24] सम्यक् ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यक् दर्शन से तत्त्व–श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक् चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अतः ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना विधि में ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जब आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थित होता है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अतः ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैनदर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधना विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में निर्विकल्पक समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

ध्यान और समाधि

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनि--जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकांक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।[२५] धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।[२६] वस्तुतः चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है और उसकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है, उदाहरण के रूप में जब वायु के संयोग से जल तरंगायित होता है तो उस तरंगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनाव युक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुतः चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अतः ध्यान और समाधि समानार्थक हैं; फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टांग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।[२७] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों में ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकंपता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहां ध्यान का योग से क्या संबंध है? यह भी विचारणीय है। जैन परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।[२८] उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान–साधना का प्रयोजन योग–निरोध ही है। वस्तुतः मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिकयोग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चंचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है।

अतः मन की सक्रियता के निरोध से ही योग–निरोध संभव है। योग–दर्शन भी जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[२९] वस्तुतः जहां चित्त की चंचलता समाप्त होती है, वहीं साधना की पूर्णता है और वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चंचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन–साधना और योग–साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखें तो जैन दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

'योग' शब्द का एक अर्थ जोड़ना (Unification) भी है।[३०] इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोड़ता है। वस्तुतः जब चित्तवृत्तियों की चंचलता समाप्त हो जाती है, चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य–कारण भाव अथवा साध्यसाधन की दृष्टि से विचार करते हैं तो ध्यान साधन होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग

जैन साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छः प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग–अलग उल्लेख किया गया है।[३१] इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि से ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न–भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहां काया (शरीर) व्यापक अर्थ में गृहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात् देह–त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो संभव नहीं है। अतः कायोत्सर्ग का मतलब है देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधियां भी दो प्रकार की होती हैं–एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक

गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें श्वसन–प्रक्रिया, छींक, जम्हाई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों के निरोध नहीं करने का ही स्पष्ट उल्लेख हैं।[32] अतः कायोत्सर्ग ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐच्छिक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अतः कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पड़ता है। जो चित्त विचलन का या राग–द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन में मन की चार व्यवस्थाएं – जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अतः चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं– १. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीन मन।[33]

१. विक्षिप्त मन– यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चंचल होता है, इधर–उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें संकल्प–विकल्प या विचारों की भाग–दौड़ मची रहती है, अतः इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२. यातायात मन– यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोड़े बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुनः बाह्य विषयों के संकल्प–विकल्प में उलझ जाता है। जब–जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथंचित् अन्तर्मुखी और कथंचित्

बहिर्मुखी होता है।

३. श्लिष्ट मन– यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे–जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

४. सुलीन मन– यह मन की वह अवस्था है, जिसमें संकल्प–विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ– अभिधम्मत्थसंगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है– १. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर।[34]

१. कामावचर चित्त– यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमे वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सांसारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२. रूपावचर चित्त– इस अवस्था में वितर्क–विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३. अरूपावचर चित्त– इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नहीं है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४. लोकोत्तर चित्त– इस अवस्था में वासना–संस्कार, राग–द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत् पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ– योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं। १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[35]

१. क्षिप्त चित्त– इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। स्थिरता नहीं रहती है।

यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता।

२. मूढ़ चित्त– इस अवस्था में तन की प्रधानता रहती है और इसमें निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है। क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नहीं होता है।

३. विक्षिप्त चित्त– विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय पर लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है।

४. एकाग्र चित्त– यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है।

५. निरुद्ध चित्त– इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जैनदर्शन	बौद्धदर्शन	योगदर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार

जैन दर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रूपावचर चित्त और योग दर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोड़ी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध–दर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्रचित भी समान ही हैं। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एवं संकल्प–विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना संस्कार एवं संकल्प–विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए अर्थात् विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[३६]

इस प्रकार चित्त–वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य ध्यानपरम्पराओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन–क्षोभित होता है, जिससे चेतना का समत्व भंग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

ध्यान का सामान्य अर्थ

'ध्यान' शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना है।[३७] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए– १. प्रशस्त और २. अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुनः दो रूप माने गये १. आर्त और २. रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये १. धर्म और २. शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्त ध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा या प्राप्त वस्तु के वियोग की संभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त ध्यान है।[३८] आर्त ध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल

विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।[३९] इस प्रकार आर्तध्यान रागमूलक होता है और रौद्रध्यान द्वेषमूलक होता है। राग–द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान संसार के जनक हैं, अतः अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व–पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्म ध्यान है। यह लोकमंगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता हैं। चूंकि धर्म ध्यान में भोक्ताभाव होता है, अतः यह शुभ आस्रव का कारण होता हैं। जब आत्मा या चित्त की वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती हैं, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुड़ता है और न भोक्ताभाव से जुड़ता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्तशुभ–अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

'ध्यान' शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है। इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[४०] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'कि अनेक अर्थों का आलम्बन देने वाली चिन्ता का निरोध ध्यान है'।[४१] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु पर केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवतीआराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग–द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[४२] आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४३] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने "दंसणणाण समग्गं" का अर्थ सम्यक्–दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नहीं है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्गं) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[४४] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं

में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएं एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। चित्त का विधि विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं—एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के संबंध में यह विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाव वाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहां का वातावरण अशान्त हो, जहां सेना का संचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूंज रहे हों, जहां जन्तुओं तथा नंपुसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। इसी प्रकार कांटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, श्रृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नहीं होते।[४५]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पड़ता है। धर्म स्थलों एवं नीरव साधना–क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान–साधना के लिए उपयुक्त होती है। अतः ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। संयमी साधक को समुद्र तट, नदी तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के संबंध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा में अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यकासन एवं खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के संबंध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि

यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पड़ता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नहीं होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिए श्रेष्ठ आसन हैं।[४६] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[४७] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४८] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान का काल

सामान्यतया सभी कालों में शुभ भाव संभव होने से ध्यान साधना का कोई विशिष्ट काल नहीं कहा गया है। किन्तु जहां तक मुनि सामाचारी का प्रश्न है, उत्तराध्ययन में सामान्य रूप से मध्याह्न और मध्यरात्रि को ध्यान के लिए उपयुक्त समय बताया गया है।[४९] उपासकदशांग में सकडाल पुत्र के द्वारा मध्याह में ध्यान करने का निर्देश है।[५०] कहीं–कहीं प्रातः काल और सन्ध्याकाल में भी ध्यान करने का विधान मिलता है।

ध्यान की समयावधि

जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है कि किसी व्यक्ति की चित्त वृत्ति अधिकतम कितने समय तक एक विषय पर स्थिर रही सकती है। इस संबंध में उनका निष्कर्ष यह है कि किसी एक विषय पर अखण्डित रूप से चित्त वृत्ति अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिर नहीं रह सकती। अन्तर्मुहूर्त से उनका तात्पर्य एक क्षण से कुछ अधिक तथा ४८ मिनट से कुछ कम है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं किया जा सकता है। यह सत्य है कि इतने काल के पश्चात् ध्यान खण्डित होता है, किन्तु चित्तवृत्ति को पुनः नियोजित करके ध्यान को एक प्रहर या रात्रिपर्यंत भी किया जा सकता है।

ध्यान और शरीर रचना

जैन आचार्यों ने ध्यान का संबंध शरीर से भी जोड़ा है। यह अनुभूत तथ्य है कि सबल, स्वथ्य और सुगठित शरीर ही ध्यान के लिए अधिक योग्य होता है। यदि शरीर निर्बल है, सुगठित नहीं है तो शारीरिक गतिविधियों को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं किया जा सकता और यदि शारीरिक

गतिविधियां नियंत्रित नहीं रहेंगी तो चित्त भी नियन्त्रित नहीं रहेगा। शरीर और चित्तवृत्तियों में एक गहरा संबंध है। शारीरिक विकलताएं चित्त को विकल बना देती हैं और चैतसिक विकलताएं शरीर को। अतः यह माना गया है कि ध्यान के लिए सबल निरोग और सुगठित शरीर आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र में तो ध्यान की परिभाषा देते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अंतःकरण की वृत्ति का नियोजन ध्यान है।[५१] जैन आचार्य यह मानते हैं कि छः प्रकार की शारीरिक संरचना में से वज्रऋषभनाराच, अर्धवज्रऋषभनाराच, नाराच और अर्धनाराच ये चार शारीरिक संरचनाएँ ही (संहनन) ध्यान के योग्य होती हैं।[५२] यद्यपि हमें यहां स्मरण रखना चाहिए कि शारीरिक संरचना का सहसंबंध मुख्य रूप से प्रशस्त ध्यानों से ही है, अप्रशस्त ध्यानों से नहीं है। यह सत्य है कि शरीर चित्तवृत्ति की स्थिरता का मुख्य कारण होता है। अतः ध्यान की वे स्थितियां जिनका विषय होता है और जिनके लिए चित्तवृत्ति की अधिक समय तक स्थिरता आवश्यक होती है वे केवल सबल शरीर में ही सम्भव होती हैं। किन्तु अप्रशस्त आर्त, रौद्र आदि ध्यान तो निर्बल शरीरवालों को ही अधिक होते हैं। अशक्त या दुर्बल व्यक्ति ही अधिक चिन्तित एवं चिड़चिड़ा होता है।

ध्यान किसका?

ध्यान के संदर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ध्यान किसका किया जाये? दूसरे शब्दों में ध्येय या ध्यान का आलम्बन क्या है? सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो किसी भी वस्तु या विषय को ध्येय/ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं या विषयों में कमोबेश ध्यानाकर्षण की क्षमता तो होती ही है। चाहे संसार के सभी विषय ध्यान के आलम्बन होने की पात्रता रखते हों, किन्तु उन सभी को ध्यान का आलम्बन नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही उनमें से कोई एक विषय ही ध्यान का आलम्बन बनता है। अतः ध्यान के आलम्बन का निर्धारण करते समय यह विचार करना आवश्यक होता है कि ध्यान का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है? दूसरे शब्दों में ध्यान हम किसलिए करना चाहते हैं? इसका निर्धारण सर्वप्रथम आवश्यक होता है। वैसे तो संसार के सभी विषय चित्त को केन्द्रित करने का सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बिना किसी पूर्व विचार के उन्हें ध्यान का आलम्बन अथवा ध्येय बनाया जाये। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर ध्यानाकर्षण या ध्यान का आलम्बन होने की योग्यता तो रखता है किन्तु जो साधक ध्यान के माध्यम से विक्षोभ या तनावमुक्त होना चाहता है, उसके लिए यह उचित नहीं होगा कि वह स्त्री के सुन्दर शरीर को

अपने ध्यान का विषय बनाये। क्योंकि उसे ध्यान का विषय बनाने से उसके मन में उसके प्रति रागात्मकता उत्पन्न होगी, वासना जागेगी और पाने की आकांक्षा या भोग की आकांक्षा से चित्त में विक्षोभ पैदा होगा। अतः किसी भी वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक होता है कि हमारे ध्यान का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है? जो व्यक्ति अपनी वासनाओं का पोषण चाहता है, वही स्त्री–शरीर के सौन्दर्य को अपने ध्यान का आलम्बन बनाता है और उसके माध्यम से आर्तध्यान का भागीदार बनता है। किन्तु जो भोग के स्थान पर त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहता है, जो समाधि का इच्छुक है, उसके लिए स्त्री–शरीर की वीभत्सता और विद्रूपता ही ध्यान का आलम्बन होगी। अतः ध्यान के प्रयोजन के आधार पर ही ध्येय का निर्धारण करना होता है। पुनः ध्यान की प्रशस्तता और अप्रशस्तता भी उसके ध्येय या आलम्बन पर आधारित होती है, अतः प्रशस्त ध्यान के साधक अप्रशस्त विषयों को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय नहीं बनाते हैं।

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है। क्योंकि बिना आलम्बन ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जागेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त–विक्षोभों को दूर करके समाधि–लाभ या समता–भाव को प्राप्त करना है तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[५३] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत; ध्येय तो परमात्मा ही है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[५४] इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।[५५] जिस परमात्म–स्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[५६] पुनः

ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नहीं, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है अतः ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अतः हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रहती ही है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मान होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नहीं हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[५७] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जाग्रत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय–उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नहीं है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व संस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेषप्रयत्न या साधना नहीं करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक् दृष्टि को ही हो सकता है। धर्मध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ–साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पांचवें गुणस्थान

अर्थात् देशव्रती को ही संभव है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्रध्यान के स्वामी सम्यक् दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक् दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहां तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस संबंध में श्वेताम्बर–दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की गयी है।

इस प्रकार ध्यान साधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न–भिन्न ध्यानों की उपेक्षा से भिन्न–भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अतः व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यान साधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यान साधना में विकास का क्रम अन्योन्याश्रित है। जैसे–जैसे व्यक्ति प्रशस्त की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैस–जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की ओर अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अतः उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्त ध्यान और रौद्रध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नहीं किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है अतः वे ध्यान साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नहीं है।[५५] इस संबंध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं होता, इसलिए वह अपने चंचल मन को वश में नही रख पाता।

फलतः वह ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। ज्ञानार्णवकार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैंकड़ों झंझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नहीं कर सकता। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े–बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं तो फिर स्त्री–पुत्र आदि के बीच रहने वाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल है क्यों नहीं भ्रष्ट किया जा सकता।[५९] इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहां तक कहता है कि कदाचित् आकाश कुसुम और गधे को सींग (श्रृंग) संभव भी हो[६०] लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान संभव नहीं होता।[५८] इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्या दृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वाले में भी ध्यान की संभावना को स्वीकार नहीं करता है।[६१]

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ जीवन में ध्यान संभव ही नहीं है। यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्र ध्यान से अधिकांश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्म ध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अतः गृहस्थ में भी धर्म ध्यान की संभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति जीवन के प्रपंचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहने वाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक सम्यक् दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्म ध्यान की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है वह साधु भी ध्यान के योग्य नहीं है।[६२] अतः व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नहीं आती है। प्रश्न यह नहीं कि ध्यान गृहस्थ को संभव होगा या साधु को? वस्तुतः निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्म ध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दंभी और साकांक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्म ध्यान असंभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नहीं करती। उसकी संभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह

है कि व्यक्ति का मानस निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई–कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकांक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अतः ध्यान का संबंध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुनः जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उसके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का आरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्म ध्यान का अपितु शुक्ल ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार

सामान्यतया जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अतः जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को गृहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।[६३] ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अप्रशस्त अर्थात् संसार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात मोक्ष का हेतु कहा गया है।[६४] इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्र ध्यान राग–द्वेष जनित होने से बंधन के कारण हैं। इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमशः तिर्यचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का संबंध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्र ध्यान को बंधन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नहीं किया गया। अतः दिगम्बर परम्परा की धवला टीका[६५] में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र[६६] में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए–धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद–प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमशः विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा–स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र में तथा झाणाज्झयण (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमशः उनके चार–चार विभाग किये गए हैं किन्तु उनमें कहीं भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकारों की चर्चा नहीं है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसंग्रह में मिलता है।[६७] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार

में अर्हन्त के संदर्भ में धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है।[६८] इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ और रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्यसंग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पंचपरमेष्ठि के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।[६९] इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मंत्र वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में 'स्व' या आत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना स्वरूप या विद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[७०] अमितगति[७१] ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। यहां पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र[७२] ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुनः पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पांच धारणाएं कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठीं– ७वीं शती तक इनका अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन परम्परा में हुई है, वह क्रमशः विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानांग में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है, वह इस प्रकार है:–

(१) आर्त्त ध्यान– आर्त ध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानांग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।[७३] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है। दुःख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्त ध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त-ध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति की इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार यह आर्त ध्यान, अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्या दृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्यादृष्टि,

अविरत सम्यक्दृष्टि तथा देशविरत सम्यक्दृष्टि में आर्त ध्यान के उपरोक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं; किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकांक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही विकल्प होते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है–[७४]

१) क्रन्दनता – उच्च स्वर से रोना।

२) शोचनता – दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

३) तेपनता – आंसू बहाना।

४) परिदेवनता – करुणा–जनक विलाप करना।

(२) रौद्र ध्यान– रौद्र ध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्र ध्यान के भी चार भेद किये गये हैं [७५]

१) हिंसानुबंधी – निरन्तर सिंह प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।

२) मृषानुबंधी – असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

३) स्तेनानुबन्धी – निरन्तर चोरी करने कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

४) संरक्षणाबन्धी – परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता। कुछ आचार्यों ने विषयसंरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का संकल्प किया है, जब कि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के संरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसंरक्षण कहा है। स्थानांग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।[७६]

१) उत्सन्नदोष – हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

२) बहुदोष – हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।

३) अज्ञानदोष — कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।

४) आमरणान्त दोष — मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

(३) धर्म ध्यान-- जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्म ध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।[७६]

१) आज्ञाविचय-- वीतराग सर्वज्ञ- प्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय-- दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

३) विपाक विचय-- पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदुःखात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्म ध्यान है।

विपाकविचय धर्म ध्यान को निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है--

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दुःखद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अतः यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्म ध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय होने पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दुःखद परिणाम का चिन्तन करना एवं प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्म ध्यान है।

४) संस्थान विचय-- लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थान विचय धर्म ध्यान कहा जाता है। किन्तु लोक एवं संस्थान का अर्थ आगमों

में शरीर भी है। अतः शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्म ध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में संस्थान विचय धर्म ध्यान शरीर–विपश्यना या शरीर–प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्म ध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं।[७८]

१) **आज्ञारुचि**– जिन आज्ञा के सम्बन्ध में विचार–विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) **निसर्गरुचि**– धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप से रुचि होना।

३) **सूत्ररुचि**– आगम शास्त्रों के अध्ययन–अध्यापन में रुचि होना।

४) **अवगाढ़रुचि**– आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का रुचि गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थानांग में धर्म ध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए, उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं[७९]– १. वाचना–अर्थात् आगमसाहित्य का अध्ययन करना, २. प्रतिपृच्छना–अध्ययन करते समय उत्पन्न शंका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३. परिवर्तना–अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४. अनुप्रेक्षा– आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कहीं गई हैं[८०]– १. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा और ४. संसारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन परम्परा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत हैं। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र[८१] के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वहीं धर्म ध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यक्ज्ञान (ज्ञान), २. दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३. सम्यक् आचरण (चारित्र) और ४. वैराग्यभाव। हेमचन्द्र[८२] ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्म ध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्म ध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर मान्य पाठ के अनुसार धर्म ध्यान अप्रमत्तसंयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें, ग्यारहवें और बारहवें में ही धर्म ध्यान संभव है। यदि इसे निरंतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय

तक अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्म ध्यान की संभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर मान्य मूलपाठ में धर्म ध्यान के अधिकारी की विवेचना करने वाला सूत्र है ही नहीं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में पूज्यपाद अकलंक और विद्यानन्दि सभी ने धर्म ध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मंतव्य श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्म ध्यान की संभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्म ध्यान संभव नहीं है।

इस प्रकार धर्म ध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यों में मतभेद रहा है।

(४) शुक्ल ध्यान-- यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्ल ध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है[८३]-- १. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार--इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते-करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क अविचारी-योग संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति--जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्ल ध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानांगसूत्र में शुक्ल ध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं[८४]--

१) अव्यथ--परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नहीं होना।

२) असम्मोह-- किसी भी प्रकार से मोहित नहीं होना।

३) विवेक-- स्व और पर अथवा आत्म और अनात्म के भेद को समझना।

भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) व्युत्सर्ग— शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग। दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्ल ध्यान संभव होगा या नहीं।

स्थानांग में शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं[८५]— १. शान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निर्लोभता), ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुतः शुक्ल ध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्याग रूप ही हैं। शान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है तो मार्दव मान कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएं समान्यरूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित् रूप में भिन्न ही प्रतीत होती हैं। स्थानांग में शुक्ल ध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाएं उल्लिखित हैं[८६]—

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा— संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा— वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

३) अशुभानुप्रेक्षा— संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा— राग, द्वेष से होनेवाले दोषों का विचार करना।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्कसविचारविवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२) वितर्क विचाररहित समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३) राग और विराग की प्रति उपेक्षा तथा स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त—उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४) सुख दुःख एवं सौमनस्य—दौर्मनस्य से रहित असुख अदुःखात्मक

उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्ल ध्यान बौद्ध परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं। समापत्ति के चार प्रकार हैं– १. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के (शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः तत्त्वार्थ. ९/३९) श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नहीं है किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानों में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो, केवली (सयोगी केवली और अयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान है। पूर्व के दो शुक्लध्यान आठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों के सम्भव होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली के।[८७]

जैन ध्यान साधना पर तान्त्रिक साधना का प्रभाव

पूर्व में हम विस्तार से यह स्पष्ट कर चुके हैं, कि ध्यान साधना श्रमण परम्परा की अपनी विशेषता है। उसमें ध्यान साधना का मुख्य प्रयोजन आत्म विशुद्धि अर्थात् चित्त को विकल्पों एवं विक्षोभों से मुक्त कर निर्विकल्प दशा या समाधि (समत्व) में स्थित करना रहा है। इसके विपरीत तान्त्रिक साधना में ध्यान का प्रयोजन मन्त्रसिद्धि और हठयोग में षटचक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी को जागृत करना है। यद्यपि उनमें भी ध्यान के द्वारा आत्मशांति या आत्मविशुद्धि की बात कही गई है, किन्तु यह उनपर श्रमण धारा के प्रभाव का ही परिणाम है क्योंकि वैदिक धारा के अथर्ववेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में मंत्रसिद्धि का प्रयोजन लौकिक उपलब्धियों के हेतु विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति ही था। वस्तुतः हिन्दू तान्त्रिक साधना वैदिक और श्रमण परम्पराओं के समन्वय का परिणाम है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन आदि षट्कर्मों के लिए मंत्र सिद्धि की जो चर्चा है वह वैदिक धारा का प्रभाव है क्योंकि उसके बीज अर्थववेद आदि में भी हमें उपलब्ध होते हैं जबकि ध्यान, समाधि आदि के द्वारा आत्मविशुद्धि की जो चर्चा है वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रभाव है। किन्तु यह भी सत्य है कि सामान्य रूप से श्रमण धारा और विशेष रूप से जैनधारा पर भी हिन्दू तान्त्रिक साधना और विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है।

वस्तुतः जैन तंत्र में सकलीकरण, आत्मरक्षा, पूजाविधान और षट्कर्मों के लिए मन्त्रसिद्धि के विविध विधान हिन्दू तन्त्र से प्रभावित हैं। मात्र इतना ही नहीं, जैन ध्यान साधना, जो श्रमणधारा की अपनी मौलिक साधना पद्धति है, पर भी हिन्दूतंत्र–विशेष रूप से कौलतंत्र का प्रभाव आया है। विशेष रूप से यह प्रभाव ध्यान के आलम्बन या ध्येय को लेकर है।

जैन परम्परा में ध्यान साधना के अन्तर्गत् विविध आलम्बनों की चर्चा तो प्राचीन काल से थी, क्योंकि ध्यान साधना में चित्त की एकाग्रता के लिए प्रारम्भ में किसी न किसी विषय का आलम्बन तो लेना ही पड़ता है। प्रारम्भ में जैन परम्परा में आलम्बन के आधार पर धर्म ध्यान को निम्न चार प्रकारों में विभाजित किया गया था–

१. आज्ञाविचय, २. अपायविचय

३. विपाकविचय ४. संस्थानविचय

इन चारों की विस्तृत चर्चा हम पूर्व में कर चुकें हैं। यह भी स्पष्ट है कि धर्म ध्यान के ये चारों आलम्बन जैनों के अपने मौलिक हैं। किन्तु आगे चलकर इन आलम्बनों के संदर्भ में तंत्र का प्रभाव आया और लगभग ग्यारहवीं–बारहवीं शती से आलम्बन के आधार पर धर्म ध्यान के नवीन चार भेद किये गये–

१. पिण्डस्थ २. पदस्थ

३. रूपस्थ ४. रूपातीत

यह स्पष्ट है कि धर्म ध्यान के इन आलम्बनों की चर्चा मूलतः कौलतन्त्रों से प्रभावित है, क्योंकि शुभचन्द्र (ग्यारहवीं शती) और हेमचन्द्र (बारहवीं शती) के पूर्व हमें किसी भी जैन ग्रंथ में इनकी चर्चा नहीं मिलती है। सर्वप्रथम शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के अन्त में ध्यान के इन चारों आलम्बनों की चर्चा की है। इनके पूर्व के किसी भी आचार्य ने इन चारों आलम्बनों की कोई चर्चा नहीं की है। मात्र यही नहीं, पिण्डस्थ– ध्यान के अन्तर्गत् धारणा के पाँच प्रकारों की जो चर्चा हुई है, वह हिन्दूतंत्र से प्रभावित है। ये पाँच धारणाएँ हैं– १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुति, ४. वारुणी और ५. तत्त्ववती। वस्तुतः ध्यान के इन चार आलम्बनों में और पञ्च धारणाओं में ध्यान का विषय स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है। आगे हम संक्षेप में इनकी चर्चा करेंगे। ध्यान के इन चारों आलम्बनों या ध्येयों और पांचों धारणाओं को जैनों ने कौलतंत्र से गृहीत करके अपने ढंग से किस प्रकार समायोजित किया है, यह निम्न विवरण से

स्पष्ट हो जायेगा–

पिण्डस्थ ध्यान– ध्यान साधना के लिए प्रारम्भ में कोई न कोई आलम्बन लेना आवश्यक होता है। साथ ही इस के क्षेत्र में प्रगति के लिए यह भी आवश्यक होता है कि इन आलम्बनों का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होता जाये। पिण्डस्थ ध्यान में आलम्बन का विषय सबसे स्थूल होता है, पिण्ड शब्द के दो अर्थ हैं– शरीर अथवा भौतिक वस्तु। पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर लेने पर पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ होगा आन्तरिक शारीरिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करना, जिसे हम शरीरप्रेक्षा भी कह सकते हैं, किन्तु पिण्ड का अर्थ भौतिक तत्त्व करने पर पार्थिवी आदि धारणायें भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। ये धारणायें निम्न हैं–

(क) पार्थिवीधारणा– आचार्य हेमचंद्र के योगशास्त्र के अनुसार पार्थिवी धारणा में साधक को मध्यलोक के समान एक अतिविस्तृत क्षीरसागर का चिंतन करना चाहिए। फिर यह विचार करना चाहिए कि उस क्षीरसागर के मध्य में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला और एक हजार पंखुड़ियों वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य में देदीप्यमान स्वर्णिम आभा से युक्त मेरु पर्वत के समान एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है, उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल श्वेत सिंहासन है, उस सिंहासन पर आसीन होकर मेरी आत्मा अष्टकर्मों का समूल उच्छेदन कर रही है।

(ख) आग्नेयीधारणा– ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में इस धारणा के विषय में कहा गया है कि साधक अपने नाभि मण्डल में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे। फिर उस कमल की कर्णिका पर अर्हं की, और प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः – इन सोलह स्वरों की स्थापना करे। इसके पश्चात् अपने हृदय भाग में अधोमुख आठ पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करे और यह विचार करे कि ये आठ पखुंड़ियाँ अनुक्रम से १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अंतराय कर्मों की प्रतिनिधि हैं। इसके पश्चात् यह चिंतन करे कि उस अर्हं से जो अग्नि शिखायें निकल रही हैं, उनसे अष्ट दल कमल की अष्ट कर्मों की प्रतिनिधि ये पखुंड़ियाँ दग्ध हो रही हैं। अंत में यह चिंतन करे कि अर्हं के ध्यान से उत्पन्न इन प्रबल अग्नि शिखाओं ने अष्टकर्म रूपी उस अधोमुख कमल को दग्ध कर दिया है उसके बाद तीन कोण वाले स्वस्तिक तथा अग्निबीज रेफ से युक्त वह्निपुर का चिंतन करना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि उस रेफ से निकलती हुई

ज्वालाओं ने अष्टकर्मों के साथ–साथ मेरे इस शरीर को भी भस्मीभूत कर दिया है। इसके पश्चात् उस अग्नि के शांत होने की धारणा करे।

(ग) वायवीय धारणा– आग्नेयी धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि समग्र लोक के पर्वतों को चलायमान कर देने में और समुद्रों को भी क्षुब्ध कर देने में समर्थ प्रचण्ड पवन बह रहा है और मेरे देह और आठ कर्मों के भस्मीभूत होने से जो राख बनी थी उसे वह प्रचण्ड पवन वेग से उड़ाकर ले जा रहा है। अंत में यह चिंतन करना चाहिए कि उस राख को उड़ाकर यह पवन भी शांत हो रहा है।

(घ) वारुणीय धारणा– वायवीय धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि अर्धचन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वं' से उत्पन्न अमृत के समान जल से युक्त मेघमालाओं से आकाश व्याप्त है और इन मेघमालाओं से जो जल बरस रहा है उसने शरीर और कर्मों की जो भस्मी उड़ी थी उसे भी धो दिया है।

(ङ) तत्त्ववती धारणा– उपर्युक्त चारों धारणाओं के द्वारा सप्तधातुओं से बने शरीर और अष्ट कर्मों के समाप्त हो जाने पर साधक पूर्णचन्द्र के समान निर्मल एवं उज्ज्वल कांति वाले विशुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतन करे और यह अनुभव करे कि उस सिंहासन पर आसीन मेरी शुद्ध बुद्ध आत्मा अरहंत स्वरूप है।

इस प्रकार की ध्यान साधना के फल की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि पिण्डस्थ ध्यान के रूप में इन पाँचों धारणाओं का अभ्यास करने वाले साधक का उच्चाटन, मारण, मोहन, स्तम्भन आदि सम्बन्धी दुष्ट विद्यायें और मांत्रिक शक्तियाँ कुछ भी नही बिगाड़ सकती हैं। डाकिनी–शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाचादि दुष्ट प्राणी उसके तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हैं। उसके तेज से वे त्रास को प्राप्त होते हैं। सिंह, सर्प आदि हिंसक जन्तु भी स्तम्भित होकर उससे दूर ही रहते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में (७/८–२८) तान्त्रिक परम्परा की इन पाँचों धारणाओं को स्वीकार करके भी उन्हें जैन धर्मदर्शन की आत्मविशुद्धि की अवधारणा से योजित किया है। क्योंकि इन धारणाओं के माध्यम से वे अष्टकर्मों के नाश के द्वारा शुद्ध आत्मदशा में अवस्थित होने का ही निर्देश करते हैं। किन्तु जब वे इसी पिण्डस्थ ध्यान की पाँचों धारणाओं के फल की चर्चा करते हैं, तो स्पष्ट ऐसा लगता है कि वे तांत्रिक परम्परा से प्रभावित हैं, क्योंकि यहाँ उन्होंने उन्हीं भौतिक उपलब्धियों की चर्चा की है जो

प्रकारान्तर से तांत्रिक साधना का उद्देश्य होती हैं।

पदस्थ ध्यान

जिस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में ध्येय भौतिक पिण्ड या शरीर होता है उसी प्रकार पदस्थ ध्यान में ध्यान का आलम्बन पवित्र मंत्राक्षर, बीजाक्षर या मातृकापद होते हैं। पदस्थ ध्यान का अर्थ है पदों अर्थात् स्वर और व्यञ्जनों की विशिष्ट रचनाओं को अपने ध्यान का आलम्बन या ध्येय बनाना। इस ध्यान के अन्तर्गत् मातृकापदों अर्थात् स्वर–व्यञ्जनों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस पदस्थ ध्यान में शरीर के तीन केन्द्रों अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल तथा मुखकमल की कल्पना की जाती है। इसमें नाभिकमल के रूप में सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की कल्पना करके उसकी उन पंखुड़ियों पर सोलह स्वरों का स्थापन किया जाता है। हृदयकमल में कर्णिका सहित चौबीस पटल वाले कमल की कल्पना की जाती है और उसकी मध्यकर्णिका तथा चौबीस पटलों पर क्रमशः क, ख, ग, घ आदि 'क' वर्ग से 'प' वर्ग तक के पच्चीस व्यञ्जनों की स्थापना करके उनका ध्यान किया जाता है। इसी प्रकार अष्ट पटल युक्त मुखकमल की कल्पना करके उसके उन अष्ट पटलों पर य, र, ल, व, श, स, ष, ह,– इन आठ वर्णों का ध्यान किया जाता है। चूंकि सम्पूर्ण वाङ्मय इन्हीं मातृकापदों से निर्मित है अतः इन मातृकापदों का ध्यान करने से व्यक्ति सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है (योगशास्त्र ८/१–५)।

ज्ञानार्णव के अनुसार मंत्र व वर्णों (स्वर–व्यञ्जनों) के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्हं' मना गया है, जो रेफ कला एवं बिन्दु से युक्त अनाहत मंत्रराज है। इस ध्यान के विषय में कहा गया है कि साधक को एक सुवर्णमय कमल की कल्पना करके उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलंक, निर्मल चंद्र की किरणों जैसे आकाश एवं संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्हं' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् उसे मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयों में भ्रमण करते हुए, नेत्रपालकों पर स्फुरित होते हुए, भाल मण्डल में स्थिर होते हुए, तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चंद्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल में भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए कुम्भक के समान सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त होने का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार चित्त एवं शरीर में इसकी स्थापना द्वारा मन को क्रमशः सूक्ष्मता से 'अर्हं' मंत्र पर कॆंद्रित किया जाता है। अर्हं के स्वरूप में अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तरंग में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय

तथा अतीन्द्रिय होती है। इसी ज्योति का नाम ही आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव नामक ध्यान में अर्हं के स्थान पर 'ॐ' पद का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का साधक योगी सर्वप्रथम हृदयकमल में स्थित कर्णिका में इस पद की स्थापना करता है तथा वचन–विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठि के वाचक, मूर्धा में स्थित चंद्रकला से झरनेवाले अमृत के रस से सराबोर महामंत्र प्रणव (ॐ) श्वास को निश्चल करके कुम्भक द्वारा ध्यान करता है। इस ध्यान की विशेषता यह है कि स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, क्षोभन में मूंगे के रंग के समान, विद्वेष में कृष्ण, कर्मनाशन अवस्था में चंद्रमा की प्रभा के समान उज्ज्वल वर्ण का ध्यान किया जाता है।

हेमचन्द्र के अनुसार पंचमरमेष्ठि नामक ध्यान में प्रथम हृदय में आठ पंखुड़ीवाले कमल की स्थापना करके कर्णिका के मध्य में सप्ताक्षर 'अरहंताणं' पद का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् चारों दिशाओं के चार पत्रों पर क्रमशः 'णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं तथा णमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान किया जाता है तथा चार विदिशाओं के पत्रों पर क्रमशः 'एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं एवं पढमं हवइ मंगलं' का ध्यान किया जाता है। शुभचंद्र के मतानुसार मध्य एवं पूर्वादि चार दिशाओं में तो णमो अरहंताणं आदि का तथा चार विदिशाओं में क्रमशः 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः सम्यग्चारित्राय नमः तथा सम्यक् तपसे नमः' का चिंतन किया जाता है।

इनके अतिरिक्त इन दोनों नमस्कारमंत्र से सम्बन्धित अनेक ऐसे मन्त्रों या पदों का उल्लेख है जिनका ध्यान या जप करने से मनोव्याधियां शांन्त होती हैं, कष्टों का परिहार होता है तथा कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इनकी विस्तृत चर्चा हम मन्त्र साधना और जैनधर्म नामक अध्याय में कर चुके हैं।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में चित्त को स्थित करने के लिए मातृका पदों बीजाक्षरों एवं मंत्राक्षरों का आलम्बन लिया जाता है।

जैनाचार्यों ने यह तो माना है कि इस पदस्थ ध्यान से विभिन्न लब्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, किन्तु वे साधक को इनसे दूर रहने का ही निर्देश करते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य चित्त को शुद्ध और एकाग्र करना है, न कि भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त करना।

(३) रूपस्थ ध्यान— इस ध्यान में साधक अपने मन को अर्ह पर केन्द्रित करता है अर्थात् उनके गुणों एवं आदर्शों का चिन्तन करता है। अर्हत के स्वरूप का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है। रूपस्थ ध्यान का साधक रागद्वेषादि विकारों से रहित समस्त गुणों, प्रतिहार्यों एवं अतिशयों से युक्त जिनेन्द्रदेव का निर्मल चित्त से ध्यान करता है। वस्तुतः यह सगुण परमात्मा का ध्यान है।

(४) रूपातीत ध्यान— रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप–रंग से अतीत निरंजन, निराकार, ज्ञान स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप सिद्ध परमात्मा का स्मरण करना। इस अवस्था में ध्याता ध्येय के साथ एकत्व की अनुभूति करता है। अतः इस अवस्था को समरसीभाव भी कहा गया है।

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमशः भौतिक तत्त्वों या शरीर, मातृकापदों, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है; क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमश सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जैनधर्म में ध्यान साधना का विकासक्रम

जैन धर्म में ध्यान साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। आचारांग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान साधना में ही लीन रहते थे।[८८] आचारांग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था, अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आंखें लाल हो जाती थीं और बाहर की ओर निकल आती थीं जिन्हें देखकर दूसरें लोग भयभीत भी होते थे।[८९] आचारांग के ये उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि महावीर ने ध्यान साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य– प्रशिष्यों में भी यह ध्यान साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करे।[९०] महावीरकालीन साधकों के ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात

की सूचक है कि उस युग में ध्यान साधना मुनि जीवन का एक आवश्यक अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।[६१] इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में है ।[६२] यद्यपि आगमों में ध्यान संबंधी निर्देश तो हैं किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नहीं है।

महावीर के युग में श्रमण परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे जिनकी अपनी अपनी ध्यान साधना की विशिष्ट पद्धतियां थीं। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्त का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचारांग में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी[६३] और पासग[६४] जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी ज्ञाता–द्रष्टा भाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान साधना की पद्धति रही होगी। उसमें श्वासोच्छ्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, कषाय या चित्त प्रेक्षा के संकेत तो हैं किन्तु विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा नहीं की जा सकती, परंतु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान साधना की जैन परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान साधना की एकाधिक पद्धतियां भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों की अन्तिम वाचना तक वे विलुप्त होने लगी थीं। जिस रामपुत्त का निर्देश भगवान बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है उनका उल्लेख जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिकदशा, ऋषिभाषित आदि में होना[६५] इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रंथ परम्परा रामपुत्त की ध्यान साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रंथ परम्परा की आचारांग की ध्यान साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्त की ध्यान–पद्धति ही रही होगी। इस संबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान साधना पूर्वक ही होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमानकाल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में आचार संबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पंचपरमेष्ठि अथवा तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। हुआ मात्र यह है कि

ध्यान की इस समग्र प्रक्रिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गई है और ये सब ध्यान संबंधी प्रक्रियाएं रूढ़ि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं से चेतना को सतत रूप से जाग्रत या ज्ञाता–द्रष्टा भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चारित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्ययुग में जब भारत में तंत्र और हठयोग संबंधी साधनाएं प्रमुख बनीं तो उनके प्रभाव से जैन ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को द्रष्टा भाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताएं शान्त हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में वह चैतसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध है। किन्तु जैसे–जैसे भारतीय समाज में तंत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैसे–वैसे जैन साधना पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान पद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाएं सम्मिलित हुई। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ। यह स्पष्ट है कि यह सब कौलतन्त्र एवं हठयोग से जैन परम्परा में आया।

यदि हम जैन परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एवं योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था। हरिभद्र उनकी ध्यान विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। पूर्व मध्ययुग की जैन ध्यान साधना विधि उस युग की योग–साधना विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी।

मध्ययुग में ध्यान साधना का प्रयोजन भी बदला। प्राचीन काल में ध्यान साधना का प्रयोजन मात्र आत्म–विशुद्धि या चैतसिक समत्व था, किन्तु उमास्वाति (ईसा की तीसरी–चौथी शती) के युग में उसके साथ विभिन्न ऋद्धियों और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान साधना से विविध अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वति ने ध्यान से सिद्ध होने वाली विविध लब्धियों की विस्तृत चर्चा की है। जिनका उल्लेख

हम सूरिमन्त्र की साधना के प्रसंग में कर चुके हैं।

ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान साधना संभव ही नहीं है। ध्यान साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही संभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान संभव नहीं है। मध्ययुग में ध्यान प्रक्रिया में कैसे–कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराएं साथ साथ चलीं। कुछ आचार्यों ने कहा कि पंचमकाल में चाहे शुक्लध्यान की साधना संभव न हो, किन्तु धर्म ध्यान की साधना तो संभव है। मात्र यह ही नहीं, मध्ययुग में धर्मध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाएं सम्मिलित हो गयीं। जैसे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीतध्यान, पार्थिवी, आग्नेयी वायवी, वारुणी एवं तत्त्ववती धारणाएँ, मातृकापदों एवं मंत्राक्षरों का ध्यान, प्राणायाम, षट्चक्रभेदन आदि इस युग में ध्यान संबंधी स्वतंत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। झाणाज्झयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव, योगशास्त्र आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग तन्त्र, हठयोग और जैन ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता है। इस काल में जैन ध्यान पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से एवं तांत्रिक परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान साधना की पद्धति में पुनः एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका के द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना पद्धति को बर्मा से लाकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान बुद्ध की ध्यान साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से बर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुनः भारत में अपने जीवंत रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवंत परम्परा के आधार पर जैनों को, भगवान महावीर की ध्यान साधना की पद्धति क्या रही होगी, इसका आभास हुआ। जैन समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन मुनि एवं साध्वियां उनकी विपश्यना की साधनापद्धति से जुड़े। संयोग से मुनि

श्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना साधना से जुडे और उन्होंने विपश्यना ध्यान पद्धति और हठयोग की प्राचीन ध्यान पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैन धारा को पुनर्जीवित किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया जैन ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना ध्यान की साधना पद्धति के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। गोयनकाजी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में आचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। यहाँ विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना संभव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन जीने के लिए आज विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम आचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी हैं कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबंधित लगभग ४८ लघुपुस्तिकाएं लिखकर उन्होंने जैन ध्यान साहित्य को महत्त्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान विधि को प्रस्तुत किया और इस संबंध में एक–दो प्रारंभिक पुस्तिकाएं भी निकाली हैं; किन्तु प्रेक्षाध्यान विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण ही। अभी–अभी क्रोध समीक्षण आदि एक–दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी

उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहां एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षक बढ़ा है, वहीं दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा भी पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष आकर्षण देखा जाता है। क्योंकि भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, वे उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैतसिक शान्ति का अनुभव करते हैं और यही करण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है इन साधना पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एवं अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग साधना का पश्चिम में पहुंचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एवं प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नहीं है। आज जहां पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एवं योग साधना की लोकप्रियता बढ़ी है वहीं रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्तमुनिजी, स्वर्गीय आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि ने जैन ध्यान और साधनाविधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापंथ की कुछ जैन समणियों ने भी विदेशों में जाकर प्रेक्षाध्यान विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहां तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न हैं कयोंकि सभी के अपने-अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तंत्रसाधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जायेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी शोध–कार्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान संबंधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहां भारतीय योग साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैनयोग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग संबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुनः हरिभद्र के योग संबंधी ग्रंथों का स्वतंत्ररूप से योगचतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अगला चरण है। पं० सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र', अर्हद्दास बंडोबा दिघे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से प्रकाशित 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला सांड का 'भारतीय योग' आदि गवेषाणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन योग', डॉ० नथमल टाटिया की **'Studies in Jaina Philosophy'**, पद्मनाभ जैनी का **'Jain Path of Purification'** आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। जैन ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा–अनुप्रेक्षा आदि कृतियां इस दृष्टि से अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर–विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग आदि की पद्धतियों का एक सुव्यवस्थित समन्वय हुआ है। उन्होंने हठयोग के षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढंग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतियां जैन योग और ध्यान साधना के लिए अवश्य मील का पत्थर साबित होंगी।

संदर्भ

१. Mohenjodaro and Indus Civilization, John Marshall Vol. I. Page 52.

२. Dictionary of Pali Proper Names, By J.P. Malal Sekhar (1937) Vol. I. P. 382-83.

३. सूत्रकृतांग १/३/४/२–३

४. स्थानांग १०/१३३ (इसमें अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है)

५. इसिभासियाइं– (ऋषिभाषित) अध्याय २३

६. वही, अध्याय २३

७. इसिभासियाइं २२/१४

८. उत्तराध्ययन सूत्र २६/१८

९. श्रमणसूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रथम संस्करण पृ. १३३–१३४

१०. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५५–५६

११. भगवद्गीता ६/३४

१२. तत्त्वार्थसूत्र ६/२७

१३. गीता ६/३४

१४. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५६

१५. पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं। – आचारांग १/५/२/२४
अणेगचित्ते खलु आयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए– आचारांग ५/३/२

१६. ध्यानशतक (झाणाज्झयण) ६३–६६

१७. वही ६७–१००

१८. वही १०१

१९. वही १०२

२०. ध्यानशतक (वीरसेवामंदिर) १०३

२१. वही १०४

२२. आवश्यकनिर्युक्ति १४६२

२३. आवश्यकसूत्र– आगारसूत्र (श्रमणसूत्र–अमरमुनि) प्र०सं०पृ० ३७६

२४. उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५
२५. तत्त्वार्थवार्तिक ६/२४/८
२६. धवला, पुस्तक ८, पृ० ८८ (दंसण–णाण–चरित्तेसु सम्ममवट्ठाणं समाही)
२७. योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थन्तरम्। तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/१/१२
२८. कायवाङ्मनः कर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र ६/१
२९. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। योगसूत्र १/२ (पतंजलि)
३०. 'युजपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७
३१. उत्तराध्ययन सूत्र ३०/३० (झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरों तवो)
३२. आवश्यकसूत्र–आगारसूत्र
३३. योगशास्त्र १२/२
३४. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० १
३५. भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ० १६०
३६. योगशास्त्र, १२/५–६
३७. तत्त्वार्थसूत्र ९/२७
३८. वहीं ९/३१
३९. वहीं ९/३६
४०. ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र० वीर सेवा मंदिर) २
४१. तत्त्वार्थसूत्र ९/२७
४२. भगवतीआराधना, विजयोदया टीका– देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ० २६
४३. पंचास्तिकाय १५२
४४. णाणेण झाणसिद्धि
४५. ज्ञानार्णव २७/२३–३२
४६. ज्ञानार्णव २८/११
४७. ज्ञानार्णव २८/१०
४८. 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०
४९. उत्तराध्यन सूत्र २६/१२
५०. उपासकदशांग ८/१८२
५१. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्त निरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थ सूत्र– ९/२६

५२. तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य, उमास्वाति ६/२६
५३. ज्ञानार्णव– ३२/६५, ३६/१–८, मोक्खपाहुड ७
५४. अप्पा सो परमप्पा
५५. तत्त्वानुशासन ७४
५६. मोक्खपाहुड ५
५७. तत्त्वार्थ सूत्र ९/३१–४१
५८. ज्ञानार्णव ४/१०–१५
५९. वही– ४/१६
६०. वही– ४/१७
६१. वही ४/१८–१९
६२. ज्ञानार्णव ४/३३
६३. तत्त्वार्थसूत्र ९/२९
६४. वही ९/३०, ध्यानशतक ५
६५. धवला, पुस्तक १३ पु. ७०
६६. योगशास्त्र ४/११५
६७. योगसार, ९८
६८. ज्ञानसार १८–२८
६९. द्रव्यसंग्रह (नेमीचन्द्र) ४८–५४ टीका ब्रह्मदेव गाथा ४८ की टीका
७०. पदस्थ मंत्रवाक्यस्थ– वही गाथा ४८ की टीका
७१. श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
७२. ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) सर्ग ३२–४०
७३. स्थानांगसूत्र ४/६०–७२
७४. वही ४/६२
७५. वही ४/६३
७६. वही ४/६४
७७. वही ४/६५
७८. वही ४/६६
७९. वही ४/६७

८०. वही ४/६८

८१. ध्यानशतक ६३

८२. योगशास्त्र ७/२–६

८३. स्थानांग ४/६६

८४. वही ४/७०

८५. वही ४/७१

८६. वही ४/७२

८७. तत्त्वार्थसूत्र ६/३६–४०

८८. आचारांग १/६/१/६, १/६/२/४, १/६/२/१२

८६. वही १/६/१/५

६०. उत्तराध्ययन २६/१८

६१. आवश्यकचूर्णि भाग २ पृ० १८८७

६२. वही, भाग १ पृ० ४१०

६३. आचारांग १/२/५/१२५ (आचार्य तुलसी)

६४. वही १/२/३/७३, १/२/६/१८५

६५. देखें– Prakrut Proper Names Vol II Page 626.

अध्याय ६

कुण्डलिनी जागरण एवं षट्चक्रभेदन : जैन दृष्टि

हठयोग और तन्त्र साधना में देह स्थित षट्चक्रों के भेदन और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः शरीर और शारीरिक गतिविधियों के प्रति सजगता की साधना श्रमण परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। विपश्यना और आनापानसति (श्वासोच्छ्वास की स्मृति, इसके प्राचीनतम रूप रहे हैं। आचारांगसूत्र (१/२/५) में कहा गया है कि साधक को अन्तर में प्रवेश करके देह के आन्तरिक भागों में स्थित ग्रन्थियों और उनके अन्तः स्रावों को देखना चाहिए। पुनः उसमें कहा गया है कि आयत चक्षु लोक की विपश्यना करने वाला अर्थात् लोक के प्रति अप्रमत्तचेता साधक लोक के उर्ध्वभाग को जानता है, लोक के तिर्यक् भाग को जानता है और लोक के अधोभाग को जानता है। ज्ञातव्य हैं कि आचारांग में 'लोक' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में भी हुआ है। शीलांक आदि टीकाकारों ने लोक का अर्थ शरीर ही किया है।

लोक की शरीर से समरूपता की अवधारणा पर्याप्त प्राचीन है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुषसूक्त में लोक की विराट पुरुष के शरीर के रूप में संकल्पना है। यही लोक पुरुष की कल्पना श्रीमद्भागवत (९वीं शती) के द्वितीय स्कन्ध के पञ्चम अध्याय में भी मिलती है। ऋग्वेद और भागवत की लोक पुरुष की अवधारणा में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ ऋग्वेद में लोक पुरुष को सहस्र, शीर्ष, सहस्रचक्षु और सहस्रपाद कहा गया है, वहीं श्रीमद्भागवत में स्वर्गलोक, भूलोक, पाताललोक आदि को लोक पुरुष के विभिन्न अंगों के रूप में बताया गया है।

जैनपरम्परा में, आचारांग में शरीर को लोक का प्रतिरूप मानकर ध्यान साधना के निर्देश तो हैं किन्तु उसमें लोक पुरुष की स्पष्ट कल्पना नहीं है। मात्र लोक या शरीर के अधो, उर्ध्व और तिर्यक् (मध्य) भाग का उल्लेख है। भगवती आदि अन्य आगमों में भी लोक के आकार (संस्थान) का उल्लेख तो है, किन्तु कहीं भी उसे पुरुष का प्रतिरूप नहीं बताया गया है। फिर भी आगमों में ग्रैवेयक देवलोक की कल्पना से ऐसा अवश्य लगता है कि जैनों में प्राचीन

काल में कहीं कोई लोकपुरुष की अवधारणा अवश्य रही होगी, अन्यथा ग्रैवेयक देवलोक को ग्रीवा–स्थानीय कैसे माना जाता? उपलब्ध जैन साहित्य में लोकप्रकाश में सर्वप्रथम हमें लोकपुरुष की कल्पना मिलती है। इसके पश्चात् लगभग १० वीं शती से तो लोक पुरुष की यह अवधारणा जैनों के सभी सम्प्रदायों में मान्य रही है।

वस्तुतः प्राचीन काल में शरीर को ही आत्मशक्ति का केन्द्र माना जाता था और आत्मसाधना के लिए शरीर के शक्ति केन्द्रों या चेतना केन्द्रों का जागरण अर्थात् उनके प्रति सजगता आवश्यक मानी गई। यद्यपि प्रारम्भ में जैन परम्परा में कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रों की साधना के कोई उल्लेख नहीं हैं फिर भी शरीर और शारीरिक क्रिया–कलापों के प्रति सजगता उनकी ध्यानसाधना का आवश्यक अंग रही है। वस्तुतः हठयोग में कुण्डलिनी जागरण एवं षट्चक्रों के भेदन की जो साधना पद्धति विकसित हुई, उसके मूल में भी आनापानसति, विपश्यना, प्रेक्षा आदि की ध्यान परम्पराएँ रही है।

कुण्डलिनी जागरण

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिरूपता स्थापित करते हुए हठयोग की परम्परा में इस शरीर में कटि प्रदेश से शीर्ष तक सप्त चक्रों की कल्पना की गई है जो सप्तलोकों के प्रतीक हैं। जिस प्रकार लोक में मेरु को केन्द्रीय आधार माना जाता है उसी प्रकार शरीर में मेरुदण्ड है। यह मेरुदण्ड अस्थिखण्डों से बना हुआ है तथा भीतर से पोला है। इसी में महाशक्ति कुण्डलिनी का निवास माना गया है। शरीर में बत्तीस हजार नाड़ियां मानी गयी हैं इनमें से मुख्य नाड़ियां चौदह हैं, उनमें भी तीन प्रधान हैं– १. इड़ा २. पिंगला और ३. सुषुम्ना। इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के बायीं और पिंगला नाड़ी उसकी दाहिनी ओर से होकर जाती है। सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर कन्दप्रदेश से प्रारम्भ होकर मस्तिष्क में सहस्रदलकमल तक जाती है। हठयोग में इसी सुषुम्ना नाड़ी में पिरोये हुए छः कमलों की कल्पना की गई है जिन्हें षट्चक्रों के नाम से जाना जाता है। इन षट्चक्रों की साधना से सुषुम्ना नाड़ी जो कुण्डलिनी शक्ति का प्रतीक है, जागृत होती है। सहस्रारचक्र जो मस्तिष्क के उर्ध्व भाग में स्थित है, इसे शिव क्षेत्र कहा जाता है, और मूलाधारचक्र शक्ति क्षेत्र है, इन दोनों को परस्पर जोड़ने वाली शक्ति का नाम ही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी वस्तुतः चेतना शक्ति है।

कुण्डलिनी के जागरण से ही चक्रों का भेदन होता है और उसके माध्यम से व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का द्वार खुलता है।

तन्त्रसाधना में कुण्डलिनी

शिवसंहिता में कुण्डलिनी का स्वरूप निम्न रूप में प्रतिपादित है– मनुष्य मात्र के मेरुदण्ड के उभयपार्श्व में इड़ा और पिङ्गला नामक दो नाड़ियाँ हैं। इन दोनों के मध्य में अति सूक्ष्म एक तीसरी नाड़ी है, जिसका नाम सुषुम्ना है।

गुदा और लिङ्ग के बीच में निम्नाभिमुख एक योनिमण्डल है, जिसको कन्दस्थान भी कहा जाता है। उसी कन्दस्थान में कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाड़ियों को वेष्टित करती हुई, साढ़े तीन ऑटे देकर, अपनी पूँछ मुख में लिये सुषुम्नानाड़ी के छिद्र का अवरोध करती हुई सर्प के सदृश स्थित है। सर्पतुल्या यह कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान सन्धिस्थान में निवास करती है। तन्त्र साधना में कुण्डलिनी को शिव की शक्ति माना गया है। यह सत्त्व, रज तथा तम तीनों गुणों की धात्री भी है। कन्द के ऊपरी भाग में कुण्डलिनी–शक्ति सुषुप्त अवस्था में रहती है, किन्तु जो योगी इसको जाग्रत कर पाता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है और जो मूढ़ ऐसा नहीं कर पाते हैं, उनके लिए वह बन्धन का कारण होती है। जो व्यक्ति कुण्डलिनी–शक्ति को जगाने की युक्ति जानता है, वही यथार्थ में योग का ज्ञाता है। जो पुरुष इस प्राणशक्ति को दशम द्वार (सहस्रार) में ले जाना चाहता है, उसके लिए उचित है कि वह एकाग्रचित्त होकर युक्तिपूर्वक इस शक्ति को जागृत करे। गुरु कृपा से जब निद्रिता कुण्डलिनी–शक्ति जग जाती है तब वह मूलाधार आदि षटचक्रों में स्थित पद्मों या ग्रन्थियों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर परमात्म स्वरुप को प्राप्त कर लेती है। इसलिए साधक को प्रयत्नपूर्वक ब्रह्म रन्ध्र के मुख में स्थित उस निद्रिता परमेश्वरी कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करने के लिए प्राणायाम, मुद्रा आदि का विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम, मुद्राओं तथा भावनाओं द्वारा धीरे–धीरे कुण्डलिनीशक्ति जागृत होती है।

जैन साधना और कुण्डलिनी जागरण

जहाँ तक जैनसाधना का प्रश्न है उसमें कुण्डलिनी को जागृत करने

की साधना विधि का विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। यहाँ तक कि शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव एवं हेमचन्द्र के योगशास्त्र में भी इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। सर्वप्रथम सिंहतिलकसूरि (१३वीं शती) ने परमेष्ठिविद्यामन्त्रकल्प में इसका निर्देश किया है।

वे लिखते हैं कि –

कुण्डलिनीतन्तुद्युतिसंभृतमूर्तीनि सर्वबीजानि।
शान्त्यादि–संपदे स्युरित्येषो गुरुक्रमोऽस्माकम्।।
किं बीजैरिह शक्तिः कुण्डलिनी सर्वदेववर्णजनुः।
रवि–चन्द्रान्तर्ध्याता भुक्त्यै च गुरुसारम्।।
भ्रूमध्य–कण्ड–हृदये नाभौ कोणे त्रयान्तरा ध्यातम्।
परमेष्टिपञ्चकमयं मायाबीजं महासिद्धयै
श्रीविबुधचन्द्रगणभृच्छिष्यः श्रीसिंहतिलकसूरिरिमम्।
परमेष्ठियन्त्रकल्पं लिलेख साह्लाददेवताक्त्या।।
परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्पः।

यह कुण्डलिनी नाड़ी सभी बीजाक्षरों (मन्त्र–बीजाक्षरों) की प्रकाशवान मूर्ति ही है। वही शांति आदि सम्पदाओं का आधार है, ऐसी हमारी गुरुपरम्परा या मान्यता (आम्नाय हैं। वस्तुतः इन मन्त्र–बीजाक्षरों से भी क्या? जब कुण्डलिनी) शक्ति सभी देव (देव–पदों) एवं वर्णाक्षरों (बीजाक्षरों) की जनक है तो फिर इसी की साधना करनीचाहिए। सूर्य नाड़ी एवं चन्द्र नाड़ी ईडा (पिंगला) में इन बीजाक्षरों का ध्यान करने से भोग और सुषुम्ना में ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा गुरु के द्वारा बताया गया रहस्य है।

भ्रूमध्य अर्थात् आज्ञाचक्र, कण्ठ अर्थात् विशुद्धिचक्र, हृदय अर्थात् अनाहतचक्र, नाभि अर्थात् मणिपूरचक्र और कोणद्वय अर्थात् स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्र में पंचपरमेष्ठि मायाबीज ह्रीं का ध्यान करने पर महासिद्धि की प्राप्ति होती है।

सिंहतिलकसूरि के अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा में कुण्डलिनी शक्ति एवं ईडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की चर्चा करने वाले दूसरे आचार्य हैं

आनन्दघन जी। अपने एक पद में इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि

म्हारो बालूडो संन्यासी, देह देवल मठवासी।।
इडा पिंगला मारग तजि जोगी, सुखमना धरि आसी।
ब्रह्मारंध्र मधि आसणपूरी बाबू, अनहद नाद बजासी।। म्हारो।।१।।
जम नियम आसण जयकारी, प्राणयाम अभ्यासी।
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी।।म्हारो।।२।।
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी परयंकासनचारी।
रेचक पूरक कुंभककारी, मन इन्द्री जयकारी।।म्हारे।।३।।
थिरता जोग जुगति अनुकारी, आपो आपविचारी।
आतम परमातम अनुसारी, सीझे काज सवारी।।म्हारो।।४।।

मेरा बाल–अल्पवयस्क (अल्पअभ्यासी) संन्यासी जो देह–शरीर रूपी मठ में निवास करता है, वह ईड़ा, पिंगला नाड़ियों का मार्ग छोड़कर सुषम्ना नाड़ी के घर आता है। आसन जमाकर सुषम्ना नाड़ी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र में ले जाकर अनहदनाद बजाता हुआ चित्तवृत्ति को उसमें लीन कर देता है।

यम–नियमों को पालन करने वाला, एक आसन से दीर्घकाल तक बैठने में समर्थ, प्रणायाम का अभ्यासी, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान करने वाला साधक शीघ्र ही समाधि प्राप्त कर लेता है।

वह बाल संन्यासी संयम के मूल और उत्त्तर गुणोंरूपी मुद्रा को धारण कर तथा पर्यंकासन का अभ्यासी रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम क्रियाओं को करने वाला है। वह मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर योग साधना का अनुगमन करता हुआ जब परमात्म पद का अनुसरण करता है तो उसके सभी कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं।

वस्तुतः कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का आधार षट्चक्र भेदन है अतः अग्रिम पृष्ठों में हम षट्चक्रों की साधना की चर्चा करेंगे।

षट्चक्र साधना

तांत्रिक साधना में कुण्डलिनी शक्ति के जागरण हेतु षट्चक्रों की

साधना को प्रधानता दी जाती है। सामान्यतया हिन्दू तांत्रिक साधना पद्धति में षट्चक्र की अवधारणा ही प्रमुख रही है किन्तु कुछ आचार्यों ने सप्तचक्रों और नवचक्रों की भी चर्चा की है। ये षटचक्र हैं– १. मूलाधार २. स्वाधिष्ठान ३. मणिपूर ४. अनाहत ५. विशुद्धि और ६. आज्ञाचक्र। जिन आचार्यों ने सात चक्र माने हैं वे सहस्रार को सातवाँ चक्र और जिन्होंने नौ चक्र माने हैं उन्होंने उपर्युक्त सात चक्रों के साथ–साथ आज्ञाचक्र और सहस्रार के मध्य तालु में स्थित ललनाचक्र और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित गुरुचक्र की भी कल्पना की है। जैन तन्त्रसाधना में लगभग तेरहवीं शती से चक्र साधना के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु वे हिन्दू तान्त्रिक साधना और हठयोग की परम्परा से ही गृहीत हैं अतः सर्वप्रथम हम हिन्दूतन्त्र एवं हठयोग परम्परा के अनुसार इन चक्रों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

हिन्दूतांत्रिक परम्परा में चक्र साधना

मूलाधारचक्र– मूलाधार चक्र रीढ़ की हड्डी के नीचे लिंग और गुदा के मध्यभाग में स्थित है। इस चक्र का कमल चार पंखुड़ियों वाला और रक्तवर्ण का है। इसका यन्त्र चतुष्कोण और पृथ्वीतत्त्व का द्योतक है। चार दलों के बीजाक्षर वँ, शँ, षँ, सँ, और यन्त्र का बीजाक्षर 'लँ' है। इस चक्र के नीचे त्रिकोण में स्थित एक सूक्ष्म योनिमण्डल रहता है। इसके मध्यकोण के अन्दर से सुषम्ना (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिणकोण से पिंगला नाड़ी, तथा वामकोण से इड़ा नाड़ी निकलती है इसलिए इसे मुक्तत्रिवेणी के नाम से भी अभिहित किया जाता है। विभिन्न तांत्रिक ग्रन्थों की ऐसी मान्यता रही है कि इस योनिमण्डल के मध्य में तेजोमय रक्तवर्ण 'क्लीं' बीजरूप कन्दर्प नामक स्थिर वायु विद्यमान है। इसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी है। ब्रह्मनाड़ी के मुख में स्वम्भू लिंग है। इसी लिंग को साढ़े तीन कुण्डल में लिपेटे हुए शंख के आवर्त के समान कुण्डलिनी नामक शक्ति या सर्पिणी विद्यमान हैं। कुण्डलिनी शक्ति का आधार केन्द्र यानी मूलशक्तिकेन्द्र होने से इस चक्र को 'मूलाधारचक्र' का नाम दिया गया है। इसका वाहन हस्ति, देवता ब्रह्मा और डाकिनी हैं। इस चक्र पर ध्यान लगाने से यह चक्र जाग्रत हो जाता है। इसके जाग्रत होने पर वीरता का भाव उत्पन्न होता है, आनन्द की अनुभूति होती है, शारीरिक विकृतियाँ समाप्त हो आरोग्य की प्राप्ति है।

स्वाधिष्ठानचक्र

स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति लिंग स्थान के सामने है। इसका कमल सिन्दूरी वर्ण का तथा छः दलों वाला है। दलों पर बँ, भँ, मँ, मँ, यँ, रँ, लँ बीजाक्षरों की स्थिति मानी गयी है। इस चक्र का यन्त्र जलतत्त्व का द्योतक, अर्धचन्द्राकार, और शुभ्र वर्ण है। उसका बीजाक्षर वँ है और बीज का वाहन मकर है। यन्त्र के देवता विष्णु और राकिनी हैं। इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से मूलाधार से ऊपर चढ़ती हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर स्वाधिष्ठानचक्र को जाग्रत कर देती है। फलतः साधक में सृजन, पोषण तथा विध्वंसन की सामर्थ्य आ जाती है। व्यक्ति में उत्साह और स्फूर्ति आती है, आलस्य, प्रमाद आदि नष्ट हो जाते हैं। वाक्सिद्धि हो जाने से उसकी जिह्वा पर सरस्वती का निवास रहता है और ग्रन्थरचना की शक्ति प्राप्त हो जाती है। स्वचेतना का आधार बिन्दु होने से इस चक्र को 'स्वाधिष्ठानचक्र' कहा जाता है।

मणिपूरचक्र

मणिपूरचक्र नाभिप्रदेश के सामने मेरुदण्ड के भीतर स्थित है। इसका कमल नीलवर्णवाले दस दलों का है और इन दलों पर क्रमशः डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ वर्णों की स्थिति मानी गयी है। इस चक्र का यन्त्र त्रिकोण है और अग्नितत्त्व का द्योतक हैं। इसके तीनों पार्श्व में द्वार के समान तीन 'स्वस्तिक' स्थित हैं। यन्त्र का रंग बालरविसदृश है। उसका बीजाक्षर है और बीज का वाहन मेष है यन्त्र के देवता रुद्र तथा लाकिनी हैं। इस चक्र पर ध्यान एकाग्र करने पर कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामी होकर जब इसका भेद करती है तब साधक की समस्त मनो–दैहिक व्याधियाँ और मनोविकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं, संकल्प शक्ति दृढ़ होती है और चेतना जाग्रत हो जाती है। उसकी समस्त गतिविधियाँ आत्म सजगता से अनुपूरित होती हैं, परमार्थ में रस आने लगता है। नाभिमूल को मणि संज्ञा भी दी गयी है। इसमें स्थित रहने के कारण ही इसको 'मणिपूरचक्र कहते हैं।

अनाहतचक्र

यह चक्र हृदय प्रदेश के सामने स्थित है और अरुणवर्ण के द्वादश दलों से युक्त कमलरूप है। इसके द्वादश दलों पर कँ, खँ, गँ घँ, ङँ, चँ, छँ,

जँ, झँ, अँ, टँ, ठँ अक्षर स्थित हैं। इस चक्र का यन्त्र धूमवर्ण षट्कोण तथा वायुतत्त्व का सूचक है। यन्त्र का बीज 'यँ' और वाहन मृग है। यन्त्र के देवता ईशान रुद्र और काकिनी हैं। इस चक्र के मध्य में शक्ति त्रिकोण है जिसमें विद्युत सा प्रकाश व्याप्त है। इस चक्र के जाग्रत होने पर साधक में अद्‌भुत कवित्व शक्ति और वाक्‌सिद्धि प्राप्त होती है। वह जितेन्द्रिय बन जाता है। उसका मोह नष्ट हो जाता है, अतः चिन्ता, अहंकार, कपट और दुराग्रह जैसे दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं। सहानुभूति, सेवा, सहकारिता और उदारता के सद्‌गुण आर्विभूत होते हैं। अनाहत ध्वनि और प्रणव (ओंकार) की अभिव्यक्ति भी इसी स्थान पर होती है इसीलिए इसे अनाहतचक्र कहा जाता है।

विशुद्धिचक्र

इसकी स्थिति कण्ठ–प्रदेश में है। इसका कमल धूम्रवर्णवाले सोलह दलों का है और इन दलों पर अँ से लेकर अः तक सोलह स्वरों की स्थिति मानी गयी है। इस चक्र का यन्त्र पूर्ण चन्द्राकार है और पूर्णचन्द्र की प्रभा से देदीप्यमान है यह यन्त्र शून्य अथवा आकाशतत्त्व का द्योतक है। यन्त्र का बीज 'हँ' है और बीज का वाहन हस्ती है यन्त्र के देवता पंचवक्त्र सदाशिव तथा शकिनी हैं। इसका जागरण होने पर साधक में महाकवि, महाज्ञानी, शांतचित्त, नीरोग, शोकविहीन और दीर्घजीवी होने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। इसकी स्थान पर मन की स्थिति रहती है, अतः जब यह चक्र जाग्रत, हो जाता है तब मन भी निरभ्र आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है; इसीलिए इसको 'विशुद्धि चक्र' कहा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग पवित्रता की उपलब्धि ही इस चक्र के जाग्रत्त होने का प्रमाण है।

आज्ञाचक्र

यह चक्र भ्रूमध्य के सामने मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में स्थित है। इसका कमल श्वेतवर्ण का और दो दलोंवाला है। इन दलों पर हँ एवं क्षँ अक्षरों की स्थिति मानी गयी है। चक्र का यन्त्र विद्युतप्रभायुक्त 'इतर' नामक अर्धनारीश्वर का लिंग है, जो महत तत्त्व का स्थान माना गया है। यन्त्र का बीज 'प्रणव' है। बीज का वाहन नाद है और इसके ऊपर बिन्दु भी स्थित है। यन्त्र के देव उपर्युक्त इतर लिंग हैं और शक्ति हाकिनी हैं। इस चक्र में मन और प्राण कुछ समय के लिए स्थिर हो जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जब ऊर्ध्वगामी

होकर इस चक्र को वेधती हुई आगे प्रस्थान करती है तब वह सहस्रारचक्र में जाकर अपने स्वामी सदाशिव का आलिंगन कर अमृत पान करती हुई शांत हो जाती है। साधक की यात्रा का यह अंतिम पड़ाव है। यहाँ समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। यही जीवात्मा का परमात्मा से मिलन या साक्षात्कार है। इसके जाग्रत होने पर चेतना के सभी स्तरों पर नियन्त्रण की सामर्थ्य विकसित हो जाती है, इसीलिये इसे आज्ञाचक्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

सहस्रारचक्र

मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर हजार दल वाला सहस्रार चक्र है जहाँ परमशिव विराजमान रहते हैं। इसके हजार दलों पर बीस–बीस बार प्रत्येक स्वर तथा व्यञ्जन स्थित माने गये हैं। परमशिव से कुण्डलिनी शक्ति का समागम ही लययोग का ध्येय है। सहस्रारचक्र में आत्मा का निवास है। यही चित्त का भी स्थान है। यहाँ चित्त में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है और प्राण और मन सर्वदा के लिए स्थिर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा साक्षीभाव या ज्ञातादृष्टाभाव में स्थित हो जाता है फलतः असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि की सिद्धि हो जाती है। यहीं पर चित्तवृत्तिनिरोध सम्पन्न होता है और व्यक्ति सम्पूर्ण तनावों से मुक्त होकर आत्मपूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

हिन्दू परम्परा के प्राणतोषिणीतंत्र आदि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों में तालु में स्थित चौसठ दलों से युक्त **ललनाचक्र** और ब्रह्मरंध्र में स्थित शत दल वाले **गुरुचक्र** की भी कल्पना की गयी है।

जैन आचार्य सिंहतिलकसूरि ने भी परमेष्ठि– विद्यातन्त्रकल्प में भी इन्हीं नव चक्रों का उल्लेख किया है, वे अपने इस विवरण में हिन्दू तन्त्र से कितने प्रभावित हैं, यह समझने के लिए जैन दृष्टि से चक्र साधना की चर्चा करना आवश्यक है।

जैनधर्म में षट् चक्र साधना

चक्र साधना को जैन परम्परा में कब स्थान मिला यह प्रश्न विचारणीय है। आगमों और आगमिकव्याख्याओं से लेकर जिनभद्रगणि (७वीं शती) के ध्यानशतक तक में हमें इन चक्रों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मात्र

यही नहीं, हरिभद्र (८वीं शती) के योगदृष्टिसमुच्चय आदि योग संबंधी ग्रंथों में शुभचन्द्र (१२ वीं शती) के ज्ञानार्णव एवं हेमचन्द्र (१२ वीं शती के योगशास्त्र में भी हमें इन चक्रों का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार षट्चक्र की अवधारणा १२ वीं शताब्दी के पश्चात् ही जैन परम्परा में अस्तित्व में आयी। सर्वप्रथम आचार्य विबुधचन्द्र के शिष्य सिंहतिलकसूरि (१३वीं शती) ने अपने परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प नामक ग्रंथ में इन नव चक्रों का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध भी होता है कि चक्रों की यह अवधारणा उन्होंने हिन्दू तन्त्र से ही अवतरित की है क्योंकि उनके नाम आदि हिन्दू परम्परा के अनुरूप एवं बौद्ध परमपरा से भिन्न हैं। उनके अनुसार ये नवचक्र निम्न हैं– १. आधारचक्र २. स्वाधिष्ठानचक्र ३. मणिपूरचक्र ४. अनाहतचक्र ५. विशुद्धिचक्र ६. ललनाचक्र ७. आज्ञाचक्र ८. ब्रह्मरन्ध्रचक्र (सोमचक्र) और ९. सुषम्नाचक्र (ब्रह्मबिन्दुचक्र या सहस्रार चक्र)। सिंहतिलकसूरि ने इन नौ चक्रों के शरीर में नौ स्थान भी बताये हैं उनके अनुसार आधारचक्र गुदा के मध्यभाग में, स्वाधिष्ठानचक्र लिंगमूल के समीप, मणिपूरचक्र नाभि में, अनाहतचक्र हृदय के समीप, विशुद्धिचक्र कण्ठ में, ललनाचक्र तालु में घंटिका (कण्ठकूप) के समीप, आज्ञाचक्र कपाल में दोनों भौहों के बीच, ब्रह्मरन्ध्रचक्र मूर्धा के समीप और सुषुम्नाचक्र मस्तिष्क ऊर्ध्व भाग में स्थित है। प्रत्येक चक्र के कमलदलों की संख्या इस प्रकार बतायी गयी है– मूलाधारचक्र में ४ दल, स्वाधिष्ठान में ६, मणिपुर में १०, अनाहत में १२, विशुद्धि में १६, ललना में २०, आज्ञा में ३, ब्रह्मरन्ध्र में १६ और ब्रह्मबिन्दु या सहस्रारचक्र में ६ दल होते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार ब्रह्मबिन्दु या सहस्रारचक्र में सहस्र (१०००) दल होते हैं। सिंहतिलकसूरि के अनुसार ललनाचक्र में वाक्शक्ति (सरस्वती), आज्ञाचक्र में मन और ब्रह्मचक्र में चन्द्र के समान शीतल एवं निर्मल परमात्मशक्ति का निवास है। इनके दलों पर एक विशिष्ट व्यवस्था के अनुसार मातृकाक्षरों का स्थान है। इनमें आधारचक्र रक्त, स्वाधिष्ठान अरुणाभ, मणिपूर चक्रश्वेत, अनाहतचक्र पीत; विशुद्धिचक्र श्वेत, ललना, आज्ञा और ब्रह्मचक्र रक्तवर्ण के और सहस्रार चक्र श्वेत रंग वाला है। इस प्रकार आचार्य सिंहतिलकसूरि ने इन चक्रों के नाम, स्थान, कमलदलों की संख्या, रंग, बीजाक्षर आदि की चर्चा की है हम उनके ग्रन्थ का मूल अंश नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं–

अत्र विशेषः (कुण्डलिनीवर्णन विशेष)– गुदमध्य–लिङ्मूले नाभौ हृदि कण्ठघण्टिका,– भाले मूर्धन्यूर्ध्व नवषटकं (चंक्रं?) ठान्ताः पञ्च भाले (ल?) युताः

आधाराख्यं स्वाधिष्ठान मणिपूर्णमहनाहतम्।

विशुद्धि–ललना–ऽऽज्ञा–ब्रह्म–सुषुम्णाख्यया नव

अम्बुधि–रस–दश–सूर्याः षोड़श–विशंति–गुणास्तु–षोडशकम्।

दशशतदलमथ वाऽन्त्यं (वाच्यं?) षट्कोणं मनसाऽक्षपदम्।।

दलसंख्या इह साद्या ह–क्षान्ता मातृकाक्षरोंः पट्सु।

चक्रेषु व्यस्तमिता देहमिदं भारतीयन्त्रम्।।

आधराद्या विशुद्ध्यन्ताः पञ्चाङ्गस्तालुशक्तिभृत् (तः?)।

आज्ञा भ्रूमध्यतो भाले मनो ब्रह्माणि चन्द्रमाः ।।

रक्तारुणं सितं पीतं सितं रक्तत्रयं सितम्।

चक्रं वर्णा इतः प्राग्वदादौ पत्राणि पञ्चसु।।

चतुष्टये क्रमात् सूर्याः त्रि–षट्–द्व्यष्टदलावली।

तदन्तर्नवबीजानि त्रिष्वादौ त्रिपुराऽथवा।।

नवचक्रान्तः क्रमशो बाग्भवमुख्यानि मन्त्रबीजानि।

तत्राद्ये रविरोचिषि त्रिकोणर्केन्दुनाडीभ्याम्।।

भागबीजमेदूर्ध्वं कुण्डलिनीतन्तु मात्रमभ्रकलम्।

वाग्भववीजं ध्यातं सरस्वतीसिद्धिः।।

अरुणमिदं वह्निपुरं ध्यातं मात्रां विनाऽपि वश्यकृते।

किन्तु समात्रं यद्वा मायान्तः कामबीजमध्ये वा

ध्यातं सा (स्वा) धिष्ठाने षट्कोणे ह्रीं स्मरबीजभू (यु) तमि

ईकाराङ्कृशताणितशिरोऽम्बरस्रीक (स्रिकल?) मिह वश्यम्।।

जैन और हिन्दू तन्त्र में षट्चक्रों की तुलनात्मक तालिकायें अग्रिम पृष्ठो पर दी जा रही हैं।

चक्रों के नाम	स्थान (मेरुदंडमें)	दल	दलकी मातृकाएँ	तत्त्व और गुण	तत्त्व का	मण्डलका आकार	बीज	वाहन	देवता वाहन	शक्ति	तत्त्वका गुण	इन्द्रिय	लिङ्ग
मूलाधार	गुदासमीप	४	व श ष स	पृथ्वी संकली करण गन्धवाह	पीत	चतुष्कोण	लं	ऐरावत	ब्रह्मा ऐरावत	डाकिनी	गन्ध	पाद कर्मेन्द्रिय	स्वयम्भू
स्वाधि-	लिङ्गके	६	ब भ म	आप, आ-	शुभ्र	अर्द्ध चन्द्र	वं	मकर	विष्णु	राकिनी	रस	हस्त	
ष्ठान	सामने		य र ल	कुञ्चन रसवाह					गरुड			स्पर्शेन्द्रिय	
मणिपूर	नाभिके सामने	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज, प्रसरण उष्णवाह	रक्त	त्रिकोण	र	मेष	रुद्र नदी	लाकिनी	रूप	गुद कर्मेन्द्रिय	
अनाहत	हृदयके सामने	१२	कखगघङच छजझञ ट ठ	वायु, गति स्पर्शज्ञान	धूम्र	षट्कोण	यं		ईश	काकिनी	स्पर्श	लिङ्ग	बाण लिङ्ग
विशुद्धि	कण्ठके सामने	१६	अ आ इ ई ....अं अः	आकाश	शुभ्र	वर्तुल	हं	शुभ्र हस्ति	सदाशिव	साकिनी	शब्द	श्रवण मुख	
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	ह क्ष (ळ)	मन			ॐ	...	शम्भु	हाकिनी	महत्	हिरण्यगर्भ	पाताल लिङ्ग
सहस्रार	मूर्धन्	१०००		आत्मा			अ० प्रणव		कामेश्वरी कामनाथ			गुरु पादुका	

	चक्र का नाम	चक्र का स्थान	चक्र का दल	चक्र का रंग	मात्रिकाएं	चक्र का तत्व	चक्र की तत्त्व बीज	चक्र की देवी	चक्र यन्त्र का आकार	चक्र का मंत्र बीज
१	मूलाधार	गुदामध्य	४	रक्त	व श ष स	पृथ्वी	लँ	डाकिनी	चतुष्कोण	ऐं
२	स्वाधिष्ठान	लिंगमूल	६	अरुण	ब भ म य र ल	जल	वँ	राकिनी	चन्द्राकार	ऐं ह्रीं क्लीं
३	मणिपूर	नाभि	१०	श्वेत	ड ढ ण त थ द ध न प फ	अग्नि	रँ	लाकिनी	त्रिकोण	श्रीं
४	अनाहत	हृदय	१२	पीत	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु	यँ	काकिनी	षट्कोण	
५	विशुद्ध	कंठ	१६	श्वेत	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	आकाश	हँ	शकिनी	शून्यचक्र (गोलाकार)	
६	ललना	घंटिका	२०	रक्त				हाकिनी		ह्रीं
७	आज्ञा (त्रिकोण, कोदंड, खेचरी)	भ्रूमध्य	३	रक्त	ह क्ष (१ ळ)	महातत्त्व	ॐ	याकिनी	लिंगाकार	ह्रीं क्लीं
८	ब्रह्मरन्ध्र सोमकला, हंसनाद)	शीर्ष	१६	रक्त						
९	ब्रह्मबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, सुषुम्णा	सहस्रार	१०००	श्वेत						

* यह जानकारी अन्य ग्रन्थों के आधार पर दी गई है। तुलनात्मक अध्ययन से यह फलित होता है कि चक्र साधना सम्बन्धी जैन अवधारणा हिन्दूतन्त्र से आंशिक परिवर्तनों के साथ यथावत स्वीकार कर ली गई है।

षट् चक्र साधना के आधुनिक जैन संदर्भ

जैन परम्परा में चक्रों की यह अवधारणा हठयोग और हिन्दू तन्त्रों से लगभग १३वीं शती में गृहीत होकर यथावत रूप में चलती रही। लगभग सत्रहवीं शती में जैन योग प्रस्तोता एवं साधक आनन्दधनजी और यशोविजयजी ने भी इनका इसी रूप में संकेत किया है। किन्तु वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ जी ने इन चक्रों को चैतन्य केन्द्र के रूप में व्याख्यायित करके प्राचीन एवं अर्वाचीन मान्यताओं का समन्वय किया है। चक्र का अर्थ है– चेतना केन्द्र अथवा शक्ति केन्द्र। हठयोग के आचार्यों ने चक्रों के छः केन्द्र माने हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने शरीर में डेढ़ सौ चेतना के विशेष स्थान माने हैं, जबकि वर्तमान में प्रचलित एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर की चिकित्सा पद्धति में तो सात सौ से अधिक केन्द्र माने जाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने भी प्रेक्षा ध्यान की पद्धति में तेरह चैतन्य–केन्द्र माने हैं। वे लिखते हैं–

योग के प्राचीन आचार्य जिन्हें चक्र कहते हैं, शरीरशास्त्री उसी को ग्लैन्ड्स (Gland) कहते हैं। जापान की बौद्ध पद्धति "जूडो" में उन्हें क्यूसोस (Kyushas) कहा जाता है जबकि चक्र, ग्लैन्ड्स या क्यूसोस तीनों ही के स्थान और आकार समान हैं, इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। उन्होंने निम्न तुलनात्मक तालिका भी दी है–

क्र०सं०	जूडो क्यूसोस	ग्लैण्ड्स	योगचक्र
१.	टेन्डो (Tends)	पिनिअल ग्लैण्ड (Pineal gland)	सहस्रारचक्र
२.	उतो (Uto)	पिट्यूटरी ग्लैण्ड (Pituitary gland)	आज्ञाचक्र
३.	हिचू (Hichu)	थाराइड ग्लैण्ड (Thyroid gland)	विशुद्धिचक्र
४.	क्योटोट्सु (Kyototsy)	थाइमस ग्लैण्ड (Thymus gland)	अनाहतचक्र
५.	सुइगेट्सु (Suigetsy)	एड्रेनल ग्लैण्ड (Adrenal gland)	मणिपुरचक्र
६.	माइओजो (Myojo)	गोनाड्स (Gonads)	स्वाधिष्ठानचक्र
७.	सुरिग्नि (Tsurigane)	गोनाड्स (Gonads)	मूलाधारचक्र

उन्होंने अपनी प्रेक्षाध्यान पद्धति में उक्त क्यूसोस, ग्लैण्ड्स और चक्रों की व्याख्या चैतन्य केन्द्रों (Psychic centers) के रुप में की हैं। चैतन्य केन्द्रों के नाम, स्थान व अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के साथ वे किस प्रकार सम्बन्धित हैं, यह उनके द्वारा प्रस्तुत निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

क्र० सं०	नाम	ग्रन्थि से सम्बन्ध	स्थान
१.	शक्ति केन्द्र (Center of Energy)	गोनाड्स	पृष्ठ–रज्जु के नीचे के छोर पर
२.	स्वास्थ्य केन्द्र (Center of Health)	गोनाड्स	पेडू (नाभि से चार अंगुल नीचे)
३.	तैजस केन्द्र (Center Bio Elec-tricity)	एड्रीनल, पेन्क्रियाज	नाभि
४.	आनन्द केन्द्र (Center Bliss)	थाइमस	हृदय के पास बिल्कुल बीच में
५.	विशुिद्ध केन्द्र (Center of Purity)	थाइराइड, पैराथाइराइड	कण्ठ के मध्य भाग में
६.	ब्रह्म केन्द्र (Center of Celibacy)	रसनेन्द्रिय	जिह्वाग्र
७.	प्राण केन्द्र (Center of Vital Energy)	घ्रोणेन्द्रिय	नासाग्र
८.	चाक्षुष (Center of vision) केन्द्र	चक्षुरिन्द्रिय	आंखों के भीतर
६.	अप्रमाद केन्द्र (Center of Vigilance)	श्रोतेन्द्रिय	कानों के भीतर
१०.	ज्योति केन्द्र (Center of Intuition)	पाइनियल	भृकुटियों के मध्य में
११.	ज्योति केन्द्र (Center of Enligher)	पाइनियल	ललाट के मध्य मे
१२.	शांति केन्द्र (Center of Peace)	हाइपोथेलेमस	मस्तिष्क का अग्रभाग
१३.	ज्ञान केन्द्र (Center of Wisdom)	बृहद्मस्तिष्क (कार्टेक्स)	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान)

चैतन्य केन्द्र जागृत करने की प्रक्रिया

चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने के सम्बन्ध में आचार्य महाप्रज्ञजी की मान्यता है कि चैतन्य केन्द्रों में जिस किसी भी केन्द्र को जाग्रत या सक्रिय करना हो, उसी पर मन को एकाग्र करने से वह केन्द्र सक्रिय हो जाता है। केन्द्रो की सक्रियता एवं जागरूकता व्यक्ति के लक्ष्य पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ यदि व्यक्ति पवित्रता को प्राप्त करना चाहे तो उसे बार–बार विशुद्धि केन्द्र (Center of Purity) पर अपने चित को एकाग्र करना चाहिए। इससे वासना के संस्कार मन्द होते हैं और पवित्रता आती है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रारम्भ शक्ति केन्द्र की प्रेक्षा से होता है और क्रमशः स्वास्थ्य केन्द्र, तैजस् केन्द्र.....और अंत में ज्ञान केन्द्र की प्रेक्षा की जाती है प्रत्येक केन्द्र पर चित्त को एकाग्र कर वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव किया जाता है। शुरू में प्रत्येक केन्द्रों पर २ से ३ मिनट तक ध्यान किया जाता है। चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नीचे के केन्द्रों पर ध्यान करने के बाद आनन्द केन्द्र और उससे ऊपर के केन्द्रों पर ध्यान

करना अनिवार्य है, क्योंकि नीचे के केन्द्रों पर ध्यान करने से व्यक्ति बहिर्मुखी बनता है और ऊपर के केन्द्रों पर ध्यान करने से मन एकाग्र करने से अन्तर्मुखता आती है।

जैनदर्शन में आत्मा को शरीरव्यापी माना गया है। अतः सम्पूर्ण शरीर ही चेतना केन्द्र है, फिर भी शरीर के कुछ भागों जैसे मस्तिष्क, ऐन्द्रिक संवेदना स्थल आदि में चेतना अधिक सक्रिय होती है, अतः इन चेतना केन्द्रों पर ध्यान करने से हमारी आत्मा (चेतना) कर्ता–भोक्ता भाव में न जी कर ज्ञाताद्रष्टा भाव में जीने की अभ्यस्त होती है। मेरी दृष्टि में यही कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रों के भेदन का रहस्य है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यही इड (Id) अर्थात् वासनात्मक अहं की ग्रन्थियों के उन्मूलन द्वारा निर्द्वन्द्व चेतना की उपलब्धि है। समाधि या समत्व की उपलब्धि है। आत्मा और परमात्मा का मिलन है।

अध्याय–१०

तान्त्रिक साधना के विधि–विधान

आध्यात्मिक शक्ति के विकास एवं लौकिक उपलब्धियों के लिए मंत्र और यंत्र की साधना विधियों का उल्लेख अनेक जैनाचार्यों ने अपने–अपने ग्रंथों में किया है। विशेषरूप से सिंहतिलकसूरि ने मन्त्रराजरहस्य में, जिनप्रभसूरि ने विधिमार्गप्रपा में, मल्लिषेणसूरि ने भैरवपद्मावतीकल्प में, आचार्य कुन्थुसागर जी ने लघुविद्यानुवाद में तंत्र साधना की अनेक विधियों का उल्लेख किया है। विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित तंत्र साधना की विभिन्न विधियों में कहीं क्रमभेद है तो कहीं संख्याभेद है और कहीं–कहीं तो मंत्रभेद भी है। वस्तुतः तंत्र साधना विधियों को लेकर जैन आचार्यों में अनेक अम्नायें प्रचलित रही हैं और उन आम्नायों के आधार पर साधनाप्रक्रिया तथा मंत्र आदि को लेकर कुछ मतभेद देखे जाते हैं। फिर भी सामान्यरूप से उनमें कोई बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित नहीं होता। मंत्ररहस्य में सिंहतिलकसूरि ने तांत्रिक साधना के जिस विधान का उल्लेख किया है, उसके अन्तर्गत निम्न विधान आते हैं– (१) भूमिशुद्धि (२) कराङ्गन्यास (३) सकलीकरण (४) दिक्पाल आह्वान (५) हृदयशुद्धि (६) मंत्रस्नान (७) कल्मषदहन (८) पंचपरमेष्ठि स्थापन (९) आह्वान (१०) स्थापन (११) सन्निधान (१२) सन्निरोध (१३) अवगुण्ठन (१४) छोटिकाप्रदर्शन (१५) अमृतीकरण (१६) जाप (१७) क्षोभण (१८) क्षामन (१९) विसर्जन और (२०) स्तुति।

वर्धमानविद्याविधि में जिस मंत्र साधना विधि का उल्लेख है उसमें निम्न सोलह विधियों के उल्लेख है –(१) पञ्चाङ्गशौच (२) भूमिशुद्धि (३) मंत्रस्नान (४) वस्त्रशुद्धि (५) पंचांगुलिन्यास (६) कल्मषदहन (७) हृदयशुद्धि (८) दुःस्वप्न दुर्निमित्ताशनिविद्युत्शत्रुभयादिरक्षा (९) सकलीकरण (१०) पट या यंत्र पूजा (११) सजीवतापादन (१२) दिग्बंधन (१३) जप (१४) आसनक्षोभण (१५) क्षमाप्रार्थना (१६) विसर्जन एवं हृदय में इष्ट स्थापन।

ऋषिमंडलस्तव में मन्त्र साधना विधान के निम्न आठ अंग माने गये हैं– (१) मंत्र (२) न्यास (३) ध्यान (४) साधन (५) जप (६) तप (७) अर्चा और (८) अन्तयोग।

श्रीसागरचंदसूरि ने मंत्राधिराजकल्प में मन्त्र साधना के निम्न छः ही अंग स्वीकार किये हैं– (१) आसन (२) सकलीकरण (३) मुद्रा (४) पूजा (५) जप और (६) होम।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न जैनाचार्यों ने पूजाविधान के अंगों के सम्बन्ध में अपने भिन्न–भिन्न मंत्र प्रदर्शित किये हैं। इनमें संख्या, क्रम एवं मन्त्र आदि के सम्बन्ध में भिन्नता होते हुए भी कोई मौलिक अन्तर परिलक्षित नहीं होता। सभी ने तन्त्र साधना के पूर्व शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, भूमिशुद्धि, मंत्रस्नान, कल्मषदहन, हृदयशुद्धि न्यास, सकलीकरण आदि का उल्लेख किया है। अन्य तान्त्रिक परम्पराओं के समान ही जैनाचार्यों ने भी भूमिशुद्धि, शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि के वाह्य विधि–विधानों के साथ विभिन्न मंत्रों की भी योजना की है।

शरीरशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, भूमिशुद्धि एवं मन्त्र स्नान

भैरव पद्मावतीकल्प में मन्त्र साधना प्रारम्भ करने के पूर्व के बाह्यशुद्धि, आन्तरिक एकाग्रता और न्यास करने का उल्लेख है। उसमें कहा गया है–

स्नात्वा पूर्व मन्त्री प्रक्षालित रक्त परिधानः।

समार्जित प्रदेशे स्थित्वा सकलीक्रिया कुर्यात्।।

अर्थात् मन्त्रसाधक स्नान करके प्रक्षालित वस्त्रों को धारणकर शुद्ध भूमि पर स्थिति होकर सकलीकरण क्रिया करे। यहां यह ज्ञातव्य है कि जहां भैरव–पद्मावतीकल्प में रक्तवर्ण के वस्त्र पहन

ने का विधान है, वहां मन्त्रराजरहस्य इस सम्बन्ध में मौन है। किन्तु अन्य ग्रन्थों में भिन्न–भिन्न प्रयोजनों में भिन्न–भिन्न रंग के वस्त्रों से जप करने के विधान हैं। यह विधि गृहस्थ साधकों के लिए है। जैन साधु तो आजीवन अस्नान का व्रत लेता है, वह या तो नग्न रहता है या श्वेत वस्त्र धारण करता है। अतः वह तो मन्त्रों से ही पञ्चांग शौच, शरीर शुद्धि, वस्त्रशुद्धि एवं स्नान करता है। वह शुद्धि हेतु निर्दिष्ट मंत्रों का उच्चारण करते हुए दोनों करों, दोनों पैरों अथवा वस्त्रादि पर हाथ घुमाते हुए उन्हें पवित्र बनाने की संकल्पना करता है। सर्वप्रथम वह निर्दिष्ट मन्त्र से शरीर पर हाथ घुमाते हुए पञ्चांगशौच करे फिर वस्त्र शुद्धि करने हेतु भी 'ॐ ह्रीं झ्वीं क्ष्वीं' आदि मंत्र का उच्चारण करते हुए वस्त्रों पर हाथ घुमाते हुए वस्त्र शुद्धि करे। इसके पश्चात् भूमिशुद्धि करे। मन्त्रराजरहस्य (पृ० १०४) में सिंहतिलक सूरि लिखते हैं कि सर्वप्रथम स्नान करके धुले हुए वस्त्र धारण कर झोली को सम्मुख रखकर पूर्वोत्तर दिशा में मुख करके ईर्यापथ प्रतिक्रमण अर्थात् मार्ग में गमनागमन में हुई हिंसा की आलोचना करके निम्न मंत्र से भूमिशुद्धि करें–

"ॐ भूरसिभूतधात्रि सर्वभूतहिते भूमिशुद्धिं करु कुरू स्वाहा"

अर्थात् इसके पश्चात् वह मन्त्र स्नान करे।

इस मंत्र को बोलते हुए तीन बार वासक्षेप सुगंधित चूर्ण का क्षेपण करे।

सिंहतिलकसूरि ने मन्त्रस्नान के लिए निम्न विधि दी है–

'ॐ अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतवाहिनि अमृतं स्रावय–स्रावय हु फुट् स्वाहा'। इस प्रकार जल के सर्जन की कल्पना करे।

इसके पश्चात् गरुडमुद्रा द्वारा कुण्ड की परिकल्पना करके निम्नमंत्र से मंत्र स्नान करे–

७"ॐ अमले विमले सर्वतीर्थं जलैः प पः पां पां वां वां अशुचिर्शुचिर्भवामि स्वाहा।

इस प्रकार सर्व तीर्थों के जल की अंजलि में संकल्पना करके सिर से पैर तक कर स्पर्श करते हुए मन्त्रस्नान किया जाता है।

कल्मषदहन और हृदयशुद्धि

न्यास अथवा सकलीकरण के पूर्व चित्तविशुद्धि हेतु जिन दो क्रियाओं का उल्लेख जैनाचार्यों ने किया है, वे हैं। कल्मषदहन और हृदयशुद्धि कल्मषदहन का अर्थ है– हृदय के विकारों, वासनाओं और दुर्भावनाओं को समाप्त करना। मन्त्रराजरहस्य में कल्मषदहन के निम्न मन्त्र का उल्लेख मिलता है–

ॐ विद्युत् स्फुलिङ्गे महाविधे सर्वकल्मषं दह दह स्वाहा।

इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए करों से भुजा के मध्यभाग का स्पर्श करना चाहिए। तदुपरान्त मुट्ठी बांधकर निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए–

ॐ कुरुकुल्ले स्वाहा, हास्वाल्लेकुरुकुरु ॐ।

यह कल्मषदहन की क्रिया हुई, इसके पश्चात् हृदयशुद्धि करे।

हृदयशुद्धि का अर्थ है हृदय की दुर्भावनाओं को दूर कर उसे शुभ भावनाओं से आपूरित करना। हृदयशुद्धि निम्न मन्त्र से की जाती है–

ॐ विमणय विमलचित्ताय झ्वाँ झ्वीं स्वाहा।

इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए तीन बार वाम हस्त से हृदय का स्पर्श करना चाहिए।

यद्यपि मन्त्रराजरहस्य में हृदय शुद्धि के बाद कल्मषदहन का उल्लेख है किन्तु मेरी दृष्टि में कल्मषदहन के पश्चात् हृदयशुद्धि करना चाहिए। वद्धमाण विज्जाविहि (वर्धमानविद्याविधि) में कल्मषदहन के पश्चात् ही हृदयशुद्धि का विधान किया गया है, जो अधिक उचित है, क्योंकि जब तक कल्मष नष्ट नहीं होते हैं, तब तक हृदयशुद्ध नहीं हो सकता।

पिण्डशुद्धि एवं निर्मलीकरण

तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ में सकलीकरण के पूर्व मारुति, आग्नेयी और वारुणी धारणा करने का निर्देश है। यद्यपि अन्य तान्त्रिक परम्पराओं में भी इन धारणाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु जैन परम्परा में इनका प्रयोजन भिन्न है। इनका प्रयोजन कर्ममल से आत्मविशुद्धि की भावना जगाना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन पाँच धारणाओं का उल्लेख ध्यान साधना के अन्तर्गत धर्मध्यान के प्रसंग में किया गया है। वस्तुतः जैन परम्परा में आग्नेयी धारणा के द्वारा व्यक्ति कर्ममल के दहन की संकल्पना करता है, फिर मारुति धारणा के द्वारा वह कर्ममल के दहन से उत्पन्न राख के उड़ने की कल्पना करता है और अन्त में वारुणी धारणा के द्वारा उस राख के धुलजाने से आत्मा के निर्मलीकरण की अनुभूति करता है।

न्यास और सकलीकरण

न्यास और सकलीकरण तांत्रिक साधना के प्रारम्भिक बिन्दु हैं। वस्तुतः तंत्रसाधना का मूलभूत उद्देश्य शक्ति को प्राप्त करना होता है। पुरुषार्थ चाहे आत्म विशुद्धि के लिए हो या लौकिक उपलब्धियों के लिए, आत्मिक शक्ति को जागृत करना आवश्यक होता है और शक्ति के जागृत होने पर उसका सम्यक् दिशा में नियोजन करना आवश्यक होता है। किन्तु जब शक्ति का उपयोग आन्तरमल या कर्ममल के शोधन के लिये या लोकमंगल के लिए न करके वैयक्तिक क्षुद्रस्वार्थों की पूर्ति के लिए मारण, मोहन, स्थम्भन, उच्चाटन आदि षट्कर्मों के हेतु किया जाता है तो उसके भयंकर दुष्परिणाम भी हो सकते हैं। शक्ति–शक्ति है, वह कल्याणकारी भी हो सकती है और अकल्याणकारी भी। अतः इसके नियोजन में अत्यधिक सावधानी आवश्यक होती है। जो शस्त्र दूसरों को मार सकता है, वह सही उपयोग न करने पर आत्मघाती भी हो सकता है। जिस प्रकार विद्युत की घातक शक्ति से बचने के लिये उपकरणों में रक्षाकवच (इन्स्यूलेशन) आवश्यक होता है, उसी प्रकार तंत्रसाधना में रक्षाकवच के रूप में न्यास और सकलीकरण अनिवार्य है। अतः अन्य तांत्रिकसाधकों के समान ही जैनाचार्यों का भी स्पष्ट निर्देश है कि न्यास एवं सकलीकरण के बिना

मन्त्रसाधना नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः तन्त्र साधना में न्यास, रक्षाकवच, व्रजपञ्जर, आत्मरक्षा, सकलीकरण आदि के जो विधिविधान हैं वे दुःस्वप्न, दुर्निमित्त, शत्रु आदि के भयों से तथा मंत्र की शक्ति के दुष्प्रभाव से अपनी रक्षा करने हेतु ही हैं। मेरी दृष्टि में इन सबमें विधि भेद, क्रमभेद या मंत्रभेद होते हुए भी प्रयोजनभेद नहीं है।

न्यास

सकलीकरण के पूर्व सभी जैन आचार्यों ने न्यास का उल्लेख किया है। न्यास आत्मरक्षा हेतु किया जाता है। इसलिए इसे रक्षाकवच या वज्र–पञ्जर भी कहते हैं। जैन आचार्यों की यह मान्यता है कि बीजाक्षरों अथवा पंचपरमेष्ठि के न्यास के द्वारा जो मान्त्रिक रक्षाकवच निर्मित किया जाता है उससे मंत्र अथवा मंत्र देवता के कुपित होने से जिन दुष्परिणामों की संभावना होती है, उनसे व्यक्ति की रक्षा होती है। जैनपरम्परा में न्यास की दो प्रमुख पद्धतियां परिलक्षित होती हैं। प्रथम पद्धति में बीजाक्षरों से कराङ्गन्यास अथवा अङ्गन्यास किया जाता है। दूसरी पद्धति में शरीर के विभिन्न अंगों में पंञ्चपरमेष्ठि, नवपद अथवा चौबीस तीर्थंकरों की स्थापना करके भी अङ्गन्यास किया जाता है। ज्ञातव्य है कि बीजाक्षरों के द्वारा न्यास करने की पद्धति जैन परम्परा में अन्य तान्त्रिक परम्पराओं से ही गृहीत हुई है और उनके समरूप ही है। जबकि पंचपरमेष्ठि, नवपद आदि के द्वारा न्यास की पद्धति जैन आचार्यों के द्वारा अपनी परम्परा के अनुरूप विकसित की गई है।

अन्य तान्त्रिक परम्परओं के समान ही जैन परम्परा में भी न्यास के दोनों रूप मिलते हैं– १.कराङ्गन्यास और २. अङ्गन्यास। कराङ्गन्यास में वामकर के अगूठें और अंगुलियों में बीजाक्षरों का निम्न क्रम में न्यास किया जाता है–

ह्राँ वामकराङगुष्ठे तर्जनया ह्रीं च मध्यमायां ह्रूँ।

ह्रैँ पुनरनामिकायां कनिष्ठिकायां च ह्राँः सुस्यात्।।

अर्थात् वामकर के अंगूठे के अग्रभाग में, तर्जनी के अग्रभाग में हीँ, मध्यमा के अग्रभाग में हूँ, अनामिका के अग्रभाग में हौँ और कनिष्ठा के अग्रभाग में हँः का न्यास किया जाता है।

इसी प्रकार बीजाक्षरों से अङ्गन्यास करने की विधि निम्न है–

हृत्–कण्ठ–तालु–भ्रूमध्ये ब्रह्मरन्ध्र यथाक्रम– ह्राँ, हीँ, हूँ, हौँ, हँः।

अर्थात् हृदय में ह्राँ, कण्ठ में ह्रीं, तालु में ह्रूँ, भ्रमध्य में ह्रौं और ब्रह्मरन्ध्र में ह्रः की स्थापना करे। बीजाक्षरों के द्वारा उपरोक्त अङ्गन्यास करने की पद्धति के अतिरिक्त जैन परम्परा में पंचपरमेष्ठि अथवा नवपद के द्वारा भी अङ्गन्यास करने की परम्परा पाई जाती है। अधिकांश जैन आचार्यों ने पंचपरमेष्ठि और नवपद के द्वारा ही न्यास की विधि का प्रतिपादन किया है। पंचपरमेष्ठि के द्वारा न्यास करने की अनेक आम्नाय प्रचलित हैं। विद्यानुशासन में पंचपरमेष्ठि के द्वारा न्यास करने की विधि इस प्रकार दी गई है –

ॐ णमो अरिहंताणं ह्राँ मम हृदय रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीँ मम मुखं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम दक्षिणाङ्ग रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौँ मम पृष्ठाङ्गं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रःँ मम वामाङ्ग रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो अरिहंताणं ह्रौं मम लालटभागं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम ऊर्ध्वभाग रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम शिरोदक्षिणभागं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौ मम शिरोऽधोभागं रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो अरिहंताणं ह्राँ मम दक्षिणकुक्षि रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम वामकुक्षि रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम नाभिप्रदेश रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौ मम दक्षिणपार्श्व रक्ष रक्ष स्वाहा।

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम वामपार्श्व रक्ष रक्ष स्वाहा।

इसमें साधक पंचपरमेष्ठि पदों का उच्चारण करते हैं और जिस अङ्ग का नाम आता है उसका स्पर्श करते हैं। आचार्य कुन्थुसागर जी ने अपने ग्रंथ लघुविद्यानुवाद (पृ०४) में भी न्यास की इसीविधि का निर्देश किया है, किन्तु पंचनमस्कृतिदीपक ग्रन्थ में सिंहनन्दि ने अङ्गन्यास का यह क्रम कुछ निम्न प्रकार से दिया है–

'ॐ णमो अरिहंताणं' शिरोरक्षा। 'ॐ णमो सिद्धाणं' मुखरक्षा।

'ॐ णमो आयरियाणं' दक्षिणहस्तरक्षा। 'ॐ णमो उवज्झायाणं वामहस्तरक्षा।

'ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं' इति कवचम्।।

यहां हम यह देखते हैं कि विद्यानुशासन में जो अङ्गन्यास की विधि दी गई है वह सिंहनन्दि द्वारा दी गई विधि से कुछ भिन्न है। जहां उसमें णमो अरहंताणं का न्यास हृदय पर करने का उल्लेख है वहां इसमें णमो अरहंताणं का न्यास सिर पर किया जाता है। सिंहनन्दि ने अङ्गन्यास के अतिरिक्त वज्रपञ्जर का भी उल्लेख किया है और कहा है कि विपरीत कार्यों में अङ्गन्यास से और शोभनकार्य में वज्रपञ्जर से आत्मरक्षा करनी चाहि। इससे यह सिद्ध होता है कि मान्त्रिक दृष्टि से अङ्न्यास और वज्रपञ्जर भिन्न–भिन्न हैं, यद्यपि प्रयोजन की दृष्टि से दोनों में समानता है। सिंहनन्दि के अनुसार वज्रपञ्जर करने की विधि इस प्रकार है–

'ॐ' हृदि। 'ह्रीं' मुखे। 'णमो' नाभौ। 'अरि' वामे। 'हंता' वामे। 'ताणं' शिरसि।

'ॐ' दक्षिणे बाहौ। 'ह्रीं' वामे बाहौ। 'णमो' कवचम्। 'सिद्धाणं' अस्त्राय फट् स्वाहा।

इसी ग्रन्थ में रक्षामन्त्र के रूप में जो आत्मरक्षा की विधि दी गई है उसमें पदों के अङ्गन्यास का क्रम और भी भिन्न है। इसमें पंचपदों के अतिरिक्त एसोपंचनमोक्कारो आदि चूलिका के पदों को भी स्थान दिया गया है। उनके द्वारा प्रस्तुत रक्षामन्त्र निम्न है–

रक्षामन्त्रः–

'ॐ ह्रीं नमो अरिहंताणं पादौ रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं कटिं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो आयरियाणं नाभिं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो उवज्झायाणं हृदयं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं नमो लोए सव्वसाहूणं कण्ठं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं एसो पंच नमोक्कारो (णमोक्कारो) शिखां रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्रीं सव्वपावप्पणासणो आसनं रक्ष रक्ष।'

'ॐ ह्री मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं आत्मवक्षः परवक्षः रक्ष रक्ष।' इति रक्षामन्त्रः।।

'नमस्कारस्वाध्याय' के अन्तर्गत आज्ञतकृत 'आत्मरक्षानमस्कार स्तोत्र' में नमस्कार मंत्र के विभिन्न पदों की शिरस्त्राण कवच, आयुध, मोचक, (पादत्राण) दुर्ग, परिधा (खातिका) आदि के रूप में कल्पना की गई है।

आत्मरक्षानमस्कारस्तोत्रम्

ॐ परमेष्ठिनमस्कारं, सारं नवपदात्मकम्।
आत्मरक्षाकरं वज्रपञ्जराभं स्मराम्यहम्।।१।।
'ॐ नमो अरिहंताणं', शिरस्कं शिरसि स्थितम्।
'ॐ नमो सव्वसिद्धाणं', मुखे मुखपटं वरम् ।।२।।
'ॐ नमो आयरियाणं', अङ्गरक्षाऽतिशायिनी।
'ॐ नमो उवज्झायाणं', आयुधं हस्तयोर्दृढम्।।३।।
'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं', मोचके पादयोः शुभे।
'एसो पंचनमुक्कारो', शिला वज्रमयी तले।।४।।
'सव्व–पाव–प्पणासणो', वप्रो वज्रमयो बहिः।
'मंगलाणं च सव्वेसिं', खादिराङ्गार–खातिका।।५।।
'स्वाहा' न्तं च पदं ज्ञेयं, 'पढमं हवइ मंगलं'।
वप्रोपरि वज्रमयं, परिधानं देह–रक्षणे।।६।।

जिस प्रकार नमस्कार मंत्र के विभिन्न पदों के द्वारा आत्मरक्षा की जाती है उसी प्रकार तीर्थंकरों के नामों के द्वारा भी मान्त्रिक रक्षाकवच निर्मित करने का निर्देश कमलप्रभसूरि विरचित जिनपञ्जरस्तोत्र में मिलता है–

ऋषभो मस्तकं रक्षेदजितोऽपि विलोचने।
सम्भवः कर्णयुगलेऽभिनन्दनस्तु नासिके।।१२।।
ओष्ठौ श्रीसुमती रक्षेद्, दन्तान् पद्मप्रभो विभुः।
जिह्वां सुपार्श्वदेवोऽयं, तालुं चन्द्रप्रभाभिधः।।१३।।
कण्ठं श्रीसुविधि रक्षेद्, हृदयं श्रीसुशीतलः।
श्रेयांसो बहुयुगलं, वासुपूज्यः करद्वयम् ।।१४।।
अङ्गुलीर्विमलो रक्षेदनन्तोऽसौ नखानपि।
श्रीधर्मोऽप्युदरास्थीनि, श्रीशान्तिर्नाभिमण्डलम्।।१५।।
श्रीकुन्थुर्गुह्यकं रक्षेदरो लोमकटीतटम्।
मल्लिरूरुपृष्ठमंसं, जङ्घे च मुनिसुव्रतः।।१६।।
पादाङ्गलीर्नमी रक्षेच्छ्रीनेमिश्चरणद्वयम्।

श्रीपार्श्वनाथः सर्वाङ्गं, वर्धमानश्चिदात्मकम् ।।१७।।

पृथिवी–जल–तेजस्क–वाय्वाकाशमयं जगत्।

रक्षेदशेष–पापेभ्यो, वीतरागो निरञ्जनः ।।१८।।

प्रस्तुत स्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों का शरीर के विभिन्न अङ्गों में न्यास करके उनसे रक्षा की अभ्यर्थना की गई है। मात्र इतना ही नहीं इसमें पार्श्व से सम्पूर्ण अङ्गों की और वर्धमान महावीर से जल, थल, वायु, अग्नि और आकाश की रक्षा की भी प्रार्थना की गई है। तीर्थंकर या पञ्चपरमेष्ठि रक्षा करते है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है, जिसकी चर्चा इसी के अन्त में की गई है।

सकलीकरण

वस्तुतः न्यास और सकलीकरण समान ही है, किन्तु मन्त्रराजरहस्य (पृ० १०४) पञ्चनमस्कृतिदीपक एवं कुछ अन्य ग्रन्थों में न्यास के पश्चात् सकलीकरण करने का उल्लेख हुआ है और इन दोनों के पृथक–पृथक मन्त्र भी निर्दिष्ट हैं अतः यह मानना होगा कि ये दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं। जहाँ तक मै समझ सका हूँ न्यास की पूर्णता ही सकलीकरण है। करन्यास, अङ्गन्यास आदि से आत्म रक्षा कर लेना ही सकलीकरण है। सिंहतिलकसूरि मन्त्रराजरहस्य (पृ०१०४) में स्वयं लिखते है– एवं क्रमोत्क्रमः (मेण) पञ्चाङ्गरक्षा सकलीकरणम् अर्थात् क्रम एवं उत्क्रम से पञ्चाङ्गरक्षा ही सकलीकरण है। पा० व्ही काणे ने भी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' भाग ५ (पृ० ६८) में न्यास के अन्तर्गत ही सकलीकरण का उल्लेख किया है। उन्होंने न्यास और सकलीकरण को पृथक्–पृथक् नहीं माना है। वे लिखते हैं सकलीकृति में देवता की प्रतिमा के अंगों से अपने अंगों के न्यास का नाट्य करना होता है। (देवताङ्गे षटङ्गानां न्यास स्यात्सकलीकृतिः (शारदातिलक २३/११०) यथार्थ में न्यास ही सकलीकरण है। मन्त्रराजरहस्य (पृ० १०४) में सकलीकरण का निम्न मन्त्र दिया गया है–

क्षिप ॐ स्वाहा, हास्वा ॐ पक्षि– अध ऊर्ध्ववारान् त्रीन षड्वा क्षि पादयोः, 'प' नाभौ, 'ॐ' हृदये, 'स्वा' मुखे 'हा' ललाटे है न्यसेत्। यह न्यास क्रम और उत्क्रम (उलटेक्रम) दोनों से किया जाता है।

किन्तु पञ्चनमस्कृतिदीपक में पञ्चपरमेष्ठि के द्वारा सकलीकरण का विधान मिलता है यथा–

ॐ नमो अरिहंताणं नाभौ, ॐ नमो सिद्धाणं हृदये, ॐ नमो आयरियाणं कण्ठे, ॐ नमो उवज्झायाणं मुखे ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं मस्तके सर्वाङ्गेषु

मां रक्ष रक्ष हिलि हिलि मातङ्गिनी स्वाहा। –इति सकलीकरण मन्त्राः।

इस प्रकार बीजाक्षरों से निर्मित मन्त्र के द्वारा तथा पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारमंत्र के द्वारा सकलीकरण करने की परम्परा जैन ग्रन्थों में देखी जाती है। इनमें बीजाक्षरों से निर्मित मन्त्र से सकलीकरण करने की परम्परा को जैनों ने अन्य तान्त्रिक धाराओं से गृहीत किया है, जबकि पञ्चपरमेष्ठि या तीर्थंकरों के नामों से न्यास एवं सकलीकरण की परम्परा जैन आचार्यों ने स्वयं विकसित की है। फिर भी इसका प्रारूप तो अन्य तान्त्रिक परम्पराओं से प्रभावित है ही क्योंकि न्यास और सकलीकरण की सम्पूर्ण अवधारणा हिन्दू तन्त्र से ही जैन धर्म में आई है।

न्यास की प्रस्तुत प्रक्रिया में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या पञ्चमरमेष्ठि या तीर्थंकर इस प्रकार न्यास कर लेने पर रक्षा करते है? जैन परम्परा में तीर्थंकर वीतराग होता है। वह सन्मार्ग का पथ प्रदर्शक होता है धर्मतीर्थ का संस्थापक होता है, किन्तु हिन्दू परम्परा के ईश्वर के अवतार की तरह वह न तो सज्जनों का रक्षक है और न दुष्टों का संहारक है, फिर जैनधर्म में उनके नाम के न्यास और उनसे अङ्गरक्षा या आत्मरक्षा की अभ्यर्थना का क्या अर्थ है?

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जैन धर्म मूलतः आध्यात्मिक एवं निवृत्ति प्रधान है। उसकी संस्कृति उत्सर्ग या त्याग की संस्कृति हैं। अतः न्यास द्वारा देहरक्षण या आत्म रक्षण के विधि विधान उसके अपने मौलिक नहीं है। उन्होंने इसे हिन्दू तन्त्र साधना से गृहीत किया है। जैनाचार्यों का इस रक्षा विधान में मौलिक अवदान इतना ही है कि उन्होंने इन मन्त्रों में हिन्दू देवी देवताओं के स्थान पर पञ्चपरमेष्ठि एवं तीर्थंकरों के नामों की योजना की। न्यास के प्रयोजन एवं सार्थकता के सन्दर्भ में जैन आचार्यों की मान्यता यही है कि चाहे तीर्थंकर स्वयं तटस्थ या निरपेक्ष हो, किन्तु उनसे सम्बन्धित मन्त्र स्वतः या मन्त्राधिष्ठित देवता द्वारा या जिन शासन रक्षक देवता द्वारा रक्षा करते हैं।

व्यक्तिगत रूप में मेरी मान्यता तो यह है कि न्यास द्वारा व्यक्ति में यह आत्म विश्वास जागृत होता है कि कोई मेरा रक्षक है। यही दृढ़ आत्म विश्वास या श्रद्धा ही उसका रक्षा कवच बनता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से न्यास आत्म विश्वास जागृत करने या मनोबल को दृढ़ बनाने की एक प्रक्रिया है। व्यक्ति की सफलता का कारण मन्त्र या देवता नहीं, उसका दृढ़मनोबल ही होता है। कहा भी है– मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।

दिग्पाल एवं नवग्रह आह्वान तथा पूजन

जिस प्रकार आत्मरक्षा के हेतु न्यास और सकलीकरण किया जाता है उसी प्रकार साधना में विघ्न के निवारण के लिए दिग्पालों का आह्वान कर दिग्बन्धन किया जाता है। दिग्पाल दिशारक्षक देवता है, अतः साधना या पूजा के प्रारम्भ में दसो दिशाओं से होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए उनका आह्वान एवं पूजन आवश्यक माना जाता है। जैन परम्परा में दिग्पालों की अवधारणा हिन्दू परम्परा के समरूप ही है और सम्भवतः वहीं से गृहीत है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हम जैन देव मण्डल नामक अध्याय में कर चुके हैं। दिग्पालों के आह्वान, पूजन के साथ--साथ नवग्रहों के आह्वान एवं पूजन का भी निर्देश मिलता है। दिग्पालों एवं नवग्रहों का आह्वान करके उनसे जिन प्रतिमा के सम्मुख अवस्थित होने की प्रार्थना की जाती है और फिर वासक्षेप से उनका पूजन किया जाता है। पुनः जिस प्रकार हिन्दू तान्त्रिक साधना में मन्त्र साधना एवं पूजा आदि के विधान के समय सर्वप्रथम दिग्पालों एवं नवग्रहों का पूजन किया जाता है, उसी प्रकार जैन परम्परा में भी दिग्पालों एवं नवग्रहों का आह्वान, स्थापन एवं पूजन किया जाता है। मन्त्रराजरहस्य में उनके आह्वान और पूजन का निम्न विधान दिया गया है--

इन्द्रमग्निं यमं चैव नैर्ऋतं वरुणं तथा।
वायुं कुबेरमीशानं नागान् ब्रह्माणमेव च।।
आगत्य यूयमिह सानुचराः सचिह्नाः
पूजाविधौ मम सदैव पुरो भवन्तु।।
ॐ आदित्य-सोम-मङ्गल-बुध-गुरु-शुक्राः शैनेश्चरो राहुः।
केतुप्रमुखाः खेटा जिनपतिपुरतोऽवतिष्ठन्तु।।
इति तत्तद्दिक्षु वासक्षेपाद् दिक्पाल-ग्रहाह्वानम्।।४।।

दिग्बन्धन छोटिका प्रदर्शन

पूजा एवं मन्त्र साधना में विघ्न निवारण हेतु दिग्बन्धन किया जाता है। इसमें सभी दिशाओं में छोटिका प्रदर्शन अर्थात् चुटकी बजाई जाती है। परम्परागत विश्वास यह है चुटकी बजाने से देवता प्रसन्न होते हैं और परिणाम स्वरूप दिशा रक्षक देवता विभिन्न दिशाओं से होने वाले विघ्नों का नाश करते हैं। चुटकी अंगूठे से तर्जनी अंगुली को उठाकर बजाई जाती है। मन्त्रराजरहस्य में यह भी उल्लेख है कि ऋ ॠ लृ ॡ इन चारों स्वरों को छोड़कर छहों दिशाओं

में दो दो स्वरों के उद्घोष के साथ चुटकी बजाना चाहिए। उसका विधान निम्न है–

ततश्छोटिका विघ्नत्रासर्थम् (विघ्नत्रासर्थं ऋ ॠ ऌ लॄवर्जैर्द्वादशभिः स्वरैः षट्सु दिक्षु प्रतिदिशं द्वाभ्यां द्वाभ्यां स्वराभ्यां छोटिका। अङ्गुष्ठात् तर्जनीमुत्थाप्य छोटिकां दद्याद् इत्याम्नायः)।

मुद्रा

तान्त्रिक साधना में मुद्राओं का विशेष महत्त्व है। मुद्रा शब्द 'मुद्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है– प्रसन्नता। अतः जो देवताओं को प्रसन्न कर देती है अथवा जिसे देखकर देवता प्रसन्न होते हैं उसे तन्त्र शास्त्र में मुद्रा कहा जाता है। किन्तु तन्त्रशास्त्र में भी 'मुद्रा' के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। इनमें निम्न चार अर्थ मुख्य हैं– हठयोग के प्रसंग में मुद्रा का अर्थ है एक विशिष्ट प्रकार का आसन, जिसमें सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील रहता है। पूजा के प्रसंग में मुद्रा का अर्थ हाथ और अंगुलियों से बनायी गई वे विशेष आकृतियां हैं जिन्हें देखकर देवता प्रसन्न होते हैं। जैन और वैष्णव तन्त्रों में मुद्रा से यही अर्थ अभिप्रेत है। तंत्र की सात्विक परम्परा में घृत से संयुक्त भुने हुए अन्न को भी मुद्रा कहा गया है– यह मुद्रा का तीसरा अर्थ है। जबकि वाममार्गी तान्त्रिकों की दृष्टि में मुद्रा का अर्थ वह नारी है जिससे तान्त्रिक योगी अपने को सम्बन्धित करता है– यह मुद्रा का चतुर्थ अर्थ है। पञ्चमकारों में मुद्रा इसी अर्थ में गृहीत है। किन्तु जैनों को मुद्रा का यह अर्थ कभी भी मान्य नहीं रहा है, वे तो मुद्रा के उपरोक्त दूसरे अर्थ को ही मान्य करते हैं। अभिधान राजेन्द्रकोश में मुद्रा शब्द के अन्तर्गत कहा गया है कि हाथ आदि अंगों का विन्यास विशेष मुद्रा कहा जाता है, यथा– योगमुद्रा, जिनमुद्रा, मुक्तासुक्तिमुद्रा आदि। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में कहा गया है, कि देववन्दना, ध्यान या सामायिक करते समय मुख एवं शरीर के विभिन्न अंगों की जो आकृति बनाई जाती है उसे मुद्रा कहते हैं।

यद्यपि हिन्दू, बौद्ध एवं जैन तीनों ही परम्पराओं की तान्त्रिक साधना एवं पूजा में मुद्रा का महत्त्वपूर्व स्थान माना गया है, फिर भी मुद्राओं की संख्या, स्वरूप, नाम और परिभाषाओं को लेकर न केवल विभिन्न परम्पराओं में मतभेद पाया जाता है अपितु एक परम्परा में भी अनेक मान्यताएं हैं। हिन्दू परम्परा में शरदातिलक (२३/१०७–११४) में नौ मुद्राओं का उल्लेख है, तो वहीं ज्ञानार्णवतन्त्र (४/३१–४७) में तीस से अधिक मुद्राओं का निर्देश किया गया है। विष्णुसंहिता (७) के अनुसार तो मुद्राएँ अनगिनत हैं। देवीपुराण

११/१६/६८–१०२), ब्रह्मपुराण (६१/५५), नारदीयपुराण (२/५७/५५–५६) आदि अनेक हिन्दू पुराणों और तान्त्रिक ग्रन्थों में मुद्राओं के उल्लेख मिलते है। बौद्ध–परम्परा में भी मंजूश्रीकल्प (३८०) में १०८ मुद्राओं के नाम दिये गये हैं। जैन परम्परा में अभिधानराजेन्द्रकोश में योगमुद्रा, जिनमुद्रा और मुक्तासुक्तिमुद्रा का तथा जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में योगमुद्रा, जिनमुद्रा, वंदनामुद्रा और मुक्तासुक्तिमुद्रा–ऐसी चार मुद्राओं का उल्लेख मिलता है– १. दोनों भुजाओं को लटकाकर और दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर कायोत्सर्ग में खड़े रहने का नाम जिनमुद्रा है। २. पल्यंकासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनों में से किसी भी आसन में बैठकर, नाभि के नीचे, ऊपर की तरफ हथेली करके दोनों हाथों को ऊपर नीचे रखने से योगमुद्रा होती है। ३. खड़े होकर दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखने और दोनों हाथों को मुकुलित कमल के आकार में बनाने पर वन्दनामुद्रा होती है। ४. वन्दबामुद्रा के समान ही खड़े होकर, दोनों कुहनियों को पेट के ऊपर रखकर, दोनों हाथों की अंगुलियों को आकार विशेष, के द्वारा आपस में संलग्न करके मुकुलित बनाने से मुक्तासुक्तिमुद्रा होती है।

प्रियबलशाह ने जर्नल आफ इन्स्टीट्यूट आव बड़ौदा के खण्ड–६, संख्या–१ , पृष्ठ १३५ में मुद्राओं से सम्बन्धित दो जैन ग्रन्थों का उल्लेख किया है– १. मुद्राविचार और २. मुद्रा विधि । उनका कथन है कि मुद्रा विचार में ७३ मुद्राओं का और मुद्राविधि में ११४ मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। अभी ये दोनों ग्रन्थ मुझे देखने को नहीं मिले हैं। उपलब्ध एवं प्रकाशित जैन ग्रन्थों में लघुविद्यानुवाद में ४५ मुद्राओं को परिभाषित किया गया है और कुछ मुद्राओं के चित्र भी दिये गये हैं। भैरवपद्मावतीकल्प के अन्त में भी कुछ मुद्राओं के चित्र है, किन्तु ये मुद्राएं वही है जो लघुविद्यानुवाद में उल्लिखित हैं। ये मुद्राएं निम्न हैं–

१. बाएँ हाथ के ऊपर दहिना हाथ रखकर कनिष्ठिका और अंगूठों से मणिबन्ध को लपेटकर अवशिष्ट अंगुलियों को फैलाने से 'वज्रमुद्रा होती है।

२. (हाथों को) पद्माकार करके अंगूठे को मध्य में कर्णिकार में रखने से 'पद्ममुद्रा' होती है।

३. वामहस्ततल में दक्षिणहस्तमूल को निविष्ट कर अंगुलियों को अलग–अलग फैलाने में 'चक्रमुद्रा' होती है।

४. ऊपर उठाये हुए हस्तद्वय के द्वारा वेणीबंध करके अंगूठों को कनिष्ठिका

एवं तर्जनी के मध्य में एकत्र करके अनामिका में मिलाने से 'परमेष्ठीमुद्रा' होती है।

५. अथवा अंगुलियों को आधा मोड़कर मध्यमा को मध्य में करने से दूसरी परमेष्ठीमुद्रा होती है।

६. हथेलियों को ऊपर करके अंगुलियों को कुछ सिकोड़कर रखने से 'अञ्जलिमुद्रा' अथवा 'पल्लवमुद्रा' होती है।

७. हाथ की अंगुलियों को परस्पराभिमुख करके गूँथकर तर्जनियों से अनामिका को पकड़कर, मध्य में फैलाकर उनके बीच में दोनों अंगूठों को डालने से 'सौभाग्यमुद्रा' होती है।

८. समान हाथों को समतल करके कुछ गहरा कर ललाट देश में लगाने से 'मुक्तासुक्तिमुद्रा' होती है।

६. हाथों की परस्पर विमुख अंगुलियों को मिलाकर दूर से ही अपनी ओर परिवर्तित करने से 'मुद्गर मुद्रा' होती है।

१०. बाएँ हाथ की मिली हुई अंगुलियों को हृदय के आगे रखकर दायीं मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को ऊपर करने से 'तर्जनी मुद्रा' होती है।

११. तीन अंगुलियों को सीधा करके तर्जनी और अंगूठे को छिपाकर हृदयाग्र में रखने से 'प्रवचन मुद्रा' होती है।

१२. एक-दूसरे से गुथी हुई अंगुलियों में कनिष्ठिका को अनामिका एवं मध्यमा को तर्जनी के साथ जोड़ने से गोस्तनाकार 'धेनुमुद्रा' होती है।

१३. हस्ततल के ऊपर हस्ततल रखने से 'आसन मुद्रा' होती है।

१४. दक्षिण अंगुष्ठ द्वारा तर्जनीमध्य को लपेटकर पुनः मध्यमा को छोड़ने से 'नाराचमुद्रा' होती है।

१५. हस्तस्थापन करने से 'जनमुद्रा' होती है।

१६. बाएँ हाथ के पीठ पर दाहिना हस्ततल रखने एवं दोनों अंगूठों को चलाने से 'मीन मुद्रा' होती है।

१७. दाहिने हाथ की तर्जनी को फैलाकर मध्यमा को थोड़ा टेढ़ा करने से 'अंकुश मुद्रा' होती है।

१८. दोनों हाथों की बँधी हुई मुट्ठियों को मिलाकर अंगुष्ठद्वय को सम्मुख करने से 'हृदय मुद्रा' होती है।

१९. उसी प्रकार दोनों मुट्ठियों को मिलाकर अंगूठे के आधे भाग को सिर पर रखने से 'शिरोमुद्रा' होती है।

२०. मुट्ठी बांधकर कनिष्ठिका और अंगूठे को फैलाने से शिखा मुद्रा होती है।

२१. पूर्ववत मुट्ठी बांधकर तर्जनियों को फैलाने से 'कवच मुद्रा' होती है।

२२. कनिष्ठिका को अंगूठे से दबाकर शेष अंगुलियों को फैलाने से 'क्षरमुद्रा' होती है।

२३. दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर तर्जनी और मध्यमा को फैलाने से 'अस्त्रमुद्रा' होती है।

२४. फैले हुये और मुख की तरफ आये हुए दोनों हाथों से पादांगुलि के तल से लेकर मस्तक तक स्पर्श करना 'महामुद्रा' है।

२५. दोनों हाथों से अंजलि बांधकर नाभिकामूल में अंगूठे के पर्व को लगाने से 'भावाहिनी मुद्रा' होती है।

२६. अधोमुखी होने पर यही 'स्थापनी मुद्रा' कही जाती है।

२७. बंधी हुई मुट्ठियों में ऊपर उठे हुए अंगूठों वाले दोनों हाथों से 'सन्निधानी मुद्रा' होती है।

२८. एक अंगूठा ऊपर उठाने से 'निष्ठुरा मुद्रा' होती है। ये तीनों ही अवगाहनादि मुद्राएं हैं।

२९. एक दूसरे से गुथी हुई अंगुलियों में कनिष्ठिका और अनामिका में मध्यमा और तर्जनी के फैलाने से और तर्जनी द्वारा वामहस्ततल चालन से त्रासनी (डरावनी) मुद्रा 'पूज्य मुद्रा' होती है।

३०. अंगूठे और तर्जनी को मिलाकर शेष अंगुलियों को फैलाने से 'पाशमुद्रा' होती है।

३१. अपने हाथ की ऊपरी अंगुली को बाएं हाथ के मूल में तथा उसी अंगूठे को तिरछाकर तर्जनी चलाने से 'ध्वजमुद्रा' होती है।

३२. दाहिने हाथ को सीधा तानकर अंगुलियों को नीचे की ओर फैलाने से वर

मुद्रा होती है।

३३. बाएं हाथ से मुट्ठी बांधकर कनिष्ठिका को फैलाकर शेष अंगुलियों को अंगूठे से दबाने से 'शंखमुद्रा' होती है।

३४. एक दूसरे की ओर किए गये हाथों से वेणीबंध करके मध्यमा अंगुलियों को फैलाकर एवं मिलाकर शेष अंगुलियों से मुट्ठी बांधने पर 'शक्तिमुद्रा' होती है।

३५. दोनों हाथ की तर्जनी और अंगूठे से घुमाव (कड़ी) बनाकर परस्पर एक दूसरे के अन्दर प्रवेश कराने से 'श्रृखंला मुद्रा' होती है।

३६. सिर के ऊपर दोनो हाथों से शिखराकार कली बनाई जाती है उसी को 'मन्दरमेरु मुद्रा' (पंचमेरु मुद्रा) कहते हैं।

३७. बाएं हाथ की मुट्ठी के ऊपर दाहिने हाथ की मुट्ठी रखकर शरीर के साथ कुछ ऊपर उठाने से 'गदामुद्रा' होती है।

३८. बाएं हाथ की अंगुलियों को नीचे की ओर घंटाकार फैलाकर दाहिने हाथ से मुट्ठी बांधकर, तर्जनी को ऊपर करके बाएं हाथ के नीचे लगाकर घंटे (को बजाने के) के समान चलाने से 'घण्टा मुद्रा' होती है।

३६. ऊपर उठे हुए पृष्ठ भाग वाले हाथों को जोड़कर दोनों कनिष्ठिकाओं को बाहर करके जोड़ने से 'परशुमुद्रा' होती हैं।

४१. हाथों को उठाकर उसकी अंगुलियों को कमल के समान फैलाने से 'वृक्षमुद्रा' होती है।

४२. दाहिने हाथ की मिली हुई अंगुलियों को ऊपर उठाकर सर्पफण के समान कुछ मोड़ने से सर्पमुद्रा होती है।

४३. दाहिने हाथ से मुट्ठी बांधकर तर्जनी और मध्यमा को फैलाने से 'खड्गमुद्रा' होती है।

४४. हाथों में संपुट करके कमल के समान अंगुलियों को पद्म (कमल) के समान फैलाकर दोनों मध्यमा अंगुलियों को परस्पर मिलाकर उनके मूल में दोनों अंगूठे लागने से 'ज्वलन मुद्रा' होती है।

४५. मुट्ठी बांधे हुए दाहिने हाथ के मध्यमा, अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुलियों को उनके मूल के क्रम से फैलाने से 'दण्डमुद्रा' होती है।

मुद्राओं के संदर्भ में एक विस्तृत विवरण विधिमार्गप्रपा के मुद्राविधि नाम ३७वें विधि में मिलता है। इसमें आह्वान संबंधी नौ मुद्राओं, पूजा संबंधी चार मुद्राओं षोडश विद्या संबंधी सोलह मुद्राओं, दिक्पाल संबंधी चार मुद्राओं, देवदर्शन संबंधी तीन मुद्राओं, प्रतिष्ठा विधि संबंधी अट्ठाइस मुद्राओं के उल्लेख उपलब्ध हैं। विधिमार्गप्रपा में जिन मुद्राओं का उल्लेख है उनके नाम इस प्रकार है–

१. नाराच मुद्रा, २. कुम्भ मुद्रा, ३. हृदय मुद्रा, ४. शिरो मुद्रा, ५. शिखर मुद्रा, ६. कवच मुद्रा, ७. क्षुर मुद्रा, ८. अस्त्र मुद्रा, ६. महामुद्रा, १०. धेनुमुद्रा, ११. आवाहनीय मुद्रा, १२. स्थापनी मुद्रा,१३. सन्निधानी मुद्रा, १४. निष्ठुरा मुद्रा या विसर्जन मुद्रा, १५. पाणियुग आवाहनीय मुद्रा, १६. पाणियुग स्थापन मुद्रा, १७. निरोध मुद्रा, १८. अवगुण्ठन मुद्रा, १६. गोवृष मुद्रा, २०.त्रासनी मुद्रा, २१. पूजा मुद्रा, २२. पाश मुद्रा, २३. अंकुश मुद्रा, २४. ध्वज मुद्रा, २५. वरद मुद्रा, २६. शंख मुद्रा, २७. शक्ति मुद्रा, २८. श्रृंखला मुद्रा, २६. वज्र मुद्रा, ३०. चक्र मुद्रा, ३१. पद्म मुद्रा, ३२. गदा मुद्रा, ३३. घण्टा मुद्रा, ३४. कमण्डल मुद्रा, ३५. परशु मुद्रा (द्वय), ३६. वृक्ष मुद्रा, ३७. सर्प मुद्रा, ३८. खड्गमुद्रा, ३६. ज्वलन मुद्रा, ४०. श्रीमणि मुद्रा, ४१. दण्ड मुद्रा, ४२. पाश मुद्रा, ४३. शूल मुद्रा, ४४. संहार या विसर्जन मुद्रा, ४५. परमेष्ठि मुद्रा, ४६. पार्श्व मुद्रा, ४७. अंजलि मुद्रा, ४८. कपाट मुद्रा, ४६.जिन मुद्रा, ५०. सौभाग्य मुद्रा, ५१. सबीज सौभाग्य मुद्रा, ५२. योनि मुद्रा, ५३. गरुड़ मुद्रा, ५४. मुक्तासुक्ति मुद्रा, ५५. प्राणिपात मुद्रा, ५६. त्रिशिखा मुद्रा, ५७. श्रृंगार (भृंग) मुद्रा, ५८. योगिनी मुद्रा, ५६. क्षेत्रपाल मुद्रा, ६०. डमरुक मुद्रा, ६१. अभय मुद्रा, ६१. वरद मुद्रा, ६३. अक्षसूत्र मुद्रा ६४. बिम्ब मुद्रा, ६५. प्रवचन मुद्रा, ६६. मंगल मुद्रा, ६७. आसन मुद्रा, ६८. अंग मुद्रा, ६६. योग मुद्रा, ७०. पर्वत मुद्रा, ७१. विस्मय मुद्रा, ७१. नाद मुद्रा और ७३. बिन्दु मुद्रा।

मुद्राओं के संदर्भ में यह एक विस्तृत सूची है। जिनप्रभसूरि ने न केवल मुद्राओं के नामों का निर्देश किया है। अपितु यह भी बताया है कि किस प्रसंग में किस मुद्रा का उपयोग किया जाता है और उस मुद्रा की रचना किस प्रकार होती है। विस्तारभय से यहां हम ये मुद्राएं किस प्रकार बनायी जाती हैं। इसकी चर्चा हम नहीं कर रहे हैं।

मण्डल

तांत्रिक साधना में यंत्रों के साथ–साथ मण्डलों का भी उल्लेख पाया जाता है। मुद्रा और मंडल तांत्रिक साधना में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जहां मुद्रा इष्ट देवता को प्रसन्न करने हेतु हाथ और अंगुलियों की सहायता

से बनाई गयी विशिष्ट शारीरिक आकृतियाँ होती हैं वहीं मण्डल ध्यान हेतु चेतना में कल्पित विभिन्न आकृतियां होते हैं। वैसे यंत्र और मण्डल में बहुत अधिक अंतर नहीं है। किन्तु जहां यंत्र पूजा अथवा धारण के काम में आते हैं वहां मण्डल ध्यान के विषय होते हैं। मण्डलों की बाह्य आकृतियां बनाकर फिर उन पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम की चर्चा के अंतर्गत वायु की गतियों, मण्डल एवं उनके प्रकारों का निम्न निर्देश किया है।

नाभि में से पवन का निकलना 'चार' कहलाता है, हृदय के मध्य में से जाना 'गति' है और ब्रह्मरन्ध्र में रहना वायु का 'स्थान' समझना चाहिए।

वायु के चार, गमन और स्थान को अभ्यास करके जान लेने से काल–मरण, आयु–जीवन और शुभाशुभ फल के उदय को जाना जा सकता है।

तत्पश्चात् योगी पवन के साथ मन को धीरे–धीरे खींच कर उसे हृदय–कमल के अंदर प्रविष्ट करके उसका निरोध करते हैं।

हृदय–कमल में मन को रोकने से अविद्या–कुवासना या मिथ्यात्व विलीन हो जाता है, इन्द्रिय–विषयों की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, विकल्पों का विनाश हो जाता है और अंतर में ज्ञान प्रकट हो जाता है।

हृदय–कमल में मन को स्थिर करने से यह जाना जा सकता है कि किस मंडल में वायु की गति है, उसका किस तत्व में प्रवेश होता है, वह कहां जाकर विश्राम पाती है और इस समय कौन–सी नाड़ी चल रही है। आगे मण्डलों का निर्देश करते हुए वे लिखते हैं–

मण्डलानि च चत्वारि नासिका–विवरे विदुः।
भौम–वारुण–वायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम्।।४२।।

नासिका के विवर में चार मंडल होते हैं–१.भौम–पार्थिव मंडल, २. वारुण मंडल, ३. वायव्य मंडल और ४. आग्नेय मंडल।

१. भौम–मंडल

पृथिवी–बीज–सम्पूर्ण,वज्र–लाञ्छन–संयुतम्।
चतुरस्रं द्रुतस्वर्णप्रभं स्याद् भौम–मण्डलम्।।४३।।

पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिन्ह् से युक्त, चौरस और तपाये हुए साने के वर्ण–रंगवाला, 'पर्थिव मंडल'* है।

२. वारुण–मण्डल

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं वारुणाक्षरलाञ्छितम्।

चन्द्राभममृतस्यन्दसान्द्रं वारुण–मण्डलम्।।४४।।

वारुण–मण्डल–अष्टमी के चन्द्र के समान आकार वाला, वारुण अक्षर 'व' के चिन्ह् से युक्त, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त है।

३. वायव्य–मण्डल

स्निग्धाञ्जनधनच्छायं सुवृत्तं बिन्दुसंकुलम्।

दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं चञ्चलं वायु–मण्डलम्।।४५।।

वायव्य–मण्डल– स्निग्ध अंजन और मेघ के समान श्याम कान्ति वाला, गोलाकार, मध्य में बिन्दू के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम होने वाला, चारों ओर पवन से वेष्टित–पवन–बीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ और चंचल है।

४. आग्नेय मण्डल

ऊर्ध्वज्वालाञ्चितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम्।

स्फुलिंगपगि तद्बीजं ज्ञेयमाग्नेय–मण्डलम्।।४६।।

ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओं से युक्त, भय उत्पन्न करने वाला, त्रिकोण, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि के स्फुलिंग के समान वर्ण वाला और अग्नि–बीज रेफ ( ) से युक्त आग्नेय–मण्डल कहा गया है।

अभ्यासेन स्वसंवेद्यं स्यान्मण्डल–चतुष्टयम्।

क्रमेण संचरन्नत्र वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विधः।।४७।।

पूर्वोक्त चारों मंडल स्वयं जाने जा सकते हैं, परन्तु उन्हें जानने के

---

* टिप्पण–पार्थिव–बीज 'अ' अक्षर है। कोई–कोर्ठ आचार्य 'ल' को पार्थिव–बीज मानते है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'क्ष' को पार्थिव–बीज माना है।

लिए अभ्यास करना चाहिए। अचानक उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इन चार मंडलों में संचार करने वाले वायु को भी चार प्रकार का जानना चाहिए।

१. पुरन्दर–वायु

पुरन्दर वायु–पृथ्वी तत्व का वर्ण पीला है, स्पर्श कुछ–कुछ उष्ण है और वह स्वच्छ होता है। वह नासिका के छिद्र को पूरा कर धीरे–धीरे आठ अंगुल बाहर तक बहता है।

२. वरुण–वायु

जिसका श्वेत वर्ण है, शीतल स्पर्श है और जो नीचे की ओर बारह अंगुल तक शीघ्रता से बहने वाला है, उसे 'वरुण वायु' जल–तत्व कहते हैं।

३. पवन–वायु

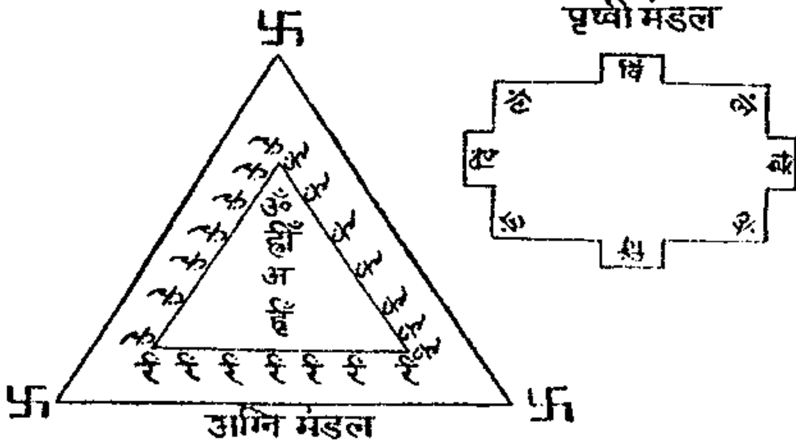
पवन–वायु तत्व कहीं उष्ण और कहीं शीत होता है। उसका वर्ण काला है। वह निरन्तर छः अंगुल प्रमाण बहता रहता है।

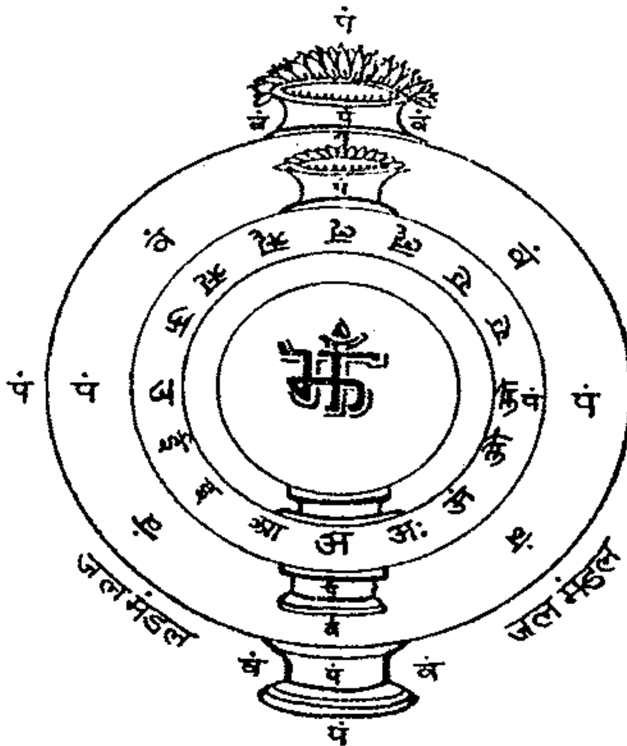
४. दहन–वायु

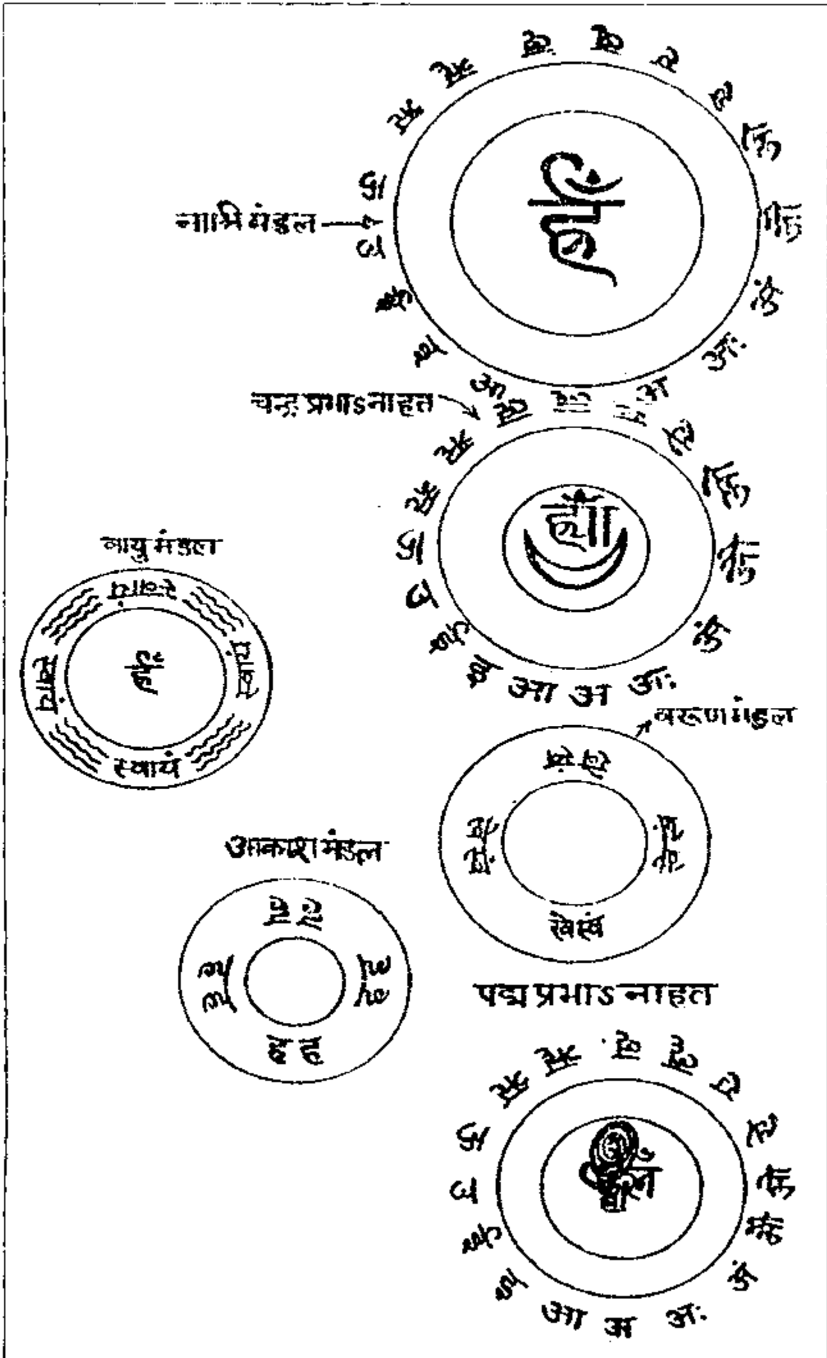
दहन वायु–अग्नि तत्व उदीयमान सूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति उष्ण स्पर्श वाला है और बवंडर की तरह चार अंगुल ऊँचा बहता है।

जब पुरन्दर–वायु बहता हो तब स्तंभन आदि कार्य करने चाहिए। वरुण–वायु के बहते समय प्रशस्त कार्य, पवन–वायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य और दहन–वायु के बहते समय वशीकरण आदि कार्य करने चाहिए। (हेमचन्द, योगशास्त्र ५/३८–५२)। लघुविद्यानुवाद में अचार्य कुन्थुसागर जी ने निम्न मंडलों के चित्र दिये हैं। ये मंडल वे ही हैं जो अन्य तांत्रिक साधना में भी पाये जाते हैं। ऐसा लगता है कि मंडलों की यह अवधारणा जैनों ने अन्य तांत्रिक साधना पद्धति से ही ग्रहण की है क्योंकि मंडलों में ऐसा कुछ भी नहीं हैं जिससे उनमें जैन परम्परा की कोई विशिष्टता परिलक्षित होती हो। पाठकों की जानकारी के लिये लघुविद्यानुवाद के आधार पर वे मंडल नीचे दिये जा रहे हैं–

मंत्र जाप के लिये मंडलों का ध्यान
मंडलों का नक्शा






नाभि मंडल
चन्द्र प्रभाऽनाहत
वायु मंडल
वरुण मंडल
आकाश मंडल
पद्म प्रभाऽनाहत

भैरवपद्मावतीकल्प में मल्लिषेण षट्कर्मों के सन्दर्भ में षट्मुद्राओं का उल्लेख हुआ है। वे लिखते हैं कि अकुंश मुद्रा आकर्षण के लिए है। सरोज मुद्रा वशीकरण के लिए है। बोध मुद्रा या ज्ञान मुद्रा शांति कर्म के लिए है। प्रवाल मुद्रा विद्वेषणकर्म के लिए है। शंख मुद्रा स्तम्भन करने के लिए है। वज्र मुद्रा मारण या प्रतिषेध के लिए है। प्रेक्षाध्यायः यौगिक क्रिया (पृष्ठ ५८) नामक पुस्तिका में मुनि किशन लाल जी ने नमस्कार मंत्र की निम्न पांच मुद्राओं का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं–

नमस्कार मुद्राएं पाँच हैं–

१. अर्हं मुद्रा।

२. सिद्ध मुद्रा।

३. आचार्य मुद्रा।

४. उपाध्याय मुद्रा।

५. मुनि मुद्रा।

अर्हं मुद्रा की निष्पत्ति है वीतरागता। सिद्ध मुद्रा की निष्पत्ति है पूर्ण स्वतत्रता। आचार्य मुद्रा की निष्पत्ति है श्रद्धा और समर्पण। उपाध्याय मुद्रा की निष्पत्ति है ज्ञान और मुनि मुद्रा की निष्पत्ति है समता और साधना।

मुद्राओं की विधि

१. अर्हं मुद्रा– आसन – सुखासन, पद्मासन, वज्रासन और समपादासन में से किसी एक का चुनाव करें। (आसनों के लिए प्रेक्षाध्याय आसन–प्राणायम पुस्तक देखें।)

विधि

सुखासन के लिए बाएं पैर को दाई साथल के नीचे रखें। दाएं पैर के पंजे को बाएं पैर के नीचे रखें। रीढ़ और गर्दन सीधी रखें। सुखासन में स्थिरता पूर्वक ठहरें। सीने के मध्य दोनों हाथ मिलाकर नमस्कार की स्थिति में आएं। 'ॐ ह्रीं णमो अरहंताण' का उच्चारण करें। श्वास को भरते हुए हाथों को ऊपर ले जाएं। उसी तरह बाहें ऊपर उठेंगी, बाहें कानों का स्पर्श करेंगी। हाथ ऊपर सीधें रहेंगे। श्वास छोड़ते हुए प्रणाम की मुद्रा में हाथों को मिलाए रखें। फिर

धीरे–धीरे सीने के मध्य हाथों को आनन्द केन्द्र पर ले आएं। यह "अर्हं" मुद्रा है।

निष्पत्ति

वीतरागता। अर्हं मुद्रा से अर्हता उत्पन्न होती है। व्यक्ति में अनेक अर्हताएं हैं। वे सुप्त हैं। इसलिए व्यक्ति मूर्च्छा में डूबा रहता है। अर्ह मुद्रा से मूर्च्छा टूटती है। व्यक्ति का दृष्टिकोण प्रियता और अप्रियता से मुक्त होता है। यहीं से अनंत अर्हताओं का उदय होता है। शारीरिक दृष्टि से अंगुलियां, हथेलियां, मणिबंध, कोहनी और स्कंध स्वस्थ और शक्तिशाली बनते हैं। पेट, सीना, पसलिया, और मेरुदंड पर खिंचाव पड़ने से ये अंग स्वस्थ और सक्रिय होते है, जड़ता टूटती है। आलस्य दूर होता है। एड्रीनल और थाइमस ग्रंथियों के स्राव बदलने लगते हैं। शरीर में स्थित विजातीय द्रव्य विसर्जन तंत्र की ओर धकेल दिया जाता है।

२. सिद्ध मुद्रा

विधिः– सुखासन में स्थिरता पूर्वक ठहरें। सीने के मध्य दोनों हाथों को मिलाकर नमस्कार की स्थिति में आएं। 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं' का उच्चारण करें। श्वास को भरते हुए हाथों को ऊपर ले जाएं। दोनों हथेलियों को खोल दें। बाहें कानों को स्पर्श करेंगी। हाथ सीधे रहेंगे। श्वास छोड़ते हुए हथेलियों को बंद करें और धीरे–धीरे सीने के मध्य आनन्द केन्द्र पर ले आएं। यह 'सिद्ध' मुद्रा है।

निष्पत्ति सिद्ध पूर्ण स्वतंत्रता के प्रतीक है। स्वतंत्रता व्यक्ति की मौलिक इच्छा पूर्ण स्वतंत्रता है। वह बंधन में रहना नहीं चाहता। दोनों हथेलियों को खोलकर व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति करता है। शारीरिक दृष्टि से वीतराग मुद्रा के लाभ इसमें भी होते हैं। साथ–साथ हथेलियों के खुलने से हथेलियों की मांसपेशियों पर विशेष दबाव पड़ता है। उससे मांसपेशियां पुष्ट और लचीली होती हैं। एड्रीनल और थाइमस ग्रंथियों के स्थान संतुलित होते हैं। अप्रमाद केन्द्रों पर विशेष प्रभाव पड़ने से जागरूकता बढ़ती है।

३. आचार्य मुद्रा

विधिः– सुखासन में स्थिरतापूर्वक ठहरें। सीने के मध्य आनन्द केन्द्र पर दोनों हाथों को मिलाकर नमस्कार की स्थिति में आएं। 'ॐ ह्रीं णमो आयरियाणं' का उच्चारण करें। श्वास भरकर दोनों हथेलियों को खोलते हुए

धीरे–धीरे कंधों के पास लाएं, कंधों के पास अंगुठों को लगाकर हथेलियों को खुला एवं सीधा रहने दें। श्वास छोड़ते हुए वापस धीरे–धीरे सीने के मध्य आनन्द केन्द्र पर हाथों को नमस्कार की स्थिति में लावें। यह 'आचार्य' मुद्रा है।

निष्पत्ति (शुद्धाचार)

आचार्य अर्हत के प्रतिनिधि होते हैं। आचरण की शुद्धता के लिए आचार्य का जीवन दिशा–सूचक है। आचार्य मुद्रा से शुद्धाचार की ओर व्यक्ति उन्मुख होता है। आनंद केन्द्र पर हाथ जोड़कर वह आचार्य का विनय करता है। दोनों हाथों को कंधों के पास ले जाकर खुला रखकर वह आचार्य के मार्ग दर्शन के प्रति खुले दिल से समर्पित होता है। शारीरिक दृष्टि से आचार्य मुद्रा से सीना और फेफड़े पुष्ट होते हैं। कंधे और हाथों की मांसपेशियां भी सक्रिय होती हैं। थाइमस ग्रंथि के स्राव संतुलित होते हैं।

४. उपाध्याय मुद्रा

विधिः– सुखासन में ठहरें। सीने के मध्य आनंद केन्द्र पर दोनों हाथों को मिलाकर नमस्कार की मुद्रा में आएं। ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाण' का उच्चारण करें। श्वास भरते हुए दोनों हथेलियों को धीरे–धीरे आकाश की ओर ले जाएं, बाहों को कानों से स्पर्श करें, हथेलियों को आकाश की ओर खोल दें। दोनों अंगुठों का अगला भाग मिला रहें। सिर को गर्दन के पीछे की तरफ ले जाकर अनिमेष दृष्टि से आकाश को देखें। श्वास छोड़ते हुए पुनः हाथों को नमस्कार की मुद्रा में आनन्द केन्द्र पर ले आएं। गर्दन को सीधा करें, पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

निष्पत्ति (सम्यक–ज्ञान–दर्शन)

सम्यक ज्ञान और श्रद्धा मुक्ति का आधार है। ज्ञान और दृष्टि की आराधना उपाध्याय का जीवन है। ज्ञान और दृष्टि की आराधना करने वालों के लिए उपाध्याय का जीवन एक आदर्श है। उपाध्याय मुद्रा से उपाध्याय के प्रति विनय तथा ज्ञान दृष्टि से विशालता होती है। शारीरिक दृष्टि से थाइराइड और पेराथाइराइड, पिनियल और पिटयूईटरी ग्रंथियों के स्राव संतुलित होते हैं जिससे ज्ञान दर्शन का सीधा संबंध है।

५. मुनि मुद्रा

विधिः– सुखासन में ठहरें। सीने के मध्य आनन्द केन्द्र पर दोनों हाथों

को मिलाकर नमस्कार की मुद्रा में आएं। 'ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूण' का उच्चारण करें। श्वास भरते हुए हाथों को जोड़े। आकाश की ओर ले जाएं, श्वास छोड़ते हुए हाथों को अंजलि मुद्रा में लाकर अपनी श्रद्धा और भक्ति का इजहार करते हुए नीचे लाएं और नमस्कार मुद्रा बनाएं।

मुनि आत्मधर्म के प्रति समर्पित होने से श्रद्धा और समर्पण के प्रतीक है। मुनि मुद्रा से विभाव से स्वभाव के प्रति श्रद्धा और समर्पण की भावना जागृत होती है। अहंकार का विसर्जन होता है। शारीरिक दृष्टि से थाइमस ग्रंथि के स्राव संतुलित होते हैं। करुणा और मैत्री का विकास होता है जिससे ईर्ष्या, द्वेष जनित अनेक रोगों से बचते है।

संकल्प सूत्र

संकल्प प्रयोग के समय मन, वाणी और शरीर को स्थिर करें। विशुद्ध भावों से चित्त को भावित करें। पद्मासन या सुखासन में संकल्प सूत्र को दोहरायें। दोनों हाथ जोड़कर आनंद केन्द्र पर स्थापित करें।

मैं चैतन्यमय हूँ

मैं आनंदमय हूँ

मैं शक्तिमय हूँ

मेरे भीरत अनंत चैतन्य का, अनंत आनंद का, अनंत शक्ति का सागर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करना मेरे जीवन का लक्ष्य है।

ॐ शान्तिः......................शान्तिः..........................शान्तिः......................।

ॐ अर्हम्

अर्हम् नमः

आसन

मल्लिषेण ने भैरवपद्मावतीकल्प में मुद्राओं के साथ--साथ षट्कर्मों में आसनों का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार दण्डासन आकर्षण करने हेतु, स्वस्तिकासन वशीकरण हेतु, पंकजासन, शांति एवं पुष्टि प्रदान करने हेतु, कुक्कुटासन, विद्वेषण या उच्चारण हेतु वज्रासन, स्तम्भन हेतु भद्रपीठासन निषेध

या मारण करने हेतु माना गया है।

ज्ञानार्णव (२८/१०) में ध्यान साधना की दृष्टि से पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन (पद्मासन), और कायोत्सर्ग आसन (खड्गासन) के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

अनगारधर्मामृत (८/८३) तथा बोधपाहुण (५१) की श्रुतसागर की टीका में इन आसनों के उल्लेख एवं लक्षण भी उपलब्ध होते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ ने भी प्रेक्षाध्यान साधना के लिए सुखासन, वज्रासन, अर्द्धपद्मासन और पद्मासन इन दो आसनों का उल्लेख किया है। (प्रेक्षाध्यानः प्रयोग पद्धति) भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में यह उल्लेख भी मिलता है कि उन्हें गोदुहिकासन में कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। फिर भी यह ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में मुख्य रूप से पद्मासन और खड्गासन ये दो आसन ही विशेष रूप से मान्य रहे है, क्योंकि अभी तक उपलब्ध जितनी भी जिन प्रतिमायें हैं वे इन दो आसनों में ही मिलती हैं।

पञ्चोपचार

तांत्रिक साधना में इष्ट देवता के पूजन में निम्न पञ्चोपचार माने गये हैं–१. आह्वान, २. स्थापन, ३. सन्निधिकरण, ४. सन्निरोध अथवा पूजन और ५. विसर्जन। जैन परम्परा के पूजा विधानों में भी इन्ही पञ्चोपचारों की चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि ये पञ्च उपचार जैन दार्शनिक मान्यताओं के साथ कोई संगति नहीं रखी हैं, क्योंकि इष्ट देवता के रूप में तीर्थंकर आदि का आह्वान, स्थापन, और विसर्जन सम्भव नहीं, इसलिए कि मुक्ति को प्राप्त तीर्थंकर न तो आह्वान करने पर आते है और न विसर्जन करने पर जाते हैं। वस्तुतः पञ्चोपचार की यह अवधारणा हिन्दू तांत्रिक परम्परा से यथावत ग्रहण कर ली गई है। जैन धर्म से इसकी संगति बिठाने के लिए यह माना जाता है कि ये पञ्चोपचार तीर्थंकर के पञ्च कल्याणक के प्रतीक हैं। आह्वान, चयवन कल्याणक का स्थापन, जन्म कल्याणक का सन्निधिकरण, दीक्षा कल्याणक का पूजन, कैवल्यज्ञान के कल्याणक का तथा विसर्जन निर्वाण कल्याणक का प्रतीक है। इस प्रकार इन पञ्च–उपचारों को हिन्दू तांत्रिक परम्परा से गृहीत करके ही जैन आचार्यों ने इन्हें अपनी परम्परा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक अन्य देवी–देवताओं के संदर्भ में इन पञ्चोपचारों का प्रश्न है जैन परम्परा को सैद्धान्तिक रूप से कोई विरोध नहीं, क्योंकि उनके अनुसार भी देवता स्मरण किये जाने पर उपस्थित होते हैं। इन पञ्चोपचारों की विस्तृत चर्चा हमने इसी

ग्रन्थ के पूजाविधान नामक तीसरे अध्याय में की है। अतः यहां पुनः इनकी विस्तृत चर्चा में जाने का कोई औचित्य नहीं है। इसी क्रम में हमने हिन्दू परम्परा में प्रचलित पञ्चोपचार और षोड्शोपचार पूजा के स्थान पर जैन परम्परा में प्रचलित अष्ट प्रकारी और सत्तरह भेदी पूजा का भी उल्लेख किया है। इच्छुक पाठक उन्हें वहां देख सकते हैं। इन पञ्चोपचार संबंधी मंत्रों में इष्ट देवता के नाम को छोड़कर सामान्यतया हिन्दू तांत्रिक परम्परा और जैन तांत्रिक परम्परा में कोई अंतर नहीं देखा जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से निष्कर्ष रूप में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस समस्त विधि-विधान को जैन आचार्यों ने हिन्दू तांत्रिक परम्परा से गृहीत करके और उसको जैन-परम्परा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। पूजा विधान के अन्त में स्तुति और क्षमायाचना के विधि-विधान भी दोनों परम्पराओं में समान ही देखे जाते हैं। क्षमायाचना का निम्न मंत्र हिन्दू और जैन परम्पराओं में समान ही है।

ॐ आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं च यत् कृतम्।
तत् सर्वं कृपया देव! क्षमस्व परमेश्वर!।।

दीक्षा विधान

दीक्षा और अभिषेक तंत्र साधना का प्रवेश द्वार है। दीक्षा का तात्पर्य गुरु के द्वारा शिष्य की योग्यता के आधार पर उसे पूर्वापर करणीय कृत्यों का उपदेश देकर साधना हेतु विशिष्ट मंत्र प्रदान करना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जिससे ज्ञान की प्राप्ति हो, पापों का संचय क्षीण हो तथा ज्ञान एवं पुण्य लोकों की प्राप्ति हो, उसे दीक्षा कहते हैं। जैन साधना में भी दीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है लेकिन जैन परम्परा में साधक की योग्यता के आधार पर अनेक प्रकार के दीक्षा विधान प्रचलित हैं। सर्वप्रथम व्यक्ति को जैनधर्म में प्रवेश संबंधी दीक्षा दी जाती है। इसे पारम्परिक शब्दावली में सम्यक्त्वग्रहण कहते हैं। इसमें साधक देव, गुरु और धर्म के प्रति अपनी आस्था को प्रकट करता है। वह यह निष्ठा व्यक्त करता है कि आज से अरिहंत (वीतराग परमात्मा) ही मेरे देव अर्थात् आदर्श हैं। निर्ग्रन्थ मुनि ही मेरे गुरु हैं और जिन द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का परिपालन ही मेरा साधना धर्म या मार्ग है। वह गुरु के समक्ष इस प्रतिज्ञा को ग्रहण करते समय उसे मद्य, मांस, द्यूतक्रीड़ा, शिकार, चोरी, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन, ऐसे सप्त दुर्व्यसनों का आजीवन त्याग करना होता है। इसमें गुरु की भूमिका यह है कि वे उसे इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलवाते हैं। दूसरी दीक्षा तब होती है जब साधक गृहस्थजीवन के व्रतों को ग्रहण करता है। इस अवसर पर वह पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का

पालन करने की प्रतिज्ञा लेता है। इन प्रतिज्ञाओं में वह सर्वप्रथम त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा करने का त्याग करता है। इसी क्रम में वह पाँच प्रकार के असत्यवचन, चोरी, व्यवसाय में अप्रामाणिकता आदि का भी त्याग करता है। कामवासना के विषय में स्वपति या स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी से यौन सम्बन्धों का त्याग करता है। अपने परिग्रह की मर्यादा करता है। व्यवसाय के क्षेत्र में क्षेत्र एवं भोग-उपभोग के पदार्थों की सीमा का निर्धारण करता है एवं आवश्यकता से अधिक द्रव्य संग्रह तथा भोग-उपभोग की सामग्री के संग्रह और निष्प्रयोजन क्रियाकलापों (अनर्थदण्ड) आदि का त्याग करता है। इसके साथ ही समभाव की साधना, उपवास एवं दान संबंधी प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करता है।

जैन परम्परा के अनुसार कोई भी व्यक्ति सम्यक्त्व ग्रहण के पश्चात् अपनी स्वेच्छा से गृहस्थ धर्म या मुनिधर्म किसी का भी चयन करता है। मुनि दीक्षा में साधक सर्वप्रथम हिंसादि पापकर्मों का सम्पूर्ण रूप से वर्जन करके समभाव की साधना का व्रत ग्रहण करता है। इसे छुल्लक दीक्षा या सामायिक चारित्र कहते हैं। तत्पश्चात् उसका व्रतारोपण होता है। इसमें वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे पाँच महाव्रतों के पालन का नियम ग्रहण करता है। इसे मुनि दीक्षा या छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) कहते हैं।

मुनिदीक्षा के पश्चात् दीक्षार्थी की योग्यता, आयु, दीक्षाकाल आदि के आधार पर योगोद्वहन संबंधी दीक्षा विधि होती है। इसमें साधक विभिन्न प्रकार की तप-साधना के साथ आगमिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं विद्याओं की साधना प्रारम्भ करता है। आगमों का अध्ययन सम्पन्न होने पर योग्यता के अनुरूप उसे गणि, उपाध्याय, आचार्य आदि पदों पर अभिषिक्त करने की विधि सम्पन्न की जाती है। इस अवसर पर वह सूरिमंत्र आदि की विशिष्ट साधना भी करता है। इसे पदस्थापना या पदाभिषेक भी कहा जाता है। इसके पश्चात् जीवन की अन्तिम संध्या में साधक पुनः पूर्वपदों का त्याग करके नवीन दीक्षा ग्रहण कर समाधिमरण की साधना करता है।

जैन आगमों और प्रारम्भिक आगमिक व्याख्याओं को देखने से ऐसा लगता है कि इन विविध प्रकार की दीक्षाओं के लिए किसी प्रकार का कोई भी कर्मकाण्ड नहीं था। प्रतिज्ञाग्रहण करने के पूर्व ईर्यापथ-आलोचना, कायोत्सर्ग, जिनस्तवन, चैत्यवंदन एवं गुरुवंदन जैसी सामान्य क्रियाएँ की जाती थीं। इसके पश्चात् गुरु शिष्यों को अपेक्षित प्रतिज्ञा ग्रहण करवाता था। प्राचीन आगमों के अध्ययन के लिए भी किसी विशिष्ट प्रकार की तप-साधना या क्रियाकाण्ड के कोई उल्लेख नहीं मिलते। जहाँ तक मेरी जानकारी है हरिभद्र (८वीं शती) और

उनके द्वारा उद्धृत महानिशीथसूत्र के पूर्व तक इन विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं से संबंधित किसी कर्मकाण्ड का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

भारत में तंत्र साधना का प्राबल्य बढ़ने के साथ ही लगभग ५वीं–छठी शती से जैन परम्परा में प्रकीर्ण रूप से कुछ कर्मकाण्डों का विकास हुआ। जहाँ तक मेरा अध्ययन और अनुभव है, जैन परम्परा में कर्मकाण्ड का प्रवेश विशेष रूप से सातवीं–आठवीं शती के बाद ही प्रारम्भ हुआ है। सर्वप्रथम पादलिप्तसूरि की निर्वाणकलिका से ही हमें इस प्रकार के कर्मकाण्ड का उल्लेख मिलने लगता है। ज्ञातव्य है कि ये पादलिप्तसूरि आर्यरक्षित के मातुल पादलिप्तसूरि (ईसा की प्रथम–द्वितीय शती) से भिन्न विद्याधरकुल के मण्डन गणि के शिष्य थे। इनका काल लगभग ६५० ई० है। निर्वाणकलिका में जिस कर्मकाण्ड का उल्लेख है वह तंत्र से प्रभावित है और लगभग १०वीं शताब्दी की रचना है। क्योंकि आठवीं शताब्दी के पूर्व की आगमिक व्याख्याओं में आचार्य हरिभद्र के पंचाशक आदि के प्रकरणों में जिन दीक्षा विधि, जिन भवन निर्माण, जिन यात्रा विधि आदि में ऐसा जटिल कर्मकाण्ड नहीं पाया जाता है, जो कि निर्वाणकलिका (१०वीं शती), मन्त्रराजरहस्य (१४वीं शती) विधिमार्गप्रपा (१४वीं शती) आचार दिनकर (१५वीं शती), प्रतिष्ठासार संग्रह, प्रतिष्ठादीक्षाकुण्डलिका, प्रतिष्ठाविधान, प्रतिष्ठासार, मंत्राधिराजकल्प आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। मेरी तो यह स्पष्ट मान्यता है कि जैन परम्परा में दीक्षा, प्रतिष्ठा, पूजा और मन्त्र–यन्त्र साधना–संबंधी जो भी कर्मकाण्ड आया है वह हिन्दू और बौद्ध तांत्रिक परम्पराओं से प्रभावित है और लगभग १०वीं और ११वीं शताब्दी से अस्तित्व में आया है। इन कर्मकाण्डों के विधि–विधान यद्यपि जैन परम्परा के अनुरूप बनाए गए हैं फिर भी इन विधि विधानों और तत्संबंधी मंत्रों पर उन तांत्रिक परम्पराओं का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता हैं। मात्र यही नहीं, कहीं–कहीं तो ये विधि–विधान जैनधर्म की मूलभूत मान्यताओं के विपरीत भी हैं। आज पुनः पूर्वाचार्यों के इन विधि–विधानों की गम्भीर समीक्षा अपेक्षित है। जैनधर्मकी स्थानकवासी एवं तेरापन्थी परम्पराओं में इस प्रकार का जटिल विधान प्रचलित नहीं है किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में विभिन्न दीक्षाओं के प्रसंग में तन्त्र से प्रभावित दीक्षा सम्बन्धी विधि–विधान परिलक्षित होते हैं जिनकी चर्या निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपा आदि में विस्तार से उपलब्ध है।

अध्याय—११

जैनधर्म का तंत्र साहित्य

'तंत्र' शब्द अपने मूल अर्थ में आगम का वाचक है। आचार्य हरिभद्र (६वीं शती) ने **पंचाशक** एवं **ललितविस्तरा** नामक **शक्रस्तव** की टीका में तंत्र शब्द का प्रयोग किया है। आगे चलकर तंत्र शब्द आध्यात्मिक एवं लौकिक उपलब्धियों हेतु की जाने वाली साधना—विधि का भी वाचक बना। जहाँ तक तंत्र सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है, यदि तंत्र साधना आध्यात्मिक विकास हेतु की जाने वाली साधना है, तो उसके उल्लेख तो **आचारांग, सूत्रकृतांग उत्तराध्ययन दशवैकालिक** आदि प्राचीन स्तर के आगमों से लेकर आज तक रचित अनेक जैन साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में मिल जाता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तंत्र शब्द को इतने व्यापक अर्थ में न लेकर अलौकिक शक्तियों या भौतिक उपलब्धियों के हेतु की जाने वाली साधना के सीमित अर्थ में लिया गया है।

अपने इस सीमित अर्थ में तंत्र सम्बन्धी साहित्य की चर्चा के प्रसंग में हम पाते हैं कि जैन आगमों में अंग—आगम विभाग के अन्तर्गत बारहवां अंग **दृष्टिवाद माना** गया है। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्वगत है, जिसमें चौदह पूर्व माने गये हैं। इन १४ पूर्वों में दसवां पूर्व विद्यानुप्रवादपूर्व है। यह माना जाता है कि इसके अन्तर्गत विभिन्न विद्याओं की साधना संबंधी विधिविधान निहित थे। इसी प्रकार दसवें अंग **प्रश्नव्याकरणसूत्र** की **समवायांग** और **नन्दीसूत्र** में दस जिस विषयवस्तु का उल्लेख है वह भी मंत्र—तंत्र से संबंधित थी, ऐसी परम्परागत धारणा है किन्तु दुर्भाग्य से आज न तो विद्यानुप्रवाद पूर्व ही उपलब्ध है और न **प्रश्नव्याकरण** सूत्र में वह विषयवस्तु ही उपलब्ध है जो मंत्रादि साधना से सम्बन्धित थी। अतः आज यह कहना कठिन है कि जैन परम्परा में मंत्र—तंत्र विद्या का प्राचीन स्वरूप क्या था। ऋषभदेव के पौत्र नमि और विनमि को आकाशगामिनी आदि विद्याप्रदान करने का वर्णन और विद्याधर जाति के उद्भव की कथा सर्वप्रथम **वसुदेवहिंडी** (५वीं शती) में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार **कल्पसूत्र** में जैन मुनियों के विद्याधर कुल के आविर्भाव का भी उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि जैन मुनियों का यह वर्ग मंत्र—तंत्रात्मक विद्याओं की उपासना या साधना करता रहा हो। मथुरा के जैन अंकनों में एक नग्न किन्तु हाथ में कम्बल लिये हुए आकाशमार्ग से गमन करते हुए मुनि को प्रदर्शित किया गया है। जैन साहित्य में भी जंघाचारी और विद्याचारी मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में ईसा की दूसरी शताब्दी से मंत्र—तंत्र

के प्रति एक निष्ठा का विकास हो गया था। चूर्णि साहित्य (७वीं शती) में पार्श्व की परम्परा के कुछ मुनियों एवं साध्वियों द्वारा आध्यात्मिक संयम–साधना से पतित होकर निमित्त शास्त्र आदि में अनुरक्त होने की चर्चा है। यह सत्य है कि जैन परम्परा में तन्त्र एवं तांत्रिक साधना का सम्बन्ध पार्श्व और उनकी परम्परा से जोड़ा जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ प्राचीन स्तर के जैनागमों में मुनि के लिये मंत्र–तंत्र की साधना का स्पष्ट निषेध था, वहीं परवर्ती ग्रन्थों में जिन धर्म की प्रभावना और संघ रक्षा के निमित्त मंत्र–तंत्र की साधना की सीमित रूप में स्वीकृति दी गयी है, इसके परिणामस्वरूप जैन मुनियों ने मंत्र–तंत्र एवं विद्याओं की सिद्धि से संबंधित साहित्य का निर्माण भी प्रारम्भ किया। अंग आगमों में **सूत्रकृतांग** (२/२/१५) में पापश्रुतों में वैताली, अर्धवैताली, अवस्वप्नी, लालुद्धाटणी, श्वापाकी, सोवारी, कलिंगी, गौरी, गान्धारी, अवेदनी, उत्थापनी एवं स्तम्भनी आदि विद्याओं के उल्लेख हैं। **स्थानांग** (८/३ एवं ६/३) में एवं **ज्ञाताधर्मकथा भी** में भी कुछ विद्याओं के उल्लेख मात्र हैं। उपाग साहित्य में सम्भवतः सर्वप्रथम **औपपातिक सूत्र** (लगभग प्रथम से चतुर्थ शती) में महावीर के श्रमणों को विद्या (विज्जा) और मंत्र (मंत) से सम्पन्न माना गया है। उपांग साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ **सूर्यप्रज्ञप्ति** (ई०पू० द्वितीय शती) का नक्षत्र आहार विधान तंत्र से प्रभावित है जैन परम्परा के पूर्व साहित्य को विद्वानों ने पार्श्व की परम्परा से संबंधित माना है। अतः विद्यानुप्रवाद तंत्र से संबंधित ग्रन्थ रहा होगा इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्थूलिभद्र ने इस पूर्व का अध्ययन करके अनावश्यक रूप से मंत्र विद्या का प्रयोग किया था और इसी के कारण उन्हें दंडित भी किया गया और भद्रबाहु ने इसके आगे उन्हें अध्ययन करवाने से इंकार कर दिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में जैनाचार्य मंत्र और विद्याओं के जानकार तो अवश्य थे किन्तु इनके प्रयोगों को वे उचित नहीं समझते थे। इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में (लगभग प्रथम–द्वितीय शताब्दी में) उसकी मूलभूत विषय वस्तु, जो मेरी दृष्टि में वर्तमान में **ऋषिभाषित** और **उत्तराध्ययन** के रूप में उपलब्ध है, उसे वहां से अलग करके उसमें मंत्र–तंत्र और निमित्तशास्त्र संबंधी सामग्री डाली गयी किन्तु आगे उस सामग्री का दुरुपयोग प्रारम्भ हुआ और जैन मुनि मंत्र–तंत्र वाद में उलझने लगे, पुनः छठी शती के अंत में उसमें से वह सामग्री भी अलग कर दी गयी। इससे ऐसा लगता है कि लगभग ईसा की चौथी–पांचवीं शती तक भी जैनाचार्यों ने मंत्र–तंत्रात्मक साधना को उचित नहीं माना था।

अंगविज्जा (दूसरी शती)— जैन परम्परा में मंत्र–तंत्र या निमित्तशास्त्र

से संबंधित सर्वप्रथम यदि कोई ग्रन्थ बना है तो वह **अंगविज्जा** है। अंगविज्जा (अंगविद्या) के प्रारम्भ में कुछ लब्धिधारियों के प्रति नमस्कार का वर्णन मिलता है तथा इसके प्रारम्भ के ही अष्टम अध्याय तथा प्रथम पटल में विद्याओं और विद्याओं से संबंधित मंत्रों का उल्लेख आया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि यह ग्रन्थ मूल रूप में कुषाण काल की रचना है। इस ग्रन्थ में नमस्कार मंत्र के विकास के भी सभी चरण उपलब्ध होते हैं। नमस्कार मंत्र का द्विपदात्मक प्राचीन रूप हमें खारवेल के शिलालेख में मिलता है और यही रूप इस ग्रन्थ में भी मिला है यद्यपि इसमें सम्पूर्ण नमस्कार मंत्र का भी उल्लेख आया है। इससे ऐसा लगता है कि बाद में इसमें परिवर्धन भी किया गया है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि लब्धिधरों की चर्चा यद्यपि **प्रश्नव्याकरणसूत्र** के वर्तमान संस्करण में उपलब्ध है, किन्तु यह परवर्ती है और लगभग छठी–सातवीं शती में अस्तित्व में आयी। इसके पूर्व लब्धिधरों की चर्चा हमें उमास्वाति के **तत्त्वार्थसूत्र** के स्वोपज्ञभाष्य में मिलती है। किन्तु उससे भी पूर्व यह चर्चा **अंगविद्या** में उपलब्ध है। यद्यपि यहां सभी लब्धिधारियों की चर्चा नहीं है। अंगविज्जा के अनुसार अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम और अंतरिक्ष– ये आठ निमित्त के आधार हैं और इन आठ महनिमित्तों द्वारा भूत–भविष्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार अंगविज्जा मूलतः तो निमित्त शास्त्र का ग्रन्थ है, किन्तु इसमें मन्त्र शास्त्र संबंधी सामग्री भी उपलब्ध है।

जयपायड अपरनाम प्रश्नव्याकरण (लगभग चतुर्थ शती)

यह प्रश्न **व्याकरणसूत्र** के प्रथम प्राचीन संस्करण और अन्तिम उपलब्ध संस्करण के मध्य का संस्करण रहा है। यह भी मूलतः निमित्तशास्त्र का ग्रन्थ है, जिसमें स्वरों एवं व्यञ्जनों के आधार पर प्रश्नकर्ता के लाभ–अलाभ जीवन–मरण आदि का कथन किया जाता है। इस ग्रन्थ का मूल आधार मातृकापद अर्थात् स्वरव्यञ्जन है। तन्त्रसाधना में भी इन मातृकापदों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः इसको भी किसी सीमा तक तन्त्र से संबंधित माना जा सकता है। इसकी १३३६ में लिखी गई ताडपत्रीय प्रति जेसलमेर भण्डार में उपलब्ध है।

इसमें निम्न प्रकरण उपलब्ध होते हैं–

१. सामासिक शिक्षा प्रकरण, २. संकट–विकट प्रकरण, ३. उत्तराधर प्रकरण, ४. अभिघात प्रकरण, ५. जीवसमास प्रकरण, ६. मनुष्य प्रकरण, ७. पक्षि प्रकरण, ८. चतुष्पद प्रकरण, ६. जीवचिन्ता, १०. धातुप्रकृति, ११. धातुयोनि, १२. मूलभेद, १३. मूलयोनि, १४. मुष्टिविभाग प्रकरण १५. वर्ण–रस–गन्ध–स्पर्श

प्रकरण, १६. द्विपदादि द्रव्य दिक् प्रकरण, १७. नष्टिकाचक्र, १८. चिन्ताभेद प्रकरण, १९. लेखगंडिकाधिकार संख्या प्रमाण, २०. काल प्रकरण, २१. लाभगंडिका प्रकरण २२. वर्गगंडिका, २३. नक्षत्रगंडिका, २४. व्यंजन विभाग, २५. स्ववर्गसंयोगकरण, २६. परवर्गसंयोगकरण, २७. सिंहावलोकितकरण, २८. चतुर्भेद गजविलुलित, २९. गुणाकार प्रकरण, ३०. उत्तराधर विभाग प्रकरण, ३१. स्ववर्ग प्रकरण, ३२. व्यंजन–स्वर प्रकरण, ३३. स्वभावप्रकृति, ३४. उत्तराधरसंपत्करण, ३५. वर्गाक्षरसंयोगोत्पादन, ३६.सर्वतोभद्र, ३७. संकट–विकट प्रकरण, ३८. अंग संबंधी अस्त्र विभाग प्रकरण, ३९. स्वरक्षेत्रभवन, ४०. तिथिनक्षत्रकांड, ४१. व्याधि–मृत्युविषयक प्रश्न,

उवसग्गहरस्तोत्र (लगभग छठी शती)

उवसग्गहरस्तोत्र प्राकृत में निबद्ध मात्र पांच गाथाओं का छोटा सा स्तोत्र है इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं किन्तु मेरी दृष्टि में ये भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु हैं जिनका काल लगभग छठी शताब्दी माना जाता है। इस स्तोत्र में पार्श्वनाथ और उनके यक्ष पार्श्व की स्तुति करते हुए उनसे ज्वर आदि रोग और सर्पदंश आदि की पीड़ाओं से मुक्त करने की प्रार्थना की गयी है। इसकी प्रत्येक गाथा पर यंत्र–मंत्रगर्भित टीकाएँ लिखी गयी हैं। जैनमंत्रसाहित्य में इस लघु कृति का विशिष्ट स्थान है।

भक्तामरस्तोत्र (लगभग ७वीं शती)

यह मानतुंगाचार्य (लगभग ७वीं शती) विरचित ४४ या ४८ श्लोक परिमाण एक लघु कृति है। यद्यपि यह स्तोत्र मूलतः ऋषभदेव की स्तुति के रूप में लिखा गया है किन्तु इसकी संकटदूर करने वाली शक्ति पर जैन साधकों का अटूट विश्वास है। इसके प्रत्येक श्लोक पर ऋद्धि, मंत्र एवं यन्त्र से गर्भित टीकाएँ भी मिलती है।

विषापहार स्तोत्र (७वीं शती)

यह ४० श्लोकों की एक लघु कृति है। इस स्तोत्र के रचयिता महाकवि धनञ्जय लगभग सातवीं शती में हुए हैं। इस स्तोत्र पर भी ऋद्धि, मंत्र और यंत्र गर्भित अनेक टीकाएँ मिलती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में यह स्तोत्र विशेष रूप से प्रचलित है।

ज्वालामालिनीकल्प (१०वीं शती)

यह जैन परम्परा के मंत्र शास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है

इसके रचयिता इन्द्रनन्दि हैं जिन्होंने १०वीं शती में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें कुल ६ परिच्छेद हैं—प्रथम परिच्छेद में साधक की योग्यता की चर्चा की गयी है। द्वितीय परिच्छेद में दिव्य–अदिव्य ग्रहों की चर्चा है। तृतीय परिच्छेद में सकलीकरण, ग्रह–निग्रह–विधान, बीजाक्षरों के ज्ञान का महत्त्व, पल्लवों का वर्णन और साधना की साधारण विधि बतलायी गयी है। चतुर्थ परिच्छेद में सामान्य मण्डल, सर्वतोभद्र मण्डल, समय मण्डल, सत्य मण्डल, आदि की चर्चा है। पंचम परिच्छेद में भूताकंपन तेल की निर्माण विधि का वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद में सर्वरक्षायन्त्र, ग्रहरक्षकयंत्र, पुत्रदायक यन्त्र, वश्ययन्त्र, मोहनयन्त्र, स्त्रीआकर्षणयन्त्र, क्रोधस्तम्भनयन्त्र, सेनास्तम्भनयन्त्र, पुरुषवश्ययन्त्र, शाकिनी भयहरणयन्त्र, सर्वविघ्नहरणयन्त्र आदि की चर्चा की गयी है। सप्तम परिच्छेद में विभिन्न प्रकार के वशीकरणकारक तिलक, अंजन, तेल आदि का एवं सन्तानदायक औषधियों का वर्णन किया गया है। अष्टम परिच्छेद में वसुधारा नामक देवी के स्नान, पूजन आदि की विधि बतलायी गयी है। नवम परिच्छेद में नीरांजन विधि है। दशम परिच्छेद में शिष्य को विद्या देने की विधि, ज्वालामालिनी साधनविधि, और ज्वालामालिनी स्तोत्र तथा ब्राह्मी आदि अष्ट्देवियों के पूजन, जप एवं हवन विधि, ज्वालामालिनी मालायन्त्र, वश्य मन्त्र एवं तंत्र आदि के उल्लेख हैं।

निर्वाणकलिका (१०—११वीं शती)

यह पादलिप्तसूरि की रचना मानी जाती है किन्तु ये पादलिप्त सूरि आर्यरक्षित (२री शती) के समकालीन एवं उनके मामा पादलिप्त सूरि से भिन्न हैं। ये सम्भवतः दशवीं–ग्यारहवीं शती के आचार्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा में यक्षी (देवी) उपासना का यह प्रथम ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न यक्ष–यक्षियों के लक्षण आदि का विस्तार से विवेचन है। इसके पूर्व बप्पभट्टिसूरि (६वीं शती) की चतुर्विंशिका में इनके नाम निर्देश मात्र उपलब्ध हैं, किन्तु उनके लक्षण, पूजा विधान आदि का विस्तृत विवरण नहीं है। अतः जैन परम्परा में तंत्र के प्रभाव को परिलक्षित करने वाला यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

मन्त्राधिराजकल्प (१२वीं शती)

जैसा की इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह नमस्कारमंत्र की तांत्रिक साधना से संबंधित एक कृति होगी। इसके कर्ता सागरचन्द्रसूरि हैं। इसकी पाण्डुलिपि एल०डी० इन्स्टीच्यूट आफ इण्डोलाजी, अहमदाबाद में उपलब्ध है।

मन्त्रराजरहस्यम् (१३वीं शती)

यह कृति सिंहतिलकसूरि द्वारा ई०सन् १२७० में निमित्त की रची गयी

है। जैन तंत्र साहित्य का यह प्रथम बृहत्काय ग्रन्थ है। इसमें मंगलाचरण के पश्चात् पचास लब्धिपदों का निर्देश है। ये लब्धिपद वहीं हैं जो तत्त्वार्थभाष्य, प्रश्नव्याकरणसूत्र, षट्खण्डागम, अनुयोगद्वार आदि कृतियों में पाये जाते हैं। यद्यपि यहां इनकी संख्या ५० हो गयी है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी बताया गया है कि एक–एक लब्धिपद से २०–२० विद्याएं सिद्ध होती हैं। इस प्रकार ५०–५० लब्धिपदों से १००० विद्याएं सिद्ध होती हैं, ऐसा माना गया है। इसमें लब्धिपद, को सिद्ध करने की विधि का भी विस्तार से उल्लेख है। साथ ही यन्त्रलेखन, लब्धिदप, जापविधि आदि का निर्देश दिया गया है। ५० लब्धिपदों के बाद अन्य वाचना की अपेक्षा से ४० लब्धिपदों का उल्लेख किया गया है और उनके फलादि की चर्चा की गयी है। इसमें जप के भेद, जप के आसन, ध्याता की योग्यता, रेचक, कुम्भक आदि प्राणायाम की चर्चा है। इसके अतिरिक्त इसमें गुरु–शिष्य–लक्षण, मुद्रापञ्चक आदि का भी उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही सूरिमंत्र तथा सूरिमंत्र के विभिन्न प्रस्थान, ग्रहशान्ति आदि विषय भी इसमें वर्णित है। यह कृति भारतीय विद्या भवन बम्बई से सिंघी जैन सीरीज के अंतर्गत ग्रन्थांक ७३ के रूप में मुद्रित है। इस कृति के अंत में देवतावसर विधि परिशिष्ट के रूप में सूरिमंत्र, गणधरवलय, परमेष्ठिविद्या, ऋषिमंडल आदि से संबंधित स्तोत्र भी संगृहीत हैं।

विद्यानुवाद

भैरवपद्मावतीकल्प की भूमिका में पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने विद्यानुवाद का निर्देश किया है। इस कृति में विविध मंत्र एवं यंत्रों का संग्रह है। यह कृति दिगम्बर जैन मन्दिर, इन्दौर के सरस्वती पुस्तक भण्डार में उपलब्ध है। पं० चन्द्रशेखर शास्त्री के अनुसार इसके संग्रह कर्ता मुनि कुमारसेन हैं। इसमें २३ परिच्छेद हैं – १. मन्त्रलक्षण, २. विधिमंत्र, ३. लक्ष्म, ४.सर्वपरिभाष, ५. सामान्य मंत्र साधन, ६. सामान्य यन्त्र, ७. गर्भोत्पत्ति विधान, ८. बाल चिकित्सा, ९. ग्रहोपसंग्रह, १०. विषहरण, ११. फणितंत्र मण्डल्याद्य, १२. पनयोरुजांशमनं, १३–१५. कृते खग्वद्योवधः, १६. विधान उच्चाटन, १७. विद्वेषन, १८. स्तम्भन, १९. शान्ति, २०. पुष्टि, २१. वश्य, २२. आकर्षण, २३. मर्म्म आदि।

विद्यानुवाद

जिनरत्नकोश में उपरोक्त विद्यानुवाद का तो कोई निर्देश नहीं है किन्तु **विद्यानुवाद** के नाम से अन्य दो ग्रन्थों का निर्देश है। इसमें एक **विद्यानुवाद** के कर्ता मल्लिषेण उल्लिखित हैं। चन्द्रप्रभ जैन मंदिर भूलेश्वर बम्बई, पद्मराग

जैन व्यक्तिगत भंडार, मैसूर तथा श्रवणबेलगोला के भट्टारक जी के निजी भण्डार की सूचियों में इसका उल्लेख मिलता है। उसमें दूसरा **विद्यानुवाद** नाम का ग्रन्थ इन्द्रनन्दि गुरु द्वारा विरचित बताया गया है। इसका निर्देश भी पद्मराग जैन, मैसूर के निजी भण्डार की सूची में उल्लिखित है। जहाँ तक मेरी जानकारी है ये ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। अतः इनके संबंध में अधिक जानकारी दे पाना सम्भव नहीं है।

विद्यानुवाद अंग

इस ग्रन्थ का निर्देश भी हमें जिनरत्नकोश में मिलता है। उसमें इसे हस्तिमल द्वारा रचित बताया गया है। ग्रन्थाग्र १०५० निर्देशित है। यह ग्रंथ मूडविद्रि के भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराज के निजी भण्डार की सूची में उल्लिखित है।

विद्यानुशासन

यह ग्रन्थ जिनसेन के शिष्य मल्लिसेन द्वारा रचित है। इसमें २४ अध्याय हैं और लगभग ५००० मंत्रों का संग्रह है। यह ग्रन्थ कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स सी०पी०एम०, बरार में उल्लिखित है। भण्डारकर इन्स्टीच्यूट, पूना में भी इसकी एक प्रति होने की सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त पीटर्सन ने भी अपनी रिपोर्ट के छठे भाग में पृ० १४४ पर इसका निर्देश किया है। श्रवणबेलगोला के भट्टारकजी के भण्डार में इसके उपलब्ध होने की सूचना मिलती है। यह बृहद्काय ग्रन्थ होना चाहिए। मेरी जानकारी के अनुसार यह अभी तक अप्रकाशित है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने भारतीय तंत्र शास्त्र में प्रकाशित सकलीकरण संबंधी अपने लेख में इसका निर्देश किया है।

ज्ञानार्णव

तंत्र साधना के आध्यात्मिकपक्ष की दृष्टि से शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य शुभचन्द्र का काल लगभग १०वीं शताब्दी माना जा सकता है यद्यपि इस ग्रन्थ का मूल विषय तो जैन परम्परा सम्मत महाव्रतों की साधना तथा मन के परिणामों की विशुद्धि हेतु ध्यानसाधना की विधि का प्रतिपादन करना है। इससे धर्म ध्यान की साधना के अंतर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के प्रकारों तथा पार्थिवी, वायवी आदि धारणाओं का उल्लेख है। जिनका संबंध तांत्रिक साधना से है। इससे यह फलित होता है कि ज्ञानार्णव पर तांत्रिक परम्परा का प्रभाव आया है। क्योंकि इसके पूर्व के किसी भी जैन ग्रन्थ में ध्यान के इन प्रकारों का उल्लेख नहीं मिलता। स्वयं ज्ञानार्णव, यह

नाम भी तांत्रिक परम्परा से ही आया है।

योगशास्त्र (१२वीं शती)

यह कृति भी मुख्यतया जैन धर्म की आध्यात्मिक साधना से संबंधित है। इसके प्रारम्भिक चार प्रकाश तो श्रावक के व्रतों की साधना से संबंधित हैं। चतुर्थ प्रकाश में कषायजय और मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावनाओं का उल्लेख है। जो साधना के आध्यात्मिक पक्ष से ही संबंधित हैं। किन्तु ग्रन्थ के पंचम प्रकाश में प्रणायाम के द्वारा शुभाशुभ फल निर्णय करने तथा मृत्यु काल का निर्णय करने के साथ–साथ मण्डलों और वायु के प्रकारों का भी निर्देश है, षष्ठ प्रकाश में परकाय प्रवेश का उल्लेख है। वे स्पष्टतः तंत्र से प्रभावित हैं। इसीप्रकार सप्तम् प्रकाश से एकादश प्रकाश तक जो ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत प्रकारों की चर्चा है वह स्पष्टतः हिन्दू तंत्र से प्रभावित है। इस प्रकार यह भी जैन तंत्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

एकीभावस्तोत्र

२६ श्लोकों की यह लघुकृति वादिराजसूरि द्वारा लगभग ११वीं शताब्दी में लिखी गई है। इस स्तोत्र को भी तांत्रिक शक्ति से युक्त माना जाता है। किन्तु इसके मन्त्र, तन्त्र या यन्त्र की साधना का कोई विधान प्राप्त नहीं होता है।

रिष्टसमुच्चय एवं महाबोधि मन्त्र

यह कृति आचार्य दुर्गदेव द्वारा ई०सन् १०३२ के श्रावण शुक्ला एकादशी को मूल नक्षत्र में निर्मित की गयी है। इसमें मरणसूचक चिन्हों की जानकारी के साथ–साथ अम्बिका मन्त्र एवं कुछ अन्य मन्त्र भी दिये गये हैं। इन्हीं आचार्य दुर्गदेव की एक कृति **महोदधिमन्त्र** भी है। ये दोनों ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निर्मित हुए हैं।

भैरवपद्मावतीकल्प

इस कृति के रचयिता आचार्य मल्लिषेण हैं जिन्होंने ११वीं शती में ४०० अनुष्टुप् श्लोकों में इसकी रचना की। इस कृति को आचार्य ने निम्न १० परिच्छेदों में विभाजित किया है।

प्रथम परिच्छेद में पद्मावती के नाम से मंगलाचरण किया गया है, तथा मन्त्र साधक आदि के लक्षण बतलाये गये हैं।

द्वितीय परिच्छेद में मन्त्रों एवं यन्त्रों की सिद्धि संबंधी विधि, हवन विधि, पार्श्वनाथ भगवान के यक्ष की साधना विधि आदि वर्णित है।

तृतीय परिच्छेद में मन्त्रों एवं यन्त्रों की सिद्धि सम्बन्धी विधि, हवन विधि, भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष की साधना विधि आदि का वर्णन है।

चतुर्थ परिच्छेद में विभिन्न यन्त्रों का वर्णन, स्त्री आकर्षण, शत्रु विद्वेष, स्त्री सौभाग्य, क्रोधादि का स्तम्भन, ग्रहादि से रक्षण के उपाय वर्णित है। इसमें कौए के पंख, मृत्यु को प्राप्त प्राणियों की हड्डियों एवं रासभ रक्त से यन्त्र लेखन भी वर्णन है।

पंचम परिच्छेद में वाणी, क्रोध, जल, अग्नि, तुला, सर्प, पक्षी, आदि के स्तम्भन की विधि निरूपित है, साथ ही वर्ताली यन्त्र भी उल्लिखित है।

षष्ठ परिच्छेद में अभीष्ट स्त्री आकर्षण के छः उपाय बतलाये गये हैं।

सप्तम परिच्छेद में छः प्रकार के वशीकरण, दाह ज्वर शमन मन्त्र, निद्रा मन्त्र आदि की चर्चा है। पारस्परिक वैरभाव के विनाश और शत्रु के विनाश के उपाय बतलाये गये हैं। इसमें होम विधि भी बतलाई गयी है।

अष्टम परिच्छेद में दर्पण निमित्त मन्त्र, कर्णपिशाचिनी मन्त्र तथा सुन्दरी देवी की सिद्धि की विधि वर्णित हैं। साथ ही गर्भ में पुत्र है या पुत्री आदि के बारे में बतलाया गया है।

नवम परिच्छेद में मनुष्य एवं स्त्रियों को वश में करने के लिये औषधि एवं तिलक तैयार करने की विधि बतलायी गयी है। अदृश्य होने एवं गर्भमुक्ति के लिये कौन सी औषधि काम में लेनी चाहिए इसका वर्णन भी किया गया है।

दशम परिच्छेद में गरुडाधिकार, आदि नागाकर्षण मन्त्र का उल्लेख है। साथ ही आठ प्रकार के नागों के बारे में भी बतलाया गया है।

ज्वालामालिनीकल्प

यह ग्रन्थ **भैरवपद्मावतीकल्प** के रचयिता आचार्य मल्लिषेण (लगभग ११वीं शती) की रचना है और **भैरवपद्मावतीकल्प** में प्रकाशित भी है। इसमें ज्वालामालिनी की साधना विधि वर्णित है।

सरस्वतीकल्प

यह भी आचार्य मल्लिषेण की रचना है। इसमें ७५ श्लोक और कुछ

गद्य भाग है। इसमें सरस्वती की साधना विधि दी गई है।

प्रतिष्ठातिलकम्

इस ग्रन्थ की रचना दिगम्बर जैन आचार्य श्री नेमिचन्द्र देव ने १३वीं शताब्दी के आस पास की। इसमें १८ परिच्छेद हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति, वास्तुबलिविधान आदि दिया गया है। इसका प्रकाशन दोसी सखाराम नेमचन्द्र, सोलापुर से हुआ है। यह ग्रंथ मूलतः पूजा एवं प्रतिष्ठाविधान से संबंधित है किन्तु प्रसंगानुकूल मन्त्र एवं यंत्र का भी इसमें निर्देश है। कुछ विशिष्ट यन्त्रों के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं– महाशान्तिपूजायन्त्र, बृहच्छान्तिकयन्त्र, जलयन्त्र, महायागमण्डल यन्त्र, लघुशान्तिक यन्त्र, मृत्युंजययन्त्र, सिद्धचक्रयन्त्र, पीठयन्त्र, सारस्वतयन्त्र, निर्वाणकल्याणक यन्त्र, वश्ययन्त्र, शान्तियन्त्र, स्तम्भनयन्त्र, आसनपदवास्तुयन्त्र, जलाधिवासनयन्त्र, गन्धयन्त्र, अग्नित्रयहोमयन्त्र, अग्नित्रयद्वितीय प्रकार यन्त्र, अग्नित्रयहोममण्डपयन्त्र, उपपीठपदवास्तुयन्त्र, परमसामायिकपद वास्तुयन्त्र, उग्रपीठपदवास्तुयन्त्र, नवग्रहहोमकुण्डमण्डलयंत्र, स्थण्डिलपदवास्तुयन्त्र और मण्डुकपदवास्तुयन्त्र आदि।

इसमें सर्वप्रथम जिनेन्द्र की वंदना के साथ इन्द्रनन्दि आदि पूर्व आचार्यों का निर्देश है जिनकी कृतियों के आधार पर यह ग्रन्थ रचा गया है। जिन प्रतिमा के साथ–साथ यक्ष–यक्षी एवं धातु से निर्मित यन्त्रों की प्रतिष्ठाविधि वर्णित है, साथ ही साथ सकलीकरण, दिग्बन्धन, आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन आदि विधि–विधान दिये गये हैं। जिन पूजा के अतिरिक्त श्रुतपूजा, गणधरपूजा, इन्द्रपूजा, यक्ष–यक्षी पूजा, दिग्पालपूजा आदि का भी वर्णन है।

सूरिमन्त्रकल्प

सूरिमन्त्रकल्प के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। प्रमुख रूप से विभिन्न पीठ और आम्नायों के आधार पर ऋषभविद्या, वर्धमानविद्या आदि चतुर्विंशति विद्याओं तथा लब्धिधरपद गर्भित सूरिमन्त्र साधना संबंधी विधि विधान दिये गये हैं। इन सूरिमंत्रकल्पों में मेरुतुंगसूरिकृत **सूरिमुख्यमन्त्रकल्प** और उसकी **दुर्गमपदविवरण** नाम से देवाचार्यगच्छीय अज्ञातसूरिकृत टीका मिलती है। ग्रन्थ के **सूरिमन्त्रकल्पसारोद्धार**, सूरिमन्त्रविशेषाम्नाय आदि नाम भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त एक अज्ञात आचार्यकृत **सूरिमन्त्रकल्प** एवं मलधरगच्छीय राजशेखरसूरिकृत **सूरिमन्त्रकल्प**, देवसूरिकृत **सूरिमन्त्रकल्प** आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। **सूरिमंत्रकल्पसंदोह** नामक ग्रन्थ में इन विभिन्न सूरिमंत्रकल्पों तथा उसके साथ में **वर्द्धमानविद्या** आदि का प्रकाशन हुआ है।

सूरिमन्त्रबृहद्कल्पविवरण

यह ग्रन्थ जिनप्रभसूरि द्वारा ई० सन् १३०८ में निर्मित हुआ है। इसमें पांच मुख्य प्रकरण हैं– १. विद्यापीठ, २. विद्या, ३. उपविद्या, ४. मंत्रपीठ और, ५. मन्त्रराज। इसमें सूरिमन्त्र की जापविध इसका फल, साधनाविधि, तपविधि, स्वआम्नाय मंत्रशुद्धि, सूरिमंत्र अधिष्ठायकमंत्रसिद्धि एवं मुद्राओं का वर्णन किया गया है।

देवता अवसर विधि

यह कृति **मन्त्रराजरहस्य** के पंचम परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई है। इसके अन्त में लेखक का नाम नहीं है। श्री दैवोत में जैन मंत्रशास्त्रों की परम्परा एवं स्वरूप नामक लेख में इसे जिनप्रभसूरि की कृति माना है। मेरी दृष्टि में यह जिनप्रभसूरि की कृति न होकर सिंहतिलकसूरि की ही कृति होनी चाहिए। किन्तु कृति के अन्त में नामनिर्देश के अभाव में कुछ भी कहना कठिन है। इस कृति में निम्न २० अधिकारों का विवेचन है–

१. भूमिशुद्धि, २. अंगन्यास, ३. सकलीकरण, ४. दिग्पाल आह्वान, ५. हृदयशुद्धि, ६. मन्त्र–स्नान, ७. कल्मषदहन, ८. पंचपरमेष्ठिस्थापना, ९. आह्वानन, १०. स्थापना, ११. सन्निधानं, १२. सन्निरोध, १३. अवगुण्ठन, १४. छोटिका प्रदर्शन, १५. अमृतीकरण, १६. जाप, १७. क्षोभण, १८. क्षमण, १९. विसर्जन और २०. स्तुति।

इस कृति में इन २० अधिकारों से संबंधित मन्त्रों का भी निर्देश है।

देवपूजाविधि

यह कृति जिनप्रभसूरि द्वारा प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में रचित है। इस कृति में सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में ग्रह प्रतिमा पूजा विधि एवं चैत्यवंदन विधि, का विवरण पादलिप्त सूरि की **निर्वाणकलिका** से लिया गया है। इसके पश्चात् संस्कृत भाषा में स्नपन विधि, पञ्चामृत स्नानविधि, चैत्यवंदनविधि और शांतिपर्वविधि का उल्लेख हुआ है।

मायाबीजकल्प

यह प्रति श्री सोहनलाल देवोत के निजी संग्रह में उपलब्ध है। उनकी सूचना के अनुसार यह कृति भी जिनप्रभसूरि द्वारा रचित है। इस कृति में मायाबीज 'ह्रीं' को सिद्ध करने संबंधी सम्पूर्ण विधि विधान विवेचित हैं। इसमें सर्वप्रथम इसकी साधना के लिये अपेक्षित शुक्लपक्ष की पूर्णातिथि का तथा साधना

के प्रारम्भिक विधि–विधानों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् उसमें यह बताया गया है कि ध्यान पूर्वक ॐ ह्रीं नमः इस मूल मन्त्र का एक लक्ष जप किस प्रकार करना चाहिए इसमें मूल मन्त्र के साथ अलग–अलग पल्लवों को लगाकर शान्ति, पुष्टि, वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन संबंधी तांत्रिक विधि–विधानों का निरूपण किया गया है।

सूरिमन्त्रकल्प

सूरिमन्त्रकल्प के नाम से अनेक कृतियां उपलब्ध होती हैं जिसका निर्देश हम पूर्व में कर चुके हैं। राजशेखरसूरि द्वारा रचित **सूरिमंत्रकल्प** ई०सन् १३५२ में निर्मित हुआ है। इस कल्प में निम्न दस वक्तव्य हैं–

१. सप्तदशमुद्रावर्णन, २. प्रथमपीठवक्तव्यता, ३. द्वितीयपीठ वक्तव्यता, ४. तृतीयपीठ वक्तव्यता, ५. चतुर्थपीठ वक्तव्यता, ६. पंचमपीठ वक्तव्यता, ७. पंचमपीठमय सम्पूर्ण सूरिमंत्र वक्तव्यता, ८. संक्षिप्त देवतावसर विधि वक्तव्यता ६. संक्षिप्त देवतावसरविधि वक्तव्यता और, १०. मन्त्रमहिमा वक्तव्यता।

सूरिमुख्यमन्त्रकल्प

यह कृति मेरुतुंगसूरि द्वारा ई०सन् १८८६ में निर्मित है, इसका संकेत हम पूर्व में सूरिमंत्रकल्प के अन्तर्गत कर चुके हैं। इस कृति में पंचपीठों और आम्नायों के आधार पर ऋषभविद्या, वर्धमान विद्या आदि चतुर्विंशति विद्याओं तथा लब्धिधरपदगर्भित सूरिमंत्र की साधना संबंधी विधि–विधान दिये गये हैं। इस प्रकार इसमें उपाध्यायविद्या, प्रवर्तक मन्त्र, स्थविरमन्त्र, गणाच्छेदक मन्त्र, वाचनाचार्य मन्त्र आदि का निर्देश है। इसके साथ ही प्रवर्तनी मन्त्र, पंडितमिश्र मंत्र, ऋषभविद्या, सूरिमन्त्रसाधनविधि (देवतावसर विधि के समान), आद्यपीठ साधन विधि, द्वितीय पीठ साधन विधि, तृतीय पीठ साधन विधि, चतुर्थ पीठ साधन विधि, पंचम पीठ साधन विधि, सूरिमंत्र स्मरण फल, सूरिमंत्र पटलेखन विधि ,ध्यान विधि और जप भेद आदि, आठ विद्याएं और उनका फल, सूरिमंत्र स्मरण विधि (संक्षिप्त), सूरिमंत्र अधिष्ठायक स्तुति, अक्षादि विचार, स्तम्भनादि अष्ट कर्मविचार चार, प्रकार के मंत्र, जाति मंत्र और स्मरण रीति मुद्रावर्णन, पंचाशत लब्धि वर्णन और विद्यामन्त्र लक्षण।

सूरिमन्त्रकल्प

किसी पूर्वाचार्य कृत **सूरिमंत्रकल्पनामक** कुछ एक कृतियां और उपलब्ध होती हैं। ये कृतियां **सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय**, सम्पादक मुनि जम्बूविजय

जी भाग–२ में प्रकाशित हैं। इसमें निम्न प्रकरण हैं–

१. प्रथम वाचना, २. द्वितीय वाचना, ३. ध्यान विधि, साधनाविधि, तृतीय वाचना (अक्षर स्थापना) सूरिमं गर्भित विद्याप्रस्थान पटविधि, मंत्रशुद्धि, तपोविधि, अधिष्ठायक स्तुति एवं सूरिमंत्र पदसंख्या विचार।

सूरिमन्त्रकल्प (दुर्गपदविवरण)

इसके कर्ता देवाचार्यगच्छीय सूर्यशिष्य हैं। इसमें लेखक ने अपना नाम स्पष्ट नहीं किया है। इस कृति में सूरिमंत्र के क्लिष्ट पदों को स्पष्ट किया गया है साथ ही साधना विधि का भी विवेचन किया गया है। यह कृति **सूरिमंत्रकल्प** द्वितीय भाग पृ० १६६ से २१२ तक में प्रकाशित है।

लब्धिफलप्रकाशककल्प

यह कृति भी किसी अज्ञात आचार्य द्वारा रचित है इसमें विभिन्नलब्धिपदों के जप से किस–किस रोग का उपशमन होता है एवं विशिष्ट प्रकार की शक्तियां प्राप्त होती हैं। इसका विवरण दिया गया है।

अंचलगच्छीयआम्नायसूरिमन्त्र

यह एक संक्षिप्त कृति है। इसमें अंचलगच्छ के अनुसार सूरिमंत्र के अतिरिक्त वाचनाचार्य एवं उपाध्याय मंत्र भी संगृहीत है। यह कृति भी सूरिमंत्र कल्प भाग२ पृ० २१७ से २२० में प्रकाशित है।

काम चाण्डालीकल्प

यह कृति भी **भैरवपद्मावती** कल्प के प्रणेता आचार्य मल्लिषेण की रचना है।

वर्धमानविद्याकल्प

इस नाम की दो कृतियाँ हैं और दोनों ही आचार्य सिंहतिलक सूरि द्वारा ई०सन् १२६६ में रचित हैं। प्रथम कृति में आचार्य, वाचनाचार्य, उपाध्याय तथा आचार्यकल्प मुनि के साधना योग्य विद्याओं का उल्लेख है। यह कृति ७७ श्लोक परिमाण है। इसी नाम की दूसरी कृति में ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों से संबंधित चतुर्विंशति विद्याओं का उल्लेख है।

विधिमार्गप्रपा

यह कृति जिनप्रभपा सूरि द्वारा ई०सन् १३०६ में रचित है। मूलतः कृति

का प्रणयन जैन परम्परा के विधि–विधान की चर्चा को लेकर हुआ है। इसमें वर्णित विषय इस प्रकार है–१. सम्यक्त्व आरोपण विधि, २. परिग्रहपरिमाण विधि, ३. सामायिक आरोपण विधि, ४. सामायिक ग्रहण पारणविधि, ५. उपधाननिक्षेपण विधि–पंचमंगल उपधान, ६. उपधान सामाचारी, ७. उपधान विधि, ८. मालारोपण विधि, ९. उपधानप्रतिष्ठापंचाशक प्रकरण, १०. प्रोषध विधि, ११. देवसिकप्रतिक्रमण विधि, १२. पाक्षिकप्रतिक्रमण विधि, १३. रात्रिक प्रतिक्रमण विधि, १४. तपोविधि, १५. नंदीरचना विधि, १६. प्रवज्या विधि, १७. लोककरण विधि, १८. उपयोग विधि, १९. प्रथम भिक्षा विधि, २०. उपस्थापना विधि, २१. अनध्यायविधि, २२. स्वाध्याय प्रस्थापन विधि, २३. योगनिक्षेपण विधि, २४. योगविधि–इसमें विभिन्न आगमों के अध्ययन हेतु किये जाने वाले तप एवं विधि–विधानों का वर्णन है। २५. कल्पतर्पण समाचारी, २६. वाचना विधि, २७. वाचनाचार्य प्रतिष्ठापनाविधि, २८. उपाध्यायप्रतिष्ठापना विधि, २९. आचार्य प्रतिष्ठापना विधि–प्रवर्तिनीप्रतिष्ठापना विधि, ३०. महत्तराप्रतिष्ठापना विधि, ३१. गणानुज्ञा विधि, ३२. अनशन विधि, ३३. महाप्रतिष्ठापना विधि, ३४.अ. आलोचन विधि–ज्ञानातिचार प्रायश्चित्त, दर्शनातिचार प्रायश्चित्त, मूलगुणप्रायश्चित्त, पिण्डलोचनाविधानप्रकरण, उत्तरगुणातिचार–प्रायश्चित्त, वीर्यातिचार प्रायश्चित्त, ३४.ब. देशविरतिप्रायश्चित्तविधि (गृहस्थ)–आलोचनाग्रहणविधिप्रकरण, ३५. प्रतिष्ठाविधि–प्रतिष्ठाविधि संग्रहगाथा, अधिवासनाधिकार, नंद्यावर्तलेखनविधि, जलानयनविधि, कलशारोपण विधि, ध्वजारोपण विधि, प्रतिष्ठोपकरणसंग्रह, कूर्मप्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठासंग्रह काव्यानि, प्रतिष्ठानविधि गाथा, कथारत्नकोशीय ध्वजारोहण विधि, ३६. स्थापनाचार्यप्रतिष्ठाविधि, ३७. मुद्राविधि, ३८. चतुःषष्टियोगिनीउपसमर्पयाचार, ३९. तीर्थयात्राविधि, ४०. तिथिविधि, ४१. अंगविद्यासिद्धिविधि आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **विधिमार्गप्रपा** में जैन साधना संबंधी विधि–विधानों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इसके विधि–विधानों में सकलीकरण, मुद्रा एवं विद्या सिद्धि के भी अनेक विधि–विधान उपलब्ध हैं।

ऋषिमंडलमंत्रकल्प

जैन तांत्रिक साधना में **ऋषिभमंडल** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत कृति विद्याभूषणसूरि द्वारा रचित है। इसमें **ऋषिमंडल** से संबंधित मंत्र–तंत्र और यंत्र संगृहीत हैं। **ऋषिभमण्डल** से संबंधित अन्य आचार्यों की कृतियाँ भी इसमें उपलब्ध होती हैं।

अनुभवसिद्धमंत्रद्वात्रिंशिका

यह कृति भ्रदगुप्ताचार्य की रचना है। कृति कब निर्मित की गयी इस

संबंध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत कृति में पांच अधिकार हैं—प्रथम अधिकार में सर्वज्ञाभमन्त्र 'ॐ श्री ह्रीं अर्हं नमः' तथा सर्वकर्मकरयन्त्र 'ॐ ह्री श्रीं अर्हं नमः'— इन दोनों मन्त्रों के ध्यान के विषय में बताया है। द्वितीय अधिकार में वशीकरण एवं आकर्षण सम्बन्धी मंत्र का तथा तृतीय अधिकार में स्तम्भनादि से सम्बन्धित मंत्रों तथा स्तोत्रों का वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में शुभाशुभसूचक सुन्दर और तत्काल अनुभव करने वाले आठ मंत्रों का समावेश है। पाँचवें अधिकार में गुरु—शिष्य की योग्यता एवं अयोग्यता का निरूपण है। इसे पंडित अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह ने सम्पादित कर के प्रकाशित करवाया है।

चिन्तामणि पाठ

इस कृति का रचनाकाल एवं इसके कर्ता का परिचय अज्ञात है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ के स्तोत्र एवं विविध प्रकार की पूजाओं का उल्लेख किया गया है। साथ ही इसमें यक्ष—यक्षिणियों, सोलह विद्यादेवियों, एवं नवग्रह पूजा विधान आदि भी वर्णित हैं। यह रचना मन्त्रद्वारा पवित्र होने पर अथवा यन्त्र की शक्ति से युक्त होने पर शांति एवं पुष्टि कर्म करने का विधान करती है। यह ग्रंथ श्री सोहनलाल दैवोत के संग्रहालय में सुरक्षित है।

चिन्तारणि

इस कृति के संकलनकर्ता एवं रचनाकाल के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। अनुमान लगाया जा सकताहै कि १६वीं शती में सागवाड़ा गद्दी के भट्टारक अथवा उनके किसी ने इसका संग्रह किया होगा। इसमें मंत्र, तंत्र एवं औषधि प्रयोग विधि में वागड़ी, मारवाड़ी तथा मालवी बोली के शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसमें कही—कहीं शिव एवं हनुमान मंत्रों का भी समावेश हे। यह कृति भी श्री सोहनलाल दैवोत के निजी संग्राहलय में उपलब्ध है।

सूरिमंत्रस्मरणविधि

यह कृति राजगच्छीय विजयप्रभसूरि के द्वारा विरचित है। इसमें सूरिमंत्र संबंधी साधना विधि दी गई है। यह कृति भी **सूरिमंत्रकल्पसम्मुच्चय**, संपादक—मुनि जम्बूविजयजी, द्वितीय भाग में पृ० २२१ से २२५ तक प्रकाशित है।

संक्षिप्तसूरिमंत्र विचार

यह कृति भी **सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय**, द्वितीय भाग में पृ० २२६ से २३०

तक प्रकाशित है। इसमें भी सूरिमंत्र के साथ–साथ उसकी साधना विधि भी वर्णित है।

सूरिमंत्र संग्रह

यह कृति भी **सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय**, 'द्वितीय भाग' संपादक–मुनि जम्बूविजयजी में पृ० २३१ से २३४ तक प्रकाशित है।

ज्ञातव्य है कि उपरोक्त सूरिमंत्र से संबंधित विभिन्न कृतियों में लब्धिपदों की संख्या, पदसंख्या, अक्षरसंख्या आदि को लेकर मतभेद देखा जाता है। यह मान्यता है कि काल क्रम में सूरिमंत्र के पद, अक्षर आदि में कमी हुई। इसमें सूरिमंत्र संबंधी गौतमवाचना, श्रुतकेवलीवाचना, वज्रवाचना, नागेन्द्रवाचना, चन्द्रवाचना, विद्याधरवाचना आदि वाचना भेद उल्लिखित हैं।

कोकशास्त्र

तपागच्छ की कमलकलश शाखा के नर्बुदाचार्य ने ई० सन् १५६६ में इस कृति की रचना की। इस कृति में मंत्र–तंत्र संबंधी विपुल सामग्री संचित हैं। इसमें चार प्रकार की स्त्रियों को वश में करने से संबंधित विभिन्न मंत्रों और तंत्रों के उल्लेख भी हैं। इस कृति में यह भी बताया गया है कि कौनसी स्त्री किस प्रकार की तांत्रिक साधना से वशीभूत होती है। निवृत्तिमार्गी जैन धर्म तांत्रिक साधन५ाओं से प्रभावित होकर किस प्रकार वासनामय लौकिक एषणाओं की पूर्ति हेतु की ओर अग्रसर हुआ यह इस कृति से पता लगता है।

मंत्र–यंत्र–तंत्र संग्रह

इस कृति के कर्ता का नाम भी अज्ञात है। इस पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर बारीक अक्षरों में 'णमोकार कल्प प्रारम्भ लिखते' लिखा हुआ है, जो बागड़ी ५ मारवाड़ी बोली के शब्दों में लिखा है। इसकी पत्र संख्या नौ है। इसका संग्रह १६वीं शती में सागवाड़ा गद्दी के भट्टारक के किसी अनुयायी ने किया होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। इसमें वशीकरण, उच्चारण, मारण, विद्वेषण, स्तम्भन आदि सम्बन्धी मंत्र–यंत्रों का संग्रह है। यह कृति श्री सोहनलाल देवोत के निजी भण्डार में सुरक्षित है।

मंत्र शास्त्र

इसके रचयिता के विषय में भी कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती। इस पुस्तक में पत्र संख्या २४ के बाद के पत्र नहीं मिलते। इसको भी बागड़ी, मारवाड़ी

एवं मालवी बोली में लिखा गया है। इसमें कहीं–कहीं मुस्लिम शाबर मंत्र एवं वैष्णव मंत्र भी मिलते हैं। मंत्र,यंत्र एवं तंत्र का यह एक अनुपम ग्रन्थ है। यह ग्रंथ भी सोहनलाल जी के संग्रहालय में सुरक्षित है।

सूरिमंत्रकल्पसंदोह

यह एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें पूर्वाचार्य द्वारा विरचित सूरिमंत्रों को संगृहीत किया गया है। यह ग्रन्थ पन्द्रह परिशिष्टों में विभक्त गुजराती भाषान्तर सहित विविध चित्रों से समन्वित है। इसके प्रारम्भ में मेरुतुंगसूरिरचित सूरि मुख्यमंत्रकल्प का अनुवाद किया गया है। तत्पश्चात् विविध विद्याओं एवं मंत्रों का विवरण भी दिया गया है। यथा श्री मेरुतुंगसूरिविरचित **सूरिमुख्यमंत्रकल्प**, अज्ञातसूरिकृत–**सूरिमंत्रकल्प** आदि प्राकृत भाषा में तथा श्री सिंहतिलक सूरिविरचित–**श्रीवर्धमानविद्याकल्प** तथा **वर्धमान विद्याकल्प** में यंत्रलेखनविधि आदि संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। इसके संपादक पंडित अंबालाल प्रेमचन्द शाह 'न्यायतीर्थ' हैं।

सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह भी अनेक सूरिमंत्रों का संग्रह ग्रंथ है। इन सूरिमंत्रों के रचयिता अनेक पूर्वाचार्य हैं। इनका संग्रह मुनि श्री श्री जम्बूविजय ने किया है। यह पुस्तक दो भागों में जैन साहित्य विकासमण्डल वीलेपारले, मुंबई से प्रकाशित है। इसके प्रथम भाग में सिंहतिलकसूरिविरचित **मंत्रराजरहस्यम्**, जिनप्रभसूरिविरचित **सूरिमंत्र बृहत् कल्पविवरणम्** (गणधरमन्त्र विवरणम्) जिनप्रभसूरिविरचित–**देवतावसर विधि**, राजशेखरसूरि विरचित–**सूरिमंत्रकल्प** और मेरुतुंगसूरिविरचित–**श्रीसूरिमुख्यमंत्रकल्प** का संकलन किया गया है। इसके द्वितीय भाग में अज्ञातसूरिकृत–**सूरिमंत्रकल्प**, श्रीदेवाचार्यगच्छीय सूरिशिष्य रचित **दुर्गपदविवरणम्**, **लब्धिपदप्रकाशककल्प**, अंचलगच्छ के आम्नाय के अनुसार वाचनाचार्य–सूरिमंत्रादीनां विचारः, श्रीसूरिमंत्रस्मरणविधिः, संक्षिप्तसूरिमंत्रविचारः, अज्ञातकर्तृक–सूरिमंत्रसंग्रहः, विविधाः सूरिमंत्रप्रकाशः, श्रीसूरिमंत्र स्तोत्राणि, प्रवचनसार मगङ्गलम् आदि का संग्रह है। इसमें सात परिशिष्ट गये हैं।

नमस्कार स्वाध्याय

यह भी एक संग्रह ग्रंथ हैं। इसमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के नमस्कार मंत्र की साधना से संबंधित ग्रंथों एवं ग्रथांशों का संकलन किया गया है।

इसके संग्रहकर्ता गणि धुरन्धरविजय, मुनि जम्बूविजय एवं मुनि तत्त्वानन्दविजय है। यह जैनसाहित्य विकासमण्डल बम्बई से प्रकाशित है।

१. **अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय**—श्री हेमचन्द्राचार्य, २. **आचार दिनकर**—श्री वर्धमान सूरि, ३. **उपदेशतरंगिणी**—श्री रत्नमंदिरगणि, ४. **ऋषिमण्डलस्तवन यन्त्र**—श्री सिंहतिलकसूरि, ५. **जिनपञ्जर स्तोत्र**—श्री कमलप्रभसूरि, ६. **जिनसहस्रनाम स्तवनम्**—पण्डित आशाधर, ७. **तत्वार्थसार दीपक**—भट्टारक श्री सकलकीर्ति, ८. **तत्त्वानुशासन**—श्रीमन्नागसेनाचार्य, ९. **द्वात्रिंशद्—द्वात्रिंशिका**—उपाध्याय श्री यशोविजयजी, १०. **धर्मोपदेशमाला**—श्री जयसिंहसूरि, ११. **नमस्कार महात्म्यम्**—श्री सिद्धसेनसूरि, १२. **पञ्चनमस्कृतिदीपक**—श्री सिंहनन्दि, १३. **पञ्चनमस्कृतिस्तुति**—श्रीजिनप्रभसूरि, १४. **पञ्चपरमेष्ठि नमस्कारस्तव**—श्री जिनप्रभसूरि, १५. **परमात्मपञ्चविशंतिका**—श्रीयशोविजयगणि, १६. **परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प**—श्री सिंहतिलकसूरि, १७. **मन्त्रराजरहस्य**—श्री सिंहतिलकसूरि, १८. **मन्त्रसार समुच्चय**—श्री विजयवर्णी, १९. **मातृकाप्रकरण**—श्री रत्नचन्द्रगणि, २०. **मायाबीजकल्प**—जिनप्रभसूरि, २१. **लघुनमस्कारचक्रस्तोत्र**—श्री सिंहतिलकसूरि, २२. **वीतराग स्तोत्र**—श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, २३. **शक्रस्तवः**—सिद्धर्षि २४. **श्राद्धविधिप्रकरण**—श्रीरत्नशेखरसूरि, २५. **श्रीअभयकुमारचरित्र**—श्रीचन्द्रतिलकोपाध्याय, २६. **श्री जिनसहस्रनामस्तोत्रम्**—श्री विनयविजयगणि, २७. **पञ्चपरमेष्ठिस्तव**—अज्ञात, २८. **श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानु**— शासन—श्रीहेमचन्द्र सूरि, २९. **श्री हरिविक्रमचरित**— श्री जयतिलकसूरि, ३०. **षोडशक प्रकरण**—श्री हरिभद्रसूरि, ३१. **संस्कृतद्वयाश्रयमहाकाव्य**—श्री हेमचन्द्राचार्य, ३२. **सिद्धभक्त्यादिसंग्रह**—आचार्य श्री पूज्यपाद, ३३. **सुकृतसागर**—श्री रत्नमण्डन गणि, ३४. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** —श्री हेमचन्द्राचार्य

इस प्रकार इसमें तंत्र सम्बन्धी लगभग पैंतीस ग्रन्थों या ग्रन्थांशों का संकलन हुआ है।

लघुविद्यानुवाद

यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र विद्या का यह एक मात्र सन्दर्भ ग्रन्थ है। **विद्यानुवाद** आदि की हस्तलिखित प्रतों और हस्तलिखित गुटकों के आधार पर यह ग्रन्थ तैयार किया गया है। यह पाँच खण्डों में विभाजित है। इसके प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में ऋषभादि चौबीस तीर्थंकर की वंदना की गयी है। तदुपरान्त

मन्त्र साधक के लक्षण, सकलीकरण, मन्त्रसाधनविधि, मन्त्रजापविधि, मन्त्रशास्त्र में अकडम चक्र का प्रयोग, मन्त्रसाधनविधि, मुहूर्तकोष्टक, मन्त्र सिद्ध होगा अथवा नहीं यह जानने की विधि, मंडलों का नक्शा आदि वर्णित हैं। द्वितीय खंड में स्वर–व्यंजनों का स्वरूप एवं शक्ति, विभिन्न रोगों व कष्टों के निवारण हेतु ५०८ मंत्र विधि सहित दिये गये हैं। तृतीय खंड में यंत्र लिखने एवं बनाने की विधि, यंत्र की महिमा, छंद का भावार्थ, शकुन्दापन्दरिया यन्त्र, मनोकामनासिद्धि यन्त्र आदि विभिन्न यन्त्र चित्र सहित दिये गये हैं। चतुर्थ खंड में प्रत्येक तीर्थंकर काल में उत्पन्न शासन रक्षक, यक्ष–यक्षिणियों के चित्रसहित स्वरूप एवं होम विधान दिये गये हैं। पंचम खंड में विभिन्न तन्त्रों के माध्यम से इष्ट सिद्धि का वर्णन किया गया है, अतएव इसे तन्त्राधिकार भी कहा गया है।

मंत्रचिंतामणि

पं० धीरजलाल शाह की यह कृति भी एक संग्रह कृति कही जा सकती है। इसमें भी जैन और हिन्दू दोनों ही परम्पराओं के अनुसार तांत्रिक साधना के विधि विधान दिए गये हैं। इसमें जैन धर्म में ॐ (ओंकार) उपासना, ह्रींकार उपासना, ह्रींकार उपासना में पंचपरमेष्ठि चौबीस तीर्थंकर, पार्श्वनाथ, धरणेन्द्र तथा पद्मावती की उपासना की भी चर्चा की गई है। इस प्रकार यह हिन्दू परम्परा के मंत्रों के साथ–साथ जैन परम्पराओं के नमस्कार मंत्र की भी चर्चा करता है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह जैन तंत्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

मंत्राधिराज

इसके लेखक बसन्तलाल, कान्तीलाल एवं ईश्वरलाल हैं। यह कृति ऊँकारसाहित्यनिधि, भीलडियाजी तीर्थ से प्रकाशित है। इसमें नमस्कार मंत्र के महत्त्व आदि की चर्चा है। साथ ही नमस्कार मंत्र की साधना से होने वाली भौतिक उपलब्धियों की भी लेखक ने चर्चा की है।

मंत्र–विद्या

लेखक करणीदान सेठिया, प्रकाशक–करणीदान सेठिया, ६ आरमेनियम स्ट्रीट, कलकत्ता, विक्रम संवत् २०३३१

यह कृति तीन खण्डों में विभक्त है। मंत्रविद्या खण्ड, तंत्रविद्याखण्ड और यंत्रविद्या खण्ड। जैन परम्परा के अनुसार मंत्र, यंत्र और तंत्र का उल्लेख तो इसमें है ही, किन्तु इसके साथ–साथ इसमें लोकपरम्परा के अनुसार भी

मंत्र, तंत्र और यंत्रो के प्रयोग दिये गये हैं। मंत्रों के साथ–साथ इसमें विद्याओं का भी उल्लेख हुआ है। विद्याओं के प्रसंग में इसमें वर्धमानविद्या, लोगस्सविद्या, शक्रस्तव विद्या का भी उल्लेख है। मंत्रों में पार्श्वमंत्र, मणिभद्रमंत्र, गौतममंत्र, पद्मावतीमंत्र, ज्वालामालिनीमंत्र, घण्टाकर्णमंत्र आदि के साथ–साथ सूर्यमंत्र, गणेशमंत्र, हनुमानमंत्र, भैरवमंत्र, गोरखमंत्र, मुस्लिममंत्र आदि का भी इसमें संकलन किया गया है। जो कि जैन परम्परा सम्मत नहीं है। यही स्थिति यंत्रों और तंत्रो में भी है। सम्मोहन, आकर्षण, वशीकरण आदि संबंधी मंत्र और तंत्रों के प्रयोग इसमें वर्णित है। जो जैन परम्परा की मूलभूत आध्यात्मिक दृष्टि के विपरीत ही कहे जा सकते है। फिर भी यह जैन मंत्र, तंत्र और यंत्रों का एक अच्छा संकलन ग्रन्थ है।

मंत्र शक्ति

प्रवचनकार– आचार्य पुष्पदंतसागरजी महाराज, सम्पा०–मुनि श्री तरुणसागरजी महाराज, प्रकाशक–अजयकुमार कासलीवाल पंछी, इन्दौर एवं प्रमोदजैननौगामा, बांसवाड़ा।

इस पुस्तिका में आचार्य श्री पुष्पदंतसागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन है। जिसमें मुख्यरूप से 'णमोकरमंत्र' के महत्त्व का आख्यानों के माध्यम से वर्णन किया गया है आचार्य श्री के अनुसार पंचणमोक्कार मंत्र की शक्ति अनुपम है। संसार के सभी मंत्र इसके ही गर्भ से जन्में हैं। इस मंत्र में ५ पद, ५८ मातृकाएँ एवं ३५ व्यंजन हैं। जो अलौकिक शक्ति से युक्त हैं। इसमें मंत्र सिद्ध करने वाले की पात्रता का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। जैन तंत्र की दृष्टि से कृति महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार जैन परम्परा में विपुलमात्रा में तांत्रिक साहित्य का सर्जन हुआ है। इस विधा के स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना क्रम का प्रारम्भ लगभग दसवीं शती से होकर सम्प्रतिकाल तक निरन्तर जारी है।

अध्याय–१२

परिशिष्ट

जैन आचार्यों द्वारा विरचित तान्त्रिक स्तोत्र

श्री नमिऊण स्तोत्र

–आचार्य मानतुंग

नमिऊण पणय सुरगण चूड़ामणि–किरणरंजिअं मुणिणो।
चलणजुयलं महाभय–पणासणं संथवं वुच्छं।।१।।
सडियकर–चरण–नह–मुह–निव्वुडनासा विवन्नलावन्ना।
कुट्ठ–महारोगानल–पुलिंग–निद्दड्ढ–सव्वंगा।।२।।
ते तुह चलणाराहण–सलिलंजलिसेयवुड्ढि–उच्छाहा।
वणदवदड्ढा गिरि–पायवव्व पत्ता पुणो लच्छिं।।३।।
दुव्वायखुभिय जलनिहि, उब्भड – कल्लोलभीसणारावे।
संभंत भयविसंठुल–निज्जामय–मुक्कवावारे।।४।।
अविदलिय–जाणवत्ता, खणेण पावंति इच्छियं कूलं।
पासजिण–चलणजुयलं निच्चं चिअ जे नमंति नरा।।५।।
खरपवणद्धुय वणदव–जालावलिमिलियसयलदुमगहणे।
डज्झन्तमुद्धमयबहु–भीसणरव–भीसणंमि वणे।।६।।
जगगुरुणो कमजुयलं–निव्वाविय–सयलतिहुअणाभोअं।
जे संभरंति मणुआ, न कुणइ जलणो भयं तेसिं।।७।।
विलसंत–भोगभीसण–फुरिआरुणनयणतरलजीहालं।
उग्गभुयंगं नवजलय–सच्छहं भीसणायारं।।८।।
मन्नंति कीडसरिसं, दूर–परिच्छूढविसम–विसवेगा।
तुह नामक्खर–फुडसिद्ध–मंतगुरुआ नरा लोए।।९।।
अडवीसु भिल्ल–तक्कर–पुलिंद–सद्दूल–सद्दभीमासु।
भयविहुवरवुन्नकायर–उल्लूरिय–पहियसत्थासु।।१०।।
अविलुत्तविहवसारा तुह नाह! पणाममत्तवावारा।
ववगयविग्घा सिग्घं, पत्ता हियइच्छियं ठाणं।।११।।
पज्जलियानलनयणं, दूर–वियारियमुहं महाकायं।

नहकुलिसघायविअलिय–गइंद–कुंभत्थलाभोअं।।१२।।
पणयससंभमपत्थिव–नहमणिमाणिक्क पडिय पडिमस्स।
तुह वयण–पहरणधरा सीहं कुद्धं पि न गणति ।।१३।।
ससिधवल–दंतमुसलं दीहकरुल्लाल–वुड्ढि–उल्छाहं।
महुपिंगनयणजुयलं, ससलिल–नवजलहरारावं।।१४।।
भीमं महागइंदं, अच्चासन्नंपि ते न वि गणंति।
जे तुम्ह चलण–जुयलं, मुणिवइ ! तुंगं समल्लीणा।।१५।।
समरम्मि तिक्खखग्गा–भिघायपव्विद्धुउद्धुयकबंधे।
कुंतविणिभिन्नकरिकलह–मुक्क सिक्कारपउरम्मि।।१६।।
निज्जियदप्पुद्धुररिउ–नरिंदनिवहा भडा जसं धवलं।
पावंति पावपसमिण! पासजिण! तुहप्पभावेण।।१७।।
रोग–जल–जलण–विसहर–चोरारि–मइंद–गय–रणभयाइं।
पासजिणनामसंकि–त्तणेण पसमन्ति सव्वाइं ।।१८।।
एवं महाभयहरं, पासजिणंदस्स संथवमुआरं।
भवियजणाणंदयरं, कल्लाण–परंपर निहाणं ।।१६।।
रायभव–जक्ख–रक्खस–कुसुमिण–दुस्सउण–रिक्खपीडासु।
संझासु दोसु पंथे, उवसग्गे तह य रयणीसु।।२०।।
जो पढइ जो अ निसुणइ, ताणं कइणो य माणतुंगस्स।
पासो पावं पसमेउ, सयल–भुवणच्चिअच्चलणो।।२१।।
उवसग्गंते कमठा–सुरम्मि झाणाओ जो न संचलिओ।
सुर–नर–किन्नर–जुवईहिं, संथुओ जयउ पासजिणो।।२२।।
एयस्स मज्झयारे, अट्ठारस अक्खरेहिं जो मंतो।
जो जाणइ सो झायइ, परमपयत्थं फुडं पासं।।२३।।
पासह–समरणं जो कुणइ, संतुट्ठ हियएण।
अट्ठुत्तरसय–वाहिभयं, नासइ तस्स दरेण।।२४।।
भत्तिब्भर अमर पणयं पणमिय परमिट्ठि पंचयं सिरसा।

नमस्कारमंत्रस्तव

—आचार्य मानतुंग

नवकारसारथवणं भणामि भव्वाण भयहरणं।।१।।
ससिसुविही अरहिंता सिद्धा पउमाभ–वासुपुज्ज जिणा।

धम्मायरिया सोलस पासो मल्ली उवज्झाया।।२।।
सुव्वय–नेमी साहू दुट्ठा रिट्ठस्स नेमिणो धणियं।
मुक्खं खेयरपयविं अरिहंता दिंतु पणयाणं।।३।।
तिय लोय वसीयरणं मोहं सिद्धा कुणंतु भुवणस्स।
जल जलणए सोलस पयत्थ थंभंतु आयरिया।।४।।
इह लोइयलाभकरा उवज्झाया हुन्तु सव्वभयहरणा।
पावुच्चाडण–ताडण निउणा साहू सया सरह।।५।।
महिमण्डलमरहन्ता गयणं सिद्धाय सूरिणो जलणो।
वर संवर मुवझाया पवणो मुणिणो हरन्तु दुहम्।।६।।
ससिधवला अरहन्ता रत्ता सिद्धाय सुरिणो कणया।
मरगयाभा उवझाया सामा साहू सुहं दिंतु।।७।।
सी सत्था अरहन्ता सिद्धा वयणम्मि सूरिणो कंठे।
हिय यम्मि उवज्झाया चरण ठिया साहुणो बंदे।।८।।
अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाय तहा मुणिणो।
पंचक्खर निप्पन्नो ओंकारो पंच परमेट्ठी।।९।।
वट्ट कला अरिहन्ता तिउणा सिद्धाय लोढकल सूरी।
उवज्झाया सुद्धकला दीह कला साहुणो सुहया।।१०।।
पुंसित्थि–नपुंसय–रायपुरिस–बहुसद्दवण्णणिज्जाणं।
जिण–सिद्ध–सूरि–वायग–साहूणकमे णमंसामि।।११।।
पढमदुसरारिहंता चउस्सरा सिद्धसूरि–उवज्झाया।
दुगदुगसरा कमेणं नंदन्तु मुनीसरा दुसरा।।१२।।
ते पुण अ ए क च ट त प य सत्ति नव वग्ग वन्न पणयाला।
परमिट्ठि मण्डल कमा पढमंतिमतुरिय तिय वीया।।१३।।
ससि सुक्के अरिहंते रवि मंगल सिद्ध गुरु–वुहा सूरि।
सरह उवज्झाय केऊ कमेण साहू सणी राहू।।१४।।
वण्ण निवहो कगाई जेसिं बीओ हकार पज्जंतो।
निय निय संजोगा सरेमि चूडामणिं तेहिं।।१५।।
सेयारुण पीय पीयुंगुवन्न कसिणाइ विड वित्तपाई।
अंबिल–महु–तिक्ख–कसाय–कडुय परमिट्ठिणो वंदे।।१६।।
पुव्वाणुपुव्वि हिट्ठा समया भेएण कुरु जहाजिट्ठं।

उवरिमतुल्लं पुरओ निसिज्ज पुव्वक्कमो सेसो।।१७।।
जम्मिय निक्खित्ते खलु व सोचेहविज्ज अंक विन्नासो।
सो होई समय भेआ वज्जेयव्वो पय तेणं।।१८।।
इच्छिय पय अंकाणं, नाससब्भासो (वो) य भंग परिमाणं।
अतंकभागलद्ध ठवियं का पुण पुणुद्धरियं।।१६।।
मूलग पति दुगेणं अके जो ठविय दुन्नि जे अंका।
तसि दुभगे काउं निसिज्ज कमक्कमेण तु।।२०।।
नंदा तिहि अरिहंता भद्दा सिद्धा य सूरिणो य जया।
तिहि रित्ता उवज्झाया पुण्णा साहू सुहं दिंतु।।२१।।
ससि मंगल अरिहन्ता बुहो य सिद्धा य सुर गुरु सूरी।
सुक्को उवझाय पुणो साहू मंदो सुहं भाणू।।२२।।
कत्तिय चित्तो अरिहा वइसाहो–मग्गमास सिद्धा।
पोसो जिट्ठो भद्दव आसोआ सूरिणो सुहया।।२३।।
महासाढ़ुज्झाया फग्गुणमासो य सावणो साहू।
महमंगलमरिहंता अचिंत चिंतामणी दिंतु।।२४।।
पुस्ससयरा अरहंता धणिट्ठा पंचगा य सिद्धा य।
दिगुं रिक्खा आयरिया णमामि सिरसाय भत्तीए।।२५।।
अद्दाई जे रिक्खा उवझाया तेसि दिंतु गुण निबहं।
चित्ता साई साहू सासय सुक्ख महं दिंतु।।२६।।
जमु कन्नाविस अरिहा मेसो मयरो य अंतिणो सिद्धा।
पंचाणण अली सूरी धणु मिहुणोज्झावया वंदे।।२७।।
वक्कड़ तुला य साहूदोहद रासी य पंच परमिट्ठी।
भावे णं थुण माणो, पावइ सुक्खं य मुक्खं च।।२८।।
तं नत्थि जं न इत्थ निमित्त गह गणिय मंत तंताई।
जं पत्थिय पयच्छइ कहेइ जं पुच्छिय सयंल।।२६।।
तिहुयण सामिणो विज्जा महमंतो मूलमंतत त्ततियं।
इत्थं ठियं पिन नज्जइ, गुरुवएसं विणा सम्मं।।३०।।
सुमरिय मित्तं पि इमं तत्तं नासेइ सयल दुरियाइं।
पारम्परेण नायं तं नत्थि सुहं न जे कुणई।।३१।।
पच नवकार तत्तं लेसेणं ससिअ अणुह वेणं।

सिरिमाण तुंग माहिंदमुज्जवलं सिव सुह दिंतु।।३२।।
संभरह पढह झायह णिच्चं घोसेह णवह अरहाई।
भद्दपयं जइ इच्छह तस्सेव यं अत्तंणो णाण।।३३।।
नहि उवसग्गा पीडा कूएगह दंसण भओ संका।
जह वि न हवंति एए तो विसंझं भणिज्जासु।।३४।।
एसो परम रहस्सो परमोमंतो इमो तिहुअणम्मि।
ता किमिह बहु विहेहिं पढ़िएहिं पुत्थय सएहिं।।३५।।

इति नमस्कारमंत्रस्तव

—

श्री उपसर्गहर-स्तोत्र (बृहत्)

—आचार्य भ्रदबाहु स्वामी

उवसग्गहरं पासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं।
विसहर–विसनिन्नासं, मंगल–कल्लाण आवास।।१।।
विसहर–फुलिंग–मंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह–रोग–मारी, दुट्ठजरा जंति उवसामं।।२।।
चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ।
नरतिरिएसु, वि जीवा, पावंति न दुक्ख–दोहग्गं ।।३।।
तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि–कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं।।४।।
ॐ अमरतरु–कामधेणु, चिन्तामणि–कामकुंभमाईए।
सिरी पासनाह–सेवा–गयाण गव्वे वि दासत्तं ।।५।।
ॐ ह्रीं श्रीं ऐं ॐ तुह दंसणेण सामिय, पणासेइ रोग–सोग–दोहग्गं।
कप्पतरुमिव जायइ, ॐ तुह दंसणेण समफलहेउ स्वाहा ।।६।।
ॐ ह्रीं नमिऊण पणवसहियं, मायाबीएण धरणनागिंदं।
सिरीकामरायकलियं, पासजिणंदं नमसामि।।७।।
ॐ ह्रीं श्रीं पास विसहर–विज्जामंतेण झाणं झाएज्जा।
धरण पउमादेवी, ॐ ह्रीं क्ष्मल्व्र्यूं स्वाहा।।८।।
ॐ थुणेमि पासं, ॐ ह्रीं पणमामि परमभत्तीए।
अट्ठक्खर–धरणिंदो, पउमावइ पयडिया कित्ती।।९।।

ॐ नट्ठट्ठ–मयट्ठाणे, पणट्ठकम्मट्ठ–नट्ठसंसारे।
परमट्ठ–निट्ठियट्ठे, अट्ठगुणाधीसरं वंदे।।१०।।

पवयणमंगलसारथयं।।

प्रवचनमङ्गलसारस्तवः

–श्री उद्योतन सूरि

अरिहंते णमिऊणं सिद्धे आयरिय–सव्वसाहू अ।
पवयणमंगलसारं वुच्छामि अहं समासेणं।।१।।
पढमं णमह जिणाणं ओहिजिणाणं च णमह सव्वेसिं।
परमोहिजिणे पणमह अणंतओहीजिणे णमह।।२।।
सव्वोहिजिणे वंदे पणमह भावेण केवलिजिणे य।
णमह य भवत्थकेवलिजिणणाहे तिविहजोएणं।।३।।
पणमह उज्जुमईणं विउलमईणं च णमह भत्तीए।
पण्हासमणे पणमह णमह तहा बीयबुद्धीणं।।४।।
पणमेह कुट्ठबुद्धी पयाणुसारीण णमह सव्वेसिं।
पणमामि सुयहराणं णमह य संभिन्नयोयाणं।।५।।
पणमह चउदसपुव्वी तह दसपुव्वी अ वायगे वंदे।
इक्कारसंगसुत्तत्थधारए णमह आयरिए।।६।।
चारणसमणे पणमह तह जंघाचारणे अ पणमामि।
वंदे विज्जासिद्धे आगासगए अ जिणकप्पे।।७।।
आमोसहिणो वंदे खेलोसहि–जल्लमोसहे णमह।
सव्वोसहिणो वंदे पणमह आसीविसे चेव।।८।।
पणमह दिट्ठीविसिणो वयणविसे णमह तत्तलेसिल्ले।
वंदामि सीअलेसे विप्पोसहिणो अ वंदामि।।९।।
खीरासवाण णमिमो महुआसवाण वंदिमो चलणे।
अमयासवाण पणमह अक्खीणमहाणसे वंदे।।१०।।
पणमामि विउव्वीणं जलहीगमणाण भूमिमज्जीणं।
वंदामि अणुअरूवे महल्लरूवे पणिवयामि।।११।।
मणवेगिणो अ पणमह गिरिरायअइच्छगे पणिवयामि।
दिस्सादिस्से णमिमो णमह य सव्विड्ढिसंपन्ने।।१२।।

पणमह पडिमावण्णे तवोविहाणेसु चेव सव्वेसु।
पणमामि गणहराणं जिणजणणीणं च पणमामि।।१३।।
केवलनाणं पणमामि दंसणं तह य सव्वनाणाइं।
चारित्तं पंचविहं तेसु अ जे साहुणो सव्वे।।१४।।
चक्कं छत्तं रयणं ज्झओ अ चमराइँ दुंदुहीओ य।
सिंहासण–किंकिल्ली पणमह वाणी जिणिंदस्स।।१५।।
वंदामि सव्वसिद्धे पंचाणुत्तरनिवासिणो जे अ।
लोगंतिए अ देवे वंदे सव्वे सुरिंदे अ।।१६।।
आहारगदेहधरे उवसामगसेढिसंठिए वंदे।
सम्मदिट्ठिप्पभिई सव्वे गुणठाणगे वंदे।।१७।।
संती कुंथू अ अरो एआणं आसि नव महानिहिणो।
चउदस रयणाणि पुढो छन्नउई गामकोडीओ।।१८।।
ता एयाणं पणमह पणमह अन्ने वि चक्किणो सव्वे।
जे अरहंति पणामं भवम्मि धुवभाविमुक्खा य।।१९।।
बल–केसवाण जुअले पणमह अन्ने वि भव्वठाणे अ।
सव्वे वि वंदणिज्जे पययणसारे पणिवयामि।।२०।।
ॐ मे अ वग्गु वग्गु सोमे सोमणसे होइ महुमहुरे।
किलि किलि अप्पडिचक्का हिलि हिलि देवीओ सव्वाओ।।२१।।
इय पवयणस्स सारं मंगलमेअं तु पूइअं इत्थ।
एयं जो पढइ णरो सम्मदिट्ठी वि गोसग्गे।।२२।।
तद्दिवसं तस्स भवे कल्लाणपरंपरा सुविहिअस्स।
जं जं सुहं पसत्थं मंगल्लं होइ तं तस्स।।२३।।

इति प्रवचनमङ्गलसारस्तवः।

सिरिसूरिमंतथुई

–श्री मानदेव सूरि

(पढमा वायणा)

सिरिसूरिमंतपवरे जे सिद्धा सुयपवुड्ढिसंजणगा।
तव्वयणसंगहो मे वण्णिज्जइ तप्पए नमिउं।।१।।
जिण–ओहिअ–परमोहिअ–णंतोहिअ–णंतणंतओहिजिणा।

केवलि–भवत्थकेवलि–अभवत्थियकेवलीणं च।।२।।
उज्जुमई–विउलमई–वेउव्विलयलद्धि–सव्वलद्धीणं।
पण्हासमणाण तहा जंघाचारणमुणीणं च।।३।।
विज्जासिद्धाण तहा आगासगामीण तह य निच्चं पि।
आमोसहि–विप्पोसहि–खेलोसहि–जल्ल ओसहीणं च।।४।।
सव्वोसहि–आसीविस–अट्ठंगनिमित्तधारयाणं च।
वयणविस–तत्तलेसाण पणमिमो सीयलेसाणं।।५।।
चउदस–दसपुव्वीणं एगारसअंगसुत्तधारीणं।
संभिन्नसोयाण तहा दुवालसंगीण सव्वसिद्धाणं।।६।।
उग्गतवचरणचारीणमेव बत्तीसथुइपयाणं च।
आइम्मि 'नमो ॐ ह्रीं' पढमपयाओ छट्ठिबहुवयणं।।७।।

(बीया वायणा)

खीरासव–महुआसव–अमियासवलद्धियाण पत्तेयं।
अक्खीणमहाणससंठियाण संभिन्नसोयाणं।।१।।
तत्तो पयाणुसारीलद्धीणं तह य बीयबुद्धीणं।
तत्तो य कुट्ठबुद्धीणं सव्वपया 'ॐ नमो' पुव्वं।।२।।
जिण–ओहिं आरब्भा जाव य वेउव्विलद्धिपययं च।
चउदस–दसपुव्वीणं तह उण एगारसंगीणं।।३।।
एए चउवीसपए नायव्वे सूरिणो पवरमंते।
मायावण्णविरहिए नूणमुवरिज्जए निच्चं।।४।।

(तइया वायणा)

रागाइरिउजईणं नमो जिणाणं नमो महं होउ।
एवं ओहिजिणाणं परमोहीणं तहा तेसिं।।१।।
एवमणंतोहीणं णंताणंतोहिजुयजिणाण नमो।
सामन्नकेवलीणं भवाभवत्थाण तेसिं तहा।।२।।
उग्गतवचरणचारीणमेवमित्तो नमो होइ।
चउदस–दसपुव्वीणं नमो तहेगारसंगीणं।।३।।
एएसिं सव्वेसिं एवं काउं अहं नमोकारं।
जमियं विज्जं पउंजे सा मे विज्जा पसिज्झिज्जा।।४।।
निच्चं नमो भगवओ बाहुबलिस्सेह पण्हसमणस्स।

ॐ वग्गु वग्गु निवग्गु निवग्गुमग्गंगयस्स तहा।।५।।
समणे वि य सोमणसे महुमहुरे जिणवरे नमंसामि।
इरिकाली पिरिकाली सिरिकाली तह य महकाली।।६।।
किरियाए हिरियाए अ संगए तिविहकालयं विरए।
सुहसाहए य तह मुत्तिसाहए साहुणो वंदे।।७।।
ॐ किरिकिरिकालिं पिरिपिरिकालिं च (?तहा) सिरिसिरिकालिं।
हिरिहिरिकालिपयं पि य सिरि य सिरि य आयरियकालिं।।८।।
किरिमेरुं पिरिमेरुं सिरिमेरुं तह य होइ हिरिमेरुं।
आयरिमेरुं पयमवि साहंते सूरिणो वंदे।।६।।
इयमंतपयसमेया थुणिया सिरिमाणदेवसूरिहिं।
जिण–सूरि–साहुणो सइ दिंतु थुणंताण सिद्धिसुहं।।१०।।

सिरिसूरिमंतथुई।।

–सिंह तिलक सूरि

पढमपए सुनिविट्ठा विज्जाए सूरिणो गुणनिहिस्स।
गोयमपयभत्तिजुया सरस्सई मह सुहं देउ।।१।।
दुइयपीढे निविट्ठा इमाए विज्जाए निरुवममहप्पा।
तिहुयणसामिणिनामा सहस्सभुयसंजुया संती।।२।।
सिरिगोयमपयकमलं झायंती माणुसुत्तरनगस्स।
सिहरम्मि ठिया णिच्चं संघस्स य मह सुहं देउ।।३।।
*पउमदहपउमनिलया चउसट्ठिसुराहिवाण महमहणी।
सव्वंगभूसणधरा पणमंती गोयममुणिंदं।।४।।
विजया–जया–जयंती–नंदा–भद्दासमण्णिया तइए।
विज्जपएसु निविट्ठा सिरिसिरिदेवी सुहं देउ।।५।।
विज्जाचउत्थपीढे निवेसिओ गोयमस्स अभिरुइओ।
गणिपिडगजक्खराओ अणपणपन्नीकयपइट्ठो।।६।।
सोलससहस्सजक्खाण सामिओ अतुलियबलो उ वीसभुओ।
जिणसासणस्स पडणीयं महरिउवग्गं निवारेओ।।७।।
सोहम्मकप्पवासी एरावणवाहणो उ वज्जकरो।
सेवइ तियसाहिवई सगोयमं मंतवररायं।।८।।

ईसाणकप्पवासी सूलकरो वसहसंठिओ निच्चं।
सेवइ तियसाहिवई सगोयमं मंतवररायं।।६।।
तइयकप्पे निवासी सिरिसुमणो नामओ य चक्ककरो।
सेवइ तियसाहिवई सगोयमं मंतवररायं।।१०।।
सिरिबंभलोयवासी सोमणसो नामओ य बहुसत्थो।
सेवइ तियसाहिवई सगोयमं मंतवररायं।।११।।
अट्ठकुलनागराया सहसफणो सिरिनिविट्ठकरमउलो।
सेवइ धरणिंदो वि य सगोयमं मंतवररायं।।१२।।
रोहिणिपमुहा देवी चउसट्ठिसुराहिवा तहा अन्ने।
सेवइ गोयमचलणे जक्खा--जक्खिणिचउव्वीसं।।१३।।
कणयमयसहसपत्ते कमलम्मि य संठिओ य लद्धिजुओ।
बहुपाडिहेरकलिओ झायव्वों गोयममुणिंदो।।१४।।
'ऑं क्रौं ह्रीं श्रीं'
एएणं मंतेण झाणारम्भे ठविज्जए निच्चं।
अञ्जलिमुद्दाकरणे संनिहियसुराण समवाओ।।१५।।
संनिहियसुरवराणं उस्सग्गो कीरए सपूया य।
कप्पूर–धूव--वासेहिं सव्वहा विहियबंभवओ।।१६।।
थोवजलविहियन्हाणो वरवत्थविभूसिओ य तिक्कालं।
कम्मक्खयहेउं जो समरइ विज्जं इमं विज्जं।।१७।।
*ॐ किरिपिरिसिरिहिरिआयरिअ एयस्स मंतरायस्स।
जावं तिलक्खमाणं करेइ जो सो गोयमो होइ।।१८।।
सोहग्ग य परमिट्ठी सुरही पवयण–करंजली झाणे।
मुद्दापंचगमेयं कायव्वं सव्वकालं पि।।१६।।
किं चिंतामणि कामधेणु कप्पद्दुमसुंदर
नवनिहि–चउदसरयणपवर चक्कित्तण मणहर।
राजा सुवयणि सिरिसूरिविज्ज गोयमसुपइट्ठिय
भुवणत्तय अक्खलियमहप्प निट्ठियकम्मट्ठ य।।२०।।

श्रीसूरिविद्यागर्भितं लब्धिस्तोत्रम्।

—पूर्णचन्द्र सूरि

उत्तत्तकणयवन्नं झाणं धरिऊण सुहगमुद्दाए।
जो झाइ सूरिविज्जं तस्स वसे तिहुअणं सयलं।।१।।
सजलजलवाहकालं झाणं धरिऊण चक्कमुद्दाए।
जो झाइ सूरिविज्जं तस्स खयं जाइ रिउवग्गो।।२।।
जिण—ओहिअ—परमोहिअ—णंतोहिअ—णंतणंतओहिजिणा।
केवलि—भवत्थकेवलि—अभवत्थिअकेवलीणं च।।३।।
उज्जुमई विउलमई वेउव्वियलद्धि—सव्वंलद्धीणं।
पण्हासमणा य तहा जंघाचारणमुणीणं च।।४।।
विज्जासिद्धाणं तह आगासगामीण तह य निच्चं पि।
वयणविस—तत्तलेसाण पणमिमो सीअलेसाणं।।५।।
चउदस—दसपुव्वीणं इक्कारसअंग (सुत्त?) धारीणं।
तह य दुयालसअंगीण उग्गतवचरणचारीणं।।६।।
सव्वेसिं पि जिणाणं एएसि पयाण छट्ठिबहवयणं।
आइम्मि 'नमो' सद्दो 'ॐ ह्रीँ' सद्दि (हि) ओ अ पढमपए।।७।।
सुक्कज्झाणेणेसो कम्मक्खयकारणो परममंतो।
झायव्वो अ तिकालं निच्चं परमिट्ठिमुद्दाए।।८।।
खीरासव—महुआसव—अमियासवलद्धिआण पत्तेयं।
अक्खीणमहाणसलद्धियाण संभिन्नसोयाणं।।९।।
तत्तो पयाणुसारिअलद्धीणं तह य बीयबुद्धीणं।
तत्तो अ कुट्ठबुद्धीण सव्वपया 'ॐ नमो' आसी।।१०।।
एएसिं नमोक्कारं किच्चा इच्चाइ जावओ स्वाहा।
सोहग्गकरी विज्जा नायव्वा गुरुपसाएणं।।११।।
किंसुअसुअमुहवन्नं झाणं धरिऊण जोणिमुद्दाए।
विज्जं सो सोहग्गं पावइ जवईण जोगं च।।१२।।
उत्तत्तकणयवन्नं० ।।१३।।
सजलजलवावन्नं०।।१४।।
इअ एए उवएसा सव्वे नाऊण झाइ जो सूरी।

सो पुन्नचंदसूरीण संमयं लहइ सिवसुक्खं।।१५।।
इति विद्यागर्भितं लब्धिस्तोत्रं समाप्तम्।।

संतिकरथवणं।

—मुनि सुन्दर

संतिकरं संतिजिणं जगसरणं जयसिरीई दायारं।
समरामि भत्त—पालग—निव्वाणी—गरुडकयसेवं।।१।।
'ॐ सनमो विप्पोसहिपत्ताणं संतिसामिपायाणं।
'झ्रौँ स्वाहा' मंतेणं सव्वासिवदुरिअहरणाणं।।२।।
'ॐ संति—नमुक्कारो खेलोसहिमाइलद्धिपत्ताणं।
सौँ ह्रीँ नमो सव्वोसहिपत्ताणं च देइ सिरिं'।।३।।
वाणी—तिहुअणसामिणि सिरिदेवी—जक्खराय—गणिपिडगा।
गह—दिसिपाल—सुरिंदा सया वि रक्खंतु जिणभत्ते।।४।।
रक्खंतु मम रोहिणी—पन्नत्ती वज्जसिंखला य सया।
वज्जंकुसि—चक्केसरि—नरदत्ता—कालि—महकाली।।५।।
गोरी तह गंधारी महजाला माणवी अ वइरुट्ठा।
अच्छुत्ता माणसिआ महमाणसिया उ देवीओ।।६।।
जक्खा गोमुह—महजक्ख—तिमुह—जक्खेस—तुंबरू कुसुमो।
मायंग—विजय—अजिआ बंभो मणुओ सुरकुमारो।।७।।
छम्मुह पयाल किन्नर गरुडो गंधव्व तह य जक्खिदो।
कुबर वरुणो भिउडी गोमेहो पास—मायंगा।।८।।
देवीओ चक्केसरि—अजिआ—दुरिआरि—कालि—महकाली।
अच्चुय—संता—जाला सुतारया सोय—सिरिवच्छा।।९।।
चंडा विजयंकुसि—पन्नइत्ति—निव्वाणि—अच्चुआ—धरणी।
वइरुट्ट—छुत्त—गंधारि—अंब—पउमावई सिद्धा।।१०।।
इय तित्थरक्खणरया अन्ने वि सुरा सुरीउ चउहा वि।
वंतर—जोइणिपमुहा कुणंतु रक्खं सया अम्हं।।११।।
एवं सुदिट्ठिसुरगणसहिओ संघस्स संतिजिणचंदो।
मज्झ वि करेउ रक्खं मुणिसुंदरसूरि थुअ—महिमा।।१२।।
इअ संतिनाहसम्मदिट्ठियरक्खं सरइ तिकालं जो।

सव्वोवद्दवरहिओ स लहइ सुहसंपयं परमं।।१३।।
(तवगच्छगयणदिणयरजुगवरसिरिसोमसुंदरगुरूणं।
सुपसायलद्धगणहरविज्जासिद्धी भणइ सीसो।।१४।।

श्रीगौतमगणधरस्तोत्रम्।

सूरिमन्त्राधिष्ठायकस्तवत्रयी।

—मुनिसुन्दर

जयसिरिविलासभवणं वीरजिणंदस्स पढमसीसवई।
सयलगुणलद्धिजलहिसिरिगोयमगणहरं वंदे।।१।।
'ॐ' सह 'नमो भगवओ' जगगुरुणो 'गोयमस्स सिद्धस्स।
बुद्धस्स पारगस्स अक्खीणमहाणसस्स' सया।।२।।
'अवतर अवतर भगवन्! मम हृदये भास्करीश्रियम्।
बिभृहि ह्रीँ श्रीँ ज्ञानादि वितरतु तुभ्यं नमः स्वाहा'।।३।।
वसइ तुह नाममंतो जस्स मणे सयलवंछियं दिंतो।
चिंतामणि—सुरपायव—कामघडाहि किं तस्स।।४।।
सिरिगोयमगणनायग! तिहुयणजणसरणदुरियदुहहरण!।
भवतारण! रिउवारण! होसु अणाहस्स मह नाहो।।५।।
मेरुसिरे सिंहासण कणयमहासहसपत्तकमलठिअं।
सूरिगणकाणं विसयससिप्पहगोयमं वंदे (?)।।६।।
सव्वसुहलद्धिदाया सुमरियमित्तो वि गोयमो भयवं।
पइट्ठिअगणहरमंतो दिज्जा मम मणवंछियं सयलं।।७।।
इय सिरीगोयमसंथुअं मुणिसुंदरथुइपयं मए पि तुमं।
देहि महासिद्धिसिवफलयं भुवणकप्पतरुवरस्स।।८।।

इति श्रीगौतमगणधरस्तोत्रम्।।

श्रीसूरिमन्त्रस्तुतिः।

—मुनिसुन्दर

जयश्रियं श्रीजिनशासनस्य कलिद्विषोत्थोप्तिकुविघ्नहर्ता।
परे य एते ब्रुवतेऽधुनाऽपि श्रीसूरिमन्त्रं प्रयतः स्तवीमि।।१।।
त्वं तीर्थकृत् त्वं परमं च तीर्थं त्वं गौतमस्त्वं गणभृत् सुधर्मा।
त्वं विश्वनेता त्वमसीहितानां निधिः सुखानामिह मन्त्रराज!।।२।।

किं कामधेनुः सुरपादपो वा किं कामकुम्भः सुमनो मणिर्वा।
यदि प्रसन्नः सकलेष्टदायी श्रीसूरिमन्त्रोऽसि जगत्पतिस्त्वम्।।३।।
त्वयि स्थिते किं ननु विघ्नवर्गाः के दुर्जनाः के प्रतिपक्षभूपाः।
के वैरिणस्ते किमुपद्रवाश्च स्वामिन्! समग्रं हि सुखाकृदेव।।४।।
न लब्धयः काश्चन ते प्रभावात् त्वयि प्रभो! भक्तिभृतां दुरापाः।
सदा सुखानन्दितचेतसो यत् खेलन्ति ते श्रीमहिमप्रभाभिः।।५।।
प्रवर्तितं तीर्थमिदं जनस्य जयाद्यदाहुः प्रसहेत कुष्ठी।
यदानमो यद्विजयी च धर्मस्त्वमत्र हेतुर्भगवाँस्त्वमेव।।६।।
श्रीवर्धमानस्य निदेशतस्त्वं प्रतिष्ठितो गौतमगच्छनेत्रा।
सिद्धिः समग्रा शिवसंपदश्च सर्वोग्रपुण्यानि फलानि दत्से।।७।।
इति महामुनिसुन्दरसंस्तवोऽकृत गणेश्वरमन्त्रपतेर्मया।
महिमवारिनिधेः स्तुतभक्तितो वितर मेऽर्थितसर्वसुखश्रियम्।।८।।
इति श्रीसूरिमन्त्रस्तुतिः।।

श्रीसूरिमन्त्रोस्तोत्रम्।

—मुनिसुन्दर

जयश्रियं शासनमार्हतं श्रीसूरीश्वरा यस्य महामहिम्ना।
नयन्ति बाह्यान्तरवैरिनाशादाचार्यमन्त्रं तमहं स्तवीमि।।१।।
न किं सुखं तस्य वशे न का वा सिद्धिर्न बुद्धिर्न हि वा समृद्धिः।
श्रीमन्त्रणेन भगवन्! निवासं करोषि नित्यं हृदये यदीये।।२।।
गणाधिपो वा जिननायको वा आद्योऽपि धर्मोऽस्य महामहिम्ना।
स्तुतिस्तवैषा शुचितोपमाना न चातिहानस्त्रिदशद्रुमाद्यैः।।३।।
ध्येयस्त्वमेवासि परो जगत्सु प्रभुस्तु दानेऽर्थितशर्मलक्ष्म्या।
इमं पुनः कारण–कार्ययोगं के नामविनोऽग्रभाम्य (?)।।४।।
किमामयस्तस्य खलो रिपुर्वा दुःखं भयं पापमथापि विघ्नः।
त्राताऽसि मन्त्राधिप! यस्य वज्रं भिनत्ति स चाण्वखिलान्यहिद्रून्।।५।।
तीर्थस्य धर्मस्य तथार्हतस्य हेतुस्त्वमेकोऽसि कलौ प्रवृत्ते।
कलेर्हि नान्योऽभिभवे प्रभुत्वं धत्ते दवाग्नेरिव वारिवाहः।।६।।

परमेष्ठिविद्यायन्त्रम् ।

—श्रीसिंहतिलकसूरि

श्रीवीरजिनं नत्वा वक्ष्ये श्रीविबुधचन्द्रपूज्यपदम् ।
गणिविद्यायुगपदतो यन्त्रं परमेष्ठिविद्यायाः ।।१।।
त्रिप्रकारं क्रमशश्चतुरष्ट–द्वयष्टपत्रपाद्मान्तः ।
किञ्जल्कपूज्यबीजं यन्त्रं लेख्यं सुरभिदलैः ।।२।।
मध्ये 'ऽर्हं,' ऊर्ध्वादिषु सि आ उ सा रेखिकादलचतुष्के ।
ऋषभोऽथ वर्धमानश्चन्द्रानन–वारिषेणको दिक्षु ।।३।।
अष्टदलेषु क्रमशो 'युगादिनाथाय' तद् 'नमो' ऽत्रैव ।
गोमुख–चक्रेश्वर्यौ शस्यं कान्तं जिनः सुरश्च सुरी ।।४।।
द्वयष्टदलेषु क्रमशः 'सुविधिजिनाय नमः' इत्यथ त्रिदशः ।
देवी श्रीवीरान्तं एवं तद् वच्मि नामानि ।।५।।
युगादीशोऽजितः स्वामी शम्भवोऽप्यभिनन्दनः ।
सुमतिः पद्मलक्ष्मा श्रीसुपार्श्वश्चन्द्रलाञ्छनम् ।।६।।
सुविधिः शीतलः श्रेयान् वासुपूज्यप्रभस्ततः ।
विमलानन्तधर्मः श्रीशान्ति–कुन्थुररो जिनः ।।७।।
मल्लिः (च) सुव्रत नमी नेमी श्रीपार्श्वतीर्थकृत् ।
'वीर' श्च जिननामान्ते 'नाथाय नमः' इत्यदः ।।८।।
'श्रीगोमुखो महायक्षस्त्रिमुखो यक्षनायकः ।
तुम्बरुः सुमुखस्तस्मान्मातङ्गो विजयोऽजितः ।।९।।
ब्रह्मा यक्षेट् कुमारः षण्मुखः पाताल–किन्नराः ।
गरुडो गन्धर्वो यक्षेन्द्रः कुबरो वरुणस्तथा ।।१०।।
भृकुटिर्गोमेधः पार्श्वो मातङ्गोऽमी निजाश्रिताः ।
चक्रेश्वरी अजितबला दुरितारिश्च कालिका ।।११।।
महाकाल्यच्युता श्यामा भृकुटिश्च सुतारिका ।
अशोका मानवी चण्डा विदिताऽथ प्रियाङ्कुशा ।।१२।।
कन्दर्पा निर्वाणी बला धारिणी धरणप्रिया ।
नरदत्ताथ गान्धारी अम्बिका पद्मावती तथा ।।१३।।
सिद्धायिका इमा जैन्यः क्रमात् शासनदेवताः ।

जिन–देव–सुरीनामत्रयं प्रति दलं दलम्।।१४।।
एकोऽर्हन् सिद्धाद्याः षट् तीर्थेश्वराः क्रमादथ।
चन्द्राभ–सुविध्याद्या अर्हत्–सिद्धादयः प्राग्वत्।।१५।।

"ॐ नमो अरिहो भगवओ अरिहंत–सिद्ध–आयरिय–उवज्झाय–सव्वसंघ धम्म–तित्थपवयणस्स।

ॐ नमो भगवईए सुयदेवयाए संतिदेवयाए सव्वदेव–पवयणदेवयाणं दसण्हं दिसापालाणं पंचण्हं लोगपालाणं ठः ठः स्वाहा।।"

विधेयं वलयाकृत्या लेख्या नव–गज (८६) प्रमा।
अस्यां वर्णाः श्लोकयुग्मं पञ्चविंशतिरक्षराः।।१६।।
मघवाऽग्निर्यमो रक्षो वरुणो वायुदिक्पतिः।
पूर्वादौ धनदेशानौ नागो विधिरुर्ध्वगः।।१७।।
अट्ठमहारिद्धीओ हिरि–सिरि–लच्छि–बुद्धि–कंतीओ।
विजया जया जयन्ती वियरइ अपराजिया वि तहिं।।१८।।
पूर्वादिक्रमतो दिक्षु एतद्गाथां ह्रिरेकतः।
एकतः श्रुतदेवी तु पुस्तकाम्भोजशालिनी।।१६।।
एकतः शान्तिदेवी च करे स्वर्णकमण्डलुः।
सुधारसभृतं पद्माऽक्षसूत्राद्यपि बिभ्रती।।२०।।
राजत–स्वर्ण–रत्न (नां) प्राकारत्रितयं दिशेत्।
चतुर्द्वारं स्फुरद्रत्न–ध्वज–तोरणराजितम्।।२१।।
भूमण्डलं ततो दिक्षु 'क्षि' विदिक्षु 'ल' कारवान्।
यद्वाऽप्मण्डलं सार्धं 'व' कारैः कलशाकृति।।२२।।
इति यन्त्रलेखनम्।।

प्रागस्याश्चतस्रोऽस्ति निरशनं चैकम् (?)।
आदावन्त्ये मध्ये एकादश जलयुतान्तानि।।२३।।
दुःशील–निह्नव–गुरुद्रोहक–विध्वस्तचैत्य–यतनीकान्।
पालकपञ्चककृतमपि यो दूरात् त्यजति योग्य इह।।२४।।
जिनभक्तिर्गुरुसेवी अव्यसन–विवाद–राजभक्तकथः।
प्रियवाग् जितेन्द्रियमना योग्यः परमेष्ठिविद्यायाः।।२५।।

पूर्वोत्तरेशदिग्वक्त्रः पद्मासन–सुखासनः।
सौभाग्य–योगमुद्राभृत् कृताह्वानादिकक्रियः।।२६।।
'ॐ भूरिसि भूतधात्री भूमिशुद्धिं कुरु कुरु।
स्वाहा' इति कौङ्कुमाम्भोभिश्चिन्त्यं तद्भूमिसेचनम्।।२७।।
'ॐ ह्रीं विमले तीर्थजलान्तरशुचिः शुचिः।
भवामि स्वाहा' इति शान्तिदेवी मधुरितेक्षणा।।२८।।
कमण्डलुसुधाम्भोभिर्मा स्नापयतेऽथवा।
षोडश विद्यादेव्यस्तीर्थाम्भोभिर्विचिन्त्यताम्।।२६।।
यद्वा चन्द्रसुधास्नातः क्षाराब्धौ योजनप्रमम्।
पुण्डरीकं समारूढो द्रष्टुं तानर्हदादिमान्।।३०।।
पाएहि रक्खपालो कणयमयंको हुयासणो जाणुं।
उर–नाहि–हियय–पट्ठी दो हत्था पास–मुह–सीसं।।३१।।
धणपालो जयपालो अच्छुत्ता भयवई य वयरुट्टा।
देवो हेरिणगवेसी वज्जधरो रक्खए सव्वं।।३२।।
"ॐ श्रीं द्रॉं णॉं ऑं ह्रौं ॐ अ सि आ उ सा क्षिप ॐ स्वाहा।।
विहिताष्टाङ्गदिग्रक्षश्चन्द्रादिवर्णभानिमान्।
विद्याक्षरान् स्मरन् शान्तिप्रमुखं तनुतेऽचिरात्।।३३।।
सम्यग्दृशा महाब्रह्मचारिणा गुरुवक्त्रतः।
गृहीता पठिता सिद्धा विद्या सर्वकरी मता।।३४।।
व्याख्यानादौ विवादे वा विहारे जनरञ्जने।
सप्तकृत्वः स्मृता विद्या तत्तत्कार्यप्रसाधिका।।३५।।
जातीपुष्पयुतैः शालितन्दुलैः सत्फलैरपि।
जप्ता दशांशहोमेन प्रीणिता कुरुते न किम्?।।३६।।
एतद्विद्यान्तरोद्भूतखाण्डविद्याफलान्यथा।
वक्ष्यामि जैनसिद्धान्तरहांसि स्मरणाकृते।।३७।।
'सत्त्व' शब्दं विना विद्या गुरुपञ्चकनामभूः।
द्व्यष्टाक्षरात्महृत्पद्मे गर्भे देवो निरञ्जनः।।३८।।
यद्वा–"अर्हत्–सिद्धाचार्योपाध्याय–सर्वसाधुभ्यो नमः"।।
हृदम्बुजे इमां विद्यां संस्कृतैः षोडशाक्षरैः।
लभते द्विशतीं ध्यायन् चतुर्थतपसः फलम्।।३६।।

'अरिहंत–सिद्ध' शब्दाज्जपन् विद्यां षडक्षरीम्।
शतत्रयेण लभते चतुर्थतपसः फलम्।।४०।।
'अरिहंत' चतुर्वर्णं जपन् ध्यानी चतुःशतीम्।
लभते दृष्टजैनात्मा चतुर्थतपसः फलम्।।४१।।
'अ'वर्ण तु सहस्रार्ध' (५००) नाभ्यब्जे कुण्डलीतनुम्।
ध्यायन्नात्मानमाप्नोति चतुर्थतपसः फलम्।।४२।।
गुरुपञ्चकनामाद्यमेकैकमक्षरं तथा।
नाभौ मूर्ध्नि मुखे कण्ठे हृदि स्मर क्रमान्मुने!।।४३।।
'अ'वर्णं नाभिपद्मान्ते 'सि'वर्णं तु शिरोऽम्बुजे।
'सा' मुखाम्बुजे 'आ' कण्ठे 'उ'कारं हृदये स्मर।।४४।।
मन्त्राधीशः पूज्यैरुक्तोऽसौ किन्तु देहरक्षायै।
शीर्ष–मुख–कण्ठ–हृत्–पदक्रमेण 'असिआउसा' स्थाप्याः।।४५।।
प्रणवः पञ्चशून्यान्यग्रे 'असिआउसा नमः'।
अस्याभ्यासादसौ सिद्धिं प्रयाति गतबन्धानः।।४६।।
शाम्यन्ति जन्तवः क्षुद्रा व्यन्तरा ध्यानधातिनः।
तद् वक्ष्येऽष्टदिक्पत्रे गर्भे सूर्यमहः स्वकम्।।४७।।
'ॐ नमो अरिहंताणं' क्रमात् पूर्वादिपत्रगम्।
प्रत्याशमेकमेकाहः एकादशशतीं जपेत्।।४८।।
ध्यानान्तरायाः शाम्यन्ति मन्त्रस्यास्य प्रभावतः।
कार्ये सप्रणवो ध्येयः सिद्धये प्रणवं विना।।४९।।
यदिवाऽष्टदले पद्मे गर्भे स्यात् प्रथमं पदम्।
दिक्षु (४) सिद्धादिचतुष्कं विदिक्ष्वन्यचतुष्ककम्।।५०।।
एतां नवपदीं विद्यां प्रणवादि विना स्मरेत्।
'नमो अरिहंताणं' यदिवाऽन्तश्चतुर्दले।।५१।।
सिद्धादिकचतुष्कं च दिग्दलेषु मुनीन्दुभिः।
अपराजितमन्त्रोऽयं मुक्तपापक्षयङ्करः।।५२।।
हृदि वा 'नमो सिद्धाणं' अन्तर्दलचतुः क्रमात्।
पञ्चवर्णमयो मन्त्रो ध्यातः कर्मक्षयङ्करः।।५३।।
'श्रीमदृषभादि–वर्धमानान्तेभ्यो नमः' मयः।
मन्त्रः स्मृतः सर्वसिद्धिकराऽत्र तीर्थशब्दतः।।५४।।

'श्रुतदेवता' शब्देन सरस्वती वाच्या।
"ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि! पापात्मक्षयङ्करि!
श्रुतज्ञानज्वालासहस्त्रप्रज्वलिते! मत्पापं हन हन दह दह
क्षाँ क्षीं क्षूँ क्षौं क्षः क्षीरधवले! अमृतसंभवे वं वं हुं हुं स्वाहा।।"
गणभृद्भिर्जिनैरुक्तां तां विद्यां पापभक्षिणीम्।
स्मरन्नष्टशतं नित्यं सर्वशास्त्राब्धिपारगः।।५५।।
*वाग् माया कमलाबीजं क्ष्वाँ क्ष्वीं श्रीं ततः स्फुर स्फुर।
ॐ क्लाँ क्लीं ऐं वागीश्वरी भगवती मरुन्नभः।।५६।।
एनं सारस्वतं मन्त्रं विबुधाचन्द्रपूजितम्।
स्मरेत् सरस्वती देवी साक्षाद् ध्यातुर्वरप्रदा।।५७।।
अत्र विशेषः (कुण्डलिनीवर्णनम्)–
गुदमध्य–लिङ्गमूले नाभौ हृदि कण्ठ–घण्टिका–भाले।
मूर्धन्यूर्ध्वं नव षट् कण्ठान्ता पञ्च भालुयुताः।।५८।।
आधाराख्यं साधिष्ठानं मणिपूर्णमनाहतम्।
विशुद्धि (द्ध)–ललना–ऽऽज्ञा–ब्रह्म–सुषुम्णाख्यया नव।।५९।।
अम्बुधि–रस–दश–सूर्याः षोडश विंशतिः गुणास्तु षोडशकम्।
दशशतदलमथवाऽन्त्यं षट्कोणं मनसाक्षपदम्।।६०।।
दलसंख्या इह साद्या ह–क्षान्ता मातृकाक्षराः।
षट्सु चक्रेषु व्यस्तमिता देहमिदं भारतीयन्त्रम्।।६१।।
आधाराद्या विशुद्धन्ता पञ्चान्तस्तालुशक्तिभृत्।
आज्ञा भ्रूमध्यतो भाले मनो ब्रह्मणि चन्द्रमाः।।६२।।
रक्तारुणं सितं पीतं सितं रक्तत्रयं सितम्।
चक्र वर्णा इतः प्राग्वदादौ पत्राणि पञ्चसु।।६३।।
चतुष्टये क्रमात् सूर्याः त्रि–षट्–द्वयष्टदलावली।
तदन्तर्नवबीजानि त्रिष्वादौ त्रिपुराऽथवा।।६४।।
नवचक्रान्तः क्रमशो वाग्भवमुख्यानि मन्त्रबीजानि।
तत्राद्ये रविरोचिषि त्रिकोणमर्केन्दुनाडिभ्याम्।।६५।।

---

* मन्त्रोद्धारः– "ऐं ह्रीं क्लीं क्ष्वाँ क्ष्वाँ श्रीं स्फुर स्फुर, ॐ क्लाँ क्लीं ऐं वागीश्वरी भगवती स्वाहा।

भगबीजमेतदूर्ध्वं कुण्डलिनीतन्तुमात्रमभ्रकलम् ।।६६।।
वाग्भवबीजं श्वेतं ध्यातं सरस्वतीसिद्धिः ।।
अरुणमिदं वह्निपुरं ध्यातं मात्रां विनाऽपि वश्यकृते।
किन्तु समात्रं यद्वा मायान्तः कामबीजमध्ये वा।।६७।।
ध्यातं साधिष्ठाने षट्कोणे ह्रीं स्मरस्य बीजमुत।
ईकाराङ्कशताणितशरो वर–स्त्रीकमिह वश्यम्।।६८।।
मणिपूर्णे श्रीबीजं जपारुणं वर्णदशकदशदिग्भ्यः।
ईश्वरताणितवस्तूच्छ्रयमिह वश्यं च लाभकरम्।।६९।।
भालान्तर्भ्रूमध्ये त्रिकोण–कोदण्डखेचरीत्याख्यम्।
अस्योर्ध्वं मध्ये वा माया–स्मरबीजयोरेकम्।।७०।।
आधारान्तर्वाग्भवकुण्डलिनीतन्तुबद्धवश्यशिरः।
कृत्वाऽधः स्थितमरुणं ध्यातं बीजान्तरुत वश्यम्।।७१।।
यदिवा–
भ्रूमध्यान्तः 'क्ष्वीं क्ष्वीं' बीजं निर्यदमृतवर्षभरम्।
ध्यातं विषरोगहरं त्रिकोणके मूर्ध्नि पूर्ववत् स्वरम्।।७२।।
यदिवा–
कुण्डलिनीतन्तुद्युतिसंभृतमूर्तीनि सर्वबीजानि।
शान्त्यादिसंपदे स्युरित्येष गुरुक्रमोऽस्माकम्।।७३।।
किं बीजैरिह शक्तिः कुण्डलिनी सर्वदेववर्णजनुः।
रवि–चन्द्रान्तर्ध्याना मुक्त्यै भुक्त्यै च गुरुसारम्।।७४।।
भ्रूमध्य–कण्ठ हृदये नाभौ कोणे त्रयान्तराध्यातम्।
परमेष्ठिपञ्चकमयं मायाबीजं महासिद्धयै।।७५।।
विबुधचन्द्रगणभृच्छिष्यः श्रीसिंहतिलकसूरिरिमम्।
परमेष्ठिमन्त्रकल्पं लिलेख सह्लाददेवताभक्त्या।।७६।।
इति परमेष्ठिमन्त्रकल्पः।।

लघुनमस्कारचक्रम्।।

–श्रीसिंहतिलकसूरि

नत्वा विबुधचन्द्रार्च्यं यशोदेवमुनिं गुरुम्।
वक्ष्ये लघुनमस्कारचक्रं साह्लाददेवता।।१।।

द्व्यष्टरेखाभिरष्टारं सप्तभिर्दशभिः परम्।
रेखाभिरष्टवलयं चक्रं तुम्बे जिनाक्षरः (रम्)।।२।।
"ॐ नमो अरिहंताणं" आद्यं पदचतुष्टयम्।
अरमध्ये द्विरावर्त्य लेख्यं प्रणवपूर्वकम्।।३।।
पाशाङ्कुशाभयैः सार्द्धं वरदोऽरान्तरे क्रमात्।
लिख्यतेऽमु (ष्यो) पान्तेऽथ 'आँ क्रौं ह्रीं श्रीं" चतुष्टयम्।।४।।
प्राक् "प्रणवो नमो लोए सव्वसाहूणं" इत्यपि।
प्रथमे वलये लेख्यं प्राग्वत् पञ्चपदीफलम्।।५।।
"ॐ नमो चत्तारि मंगलं अरिहंता मंगलं सिद्धा।"
जाव "धम्मं सरणं पवज्जामि" एवं द्वादशपदी।।६।।
अर्हत्–सिद्धाः साधुर्धर्मो मङ्गलचतुष्टयं तद्वत्।
लोकत्तरशरणावपि लेख्यं वलये द्वितीये तु।।७।।
द्वादशान्तमनाः साधुः पञ्चदशपदीमिमाम्।
विद्यां सप्रणवां ध्यायन् शिवं यात्यपकल्मषः।।८।।
उक्तं च–
"मङ्गल'लोकोत्तम–शरण्यपदसमूहं सुसंयमी स्मरति।
अविकलमेकाग्रतया लभ्यते स स्वर्गमपवर्गम्"।।९।।
तृतीये वलये "ॐ–माया" युता वर्णसप्ततिः(७०)।
बीजाक्षरचतुष्कं च जिनबीजपदाश्रयम्।।१०।।
"ॐ ह्रीं श्रीं ऽर्हं"
"ॐ नमो भगवओ तिहुयणपुज्जस्स वद्धमाणस्स।
जस्सेयं खलु चक्कं जलंतमागच्छए पयडं।।११।।
"आयासं पायालं लोयाणं तह य चेव भूयाणं।
जूए वा रयणे वा विच्चं रायंगणे वावि।।१२।।
एवं च "थंभणे मोहणे तह य सव्वजीवसत्ताणं।
अपराजिओ भवामि स्वाहा" इय मंतविन्नासो।।१३।।
चैत्रेऽष्टाहिकायां तु त्रयोदश्यां विशेषतः।
सहस्रैः जातिकुसुमैः स्प्तभिर्वीरमर्चयेत्।।१४।।
जापैः सहस्रैरेतैः स्यादखण्डैः शालितन्दुलैः।
दृढब्रह्मव्रतस्यैवं सिद्धाऽसौ पठतोऽथवा।।१५।।

सन्ध्याद्वयं स्मरन्नेवं व्यसनैर्ग्रह–मुद्गलैः।
द्विपादैः श्वापदैर्दुष्टैर्न पराजीयते क्वचित्।।१६।।
वन्ध्यायां काकवन्ध्यायां निन्दू–दुर्भगयोषितोः।
वरं न लभते कन्या या तस्या विधिरेषकः।।१७।।
चैत्ये सातिशये वेश्मैकदेशे शुचिभूतले।
कृत्वा त्रिवर्णचूर्णेन त्रिरेखा–षट्–चतुरस्रवान्।।१८।।
चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु पूर्वादौ वज्र–मुद्गरौ।
परशु–शक्तिमालिख्य मध्येऽष्टपत्रमम्बुजम्।।१६।।
प्रतिपत्रं सुरवन्निमिश्रा अष्टौ च पुञ्जकाः।
तदूर्ध्वं कलशानष्टौ वक्त्रकुसुमसत्फलान्।।२०।।
तीर्थाम्भोभिर्जिनस्नात्रसुगन्धिजलमिश्रितैः।
पूरयित्वा सुवस्त्रेणाच्छादितानब्जगर्भके।।२१।।
नव घटद्वयं रक्तं पूर्ववज्जलसंभृतम्।
पुष्पमालालसत्पत्र–फल–पुष्पं विधाय च।।२२।।
अपराह्णे तथा सायं मन्त्रेणानेन कुम्भगम्।
अभिमन्त्र्य जलं सर्वमष्टाधिकशतं मुनिः।।२३।।
गन्धा–धूप–सुमैर्दीपैरक्षातैर्बलिभिर्नवैः।
सभ्यगभ्यर्च्य तत् सर्वं विदधीत सुवाससा।।२४।।
निशायाः पश्चिमे यामे शयितेषु द्विकेष्विमाम्।
एकदेशेन नग्नां स्त्रीं दुर्भगाद्येकदूषणाम्।।२५।।
सन्नदी–द्वितटी–कुम्भाकृद्–गजराजवेश्मनः।
सप्तवाल्मीकफलितक्षेत्रमृत्स्नाविलेपनम्।।२६।।
कृत्वैकत्र च कुम्भाम्भोऽभिमन्त्र्य स्नपितामथ।
तद्वासस्त्याजिता साऽन्यवस्त्रेणापिहिताङ्गिका।।२७।।
निषिद्धपृष्ठतो दृष्टिर्नेतव्याऽऽत्मगृहं ततः।
प्रातः सूर्योदये सूरिर्मण्डलमष्टपूजया।।२८।।
अभ्यर्च्यानेन मन्त्रेण मध्ये संस्थाप्य तां स्त्रियम्।
सप्तगृहनीव्रतृणैः सप्तभिः काकपक्षकैः।।२६।।
निर्भर्त्स्यानेन मन्त्रेण त्रिधा प्रागुक्तमुद्भुवा।
पुत्तलिकयाऽपि निर्भर्त्स्य समुदधृत्य चतुष्पथे।।३०।।

सर्वमेतत् परिक्षिप्य स्त्रियं प्रागुक्तमृत्स्नया।
विलिप्य मन्त्रपुञ्जैस्तु शेषकुम्भाम्भसां भरैः।।३१।।
संस्नप्य स्वगृहं प्राग्वद् नयेद् वल्ल्यादिकं तदा।
शेषे च देयमेतस्यै सप्तरात्रमयं क्रमः।।३२।।
सप्रमेऽह्नि जिनं सङ्घं सम्पूज्य लब्धशेषिका।
सौभाग्यादि सा स्यादेवं ग्रहग्रहे शिशोः।।३३।।
अत्र कूटाक्षराः सर्वे सस्वरा अष्टवर्गतः।
ते स्युर्वृद्धनमस्कारचक्रे अ(तद)ष्टारक्रमात्।।३४।।
"ॐ नमः" पूर्वं 'थंभेइ०' इति गाथाचतुर्थके।
वलये योजनशतं यावत् स्तम्भक्रिया भवेत्।।३५।।
"ॐ नमो थंभेइ जलं जलणं चिंतियमित्तोवि पंचनवकारो।
अरि–मारि–चोर–राउलघोरुवसग्गं पणासेइ"।।३६।।
अत्र विधिः–
शिलापट्टेऽथ भूर्जे वा फलके क्षीरवृक्षजे।
कुं–गो–गोमय–गोक्षीरैर्जात्यादिलेखनीकरः।।३७।।
पद्ममष्टदलमध्ये 'ह' पिण्डं तस्य चान्तरा।
गर्भवत्याः स्त्रियो नाम प्रतिपत्रं 'ह' पिण्डकम्।।३८।।
पद्मस्य बहिर्वलये गाथा 'थंभेइ०' अग्रतः।
अमुकस्या स्त्रियो गर्भं स्तभ्नामीति लिखेदथ।।३९।।
बहिर्भूमण्डलं दिक्षु 'ह' पिण्डाष्टकमालिखेत्।
शिलापट्टादि संपुट्य धनं बद्ध्वा शुचि क्षितौ।।४०।।
त्रिसन्ध्यमष्टधाऽभ्यर्च्य जपेत् साष्टसहस्रकम्।
यावद् वर्षार्धवर्षं वा गर्भस्तम्भोऽथवा विधिः।।४१।।
एतद् भूर्यादिकं सिक्त्थकेनावेष्ट्य धृताम्बरा।
अर्च्यते पूर्ववत् स्तम्भस्तत्र कार्ये समर्थ्यते।।४२।।
तत् समुद्धृत्य दुग्धेनाथवा गन्धाम्बुना स्मरन्।
मन्त्रं प्रक्षालयेदेवं प्रसूते सा सुतं सुखम्।।४३।।
अग्निस्तम्भे अष्टपत्रपद्ममध्ये दलान्तरा।
'ग'पिण्डं बहिर्वलये गाथा सृष्ट्या विलिख्यते।।४४।।
भूमण्लाष्टदिग्भागे 'ग' पिण्डं पूर्ववद् विधिः।

जापः शतं सहस्त्रं वाऽग्निस्तम्भो धर्मदर्शिनाम्।।४५।।
अष्टदलेऽम्बुजान्तश्च 'ध' पिण्डं वलये बहिः।
गाथा भूमण्डलं दिक्षु 'ध' पिण्डं पूर्ववद् विधिः।।४६।।
पद्ममष्टदलं फों 'फ' पिण्डान्तः साधकाभिधा।
प्रतिपत्रं 'फ' पिण्डं च गाथा स्याद् वलये बहिः।।४७
भूमण्डलाष्टदिग्भागे 'फ' पिण्डं पूर्ववत् क्रिया।
जापः शतं सहस्त्रं वा तुल्या(ला)—दिव्यनिषेधनम्।।४८।।
पद्ममष्टदलं मध्ये ह्रौ स्याद् 'ह' पिण्डमध्यगम्।
साध्यनाम दलेष्वन्तः 'ह' पिण्डं वलये बहिः।।४९।।
गाथा भूमण्डलं दिक्षु 'ह' पिण्डं पूर्ववद् विधिः
जापः शतं सहस्त्रं वा घटसर्पनिषेधनम्।।५०।।
पद्ममष्टदलं मध्ये क्लौं 'क्ष' पिण्डमध्यगम्।
साध्यनाम प्रतिपत्रं 'क्ष' पिण्डं पूर्ववद् विधिः।।५१।।
गाथा भूमण्डलं दिक्षु 'क्ष' पिण्डं पूर्ववद् विधिः
जापः शतं सहस्त्रं वा जयेत् पक्षादिजं विषम्।।५२।।
पद्ममष्टदलं गर्भे 'क्ष' पिण्डं साध्यनामयुक्।
'क्ष' पिण्डं प्रतिपत्रान्तः सगाथं वलयं बहिः।।५३।।
भूमण्डलाष्टदिग्भागे 'क्ष' पिण्डं पूर्ववत् क्रिया।
जिह्वा—रण—गति—क्रोधव्यवहारनिषेधनम्।।५४।।
देश—ग्राम—पुरं यद्वा गृहस्यैकस्य वा गवाम्।
शाकिन्यादिकृतां मारिं निषेद्धुमिह सुव्रती।।५५।।
भूर्यादौ चक्रमालिख्य तद्देशाद्यभिधायुतम्।
कृत्वा रक्षां सिकत्थकेनावेष्ट्य मन्त्रोभिमन्त्रितम्।।५६।।
कांस्यपत्रे नवे शान्तिप्रतिमाचरणाग्रतः।
रक्षां तां त्रिमधुरेणाकण्ठं शान्तिं तु पूरयेत्।।५७।।

शान्तिपाठ—

मुक्त्वा स्त्री—गज—रत्न—चक्रमहतीं राज्यश्रियं श्रेयसे
प्रव्रज्या दुरिताश्रयप्रमथनी येन श्रिताऽभूत् पुरा।
मृत्यु—व्याधि—जरा—वियोगमगमत् स्थानं च योऽत्यद्भुतं।
तं वन्दे मुनिमप्रमेयमृषभं सेन्द्रामराभ्यर्चितम्।।

एवं 'बृहन्नमस्कार' प्रोक्तं श्रीशान्तिमन्त्रकम्।
यद्वा–
'थंभेइ जलं०' इत्यादिगाथां जपन् शताधिकाम्।।५६।।
शुक्लवस्त्रेण संछाद्यं त्रिसन्ध्यमष्टपूजया।
त्रिदिनं त्रिदिनस्यान्ते महापूजापुरस्सरम्।।६०।।
अभिषेकजलं तत् तु क्षेप्यं श्रीकलशान्तरे।
श्रीशान्तिप्रतिमां हस्ति–शिबिका–रथमूर्धनि।।६१।।
शुक्लवस्त्रवृताङ्गस्य नरस्य ब्रह्मचारिणः।
कुलशुद्धस्य मान्यस्य मूर्ध्नि कृत्वा सचामराम्।।६२।।
छत्रेण सहितां चन्द्रोदये ध्वजस्रजाञ्चिताम्।
तूर्यत्रिकोल्लसद्वातां प्रदीपद्युतिभासुराम्।।६३।।
चतुर्विधेन सङ्घेन संयुतः सूरिरुद्यमी।
मारिगृहीतग्रामाद्यष्टदिक्षु प्रददेद् बलिम्।।६४।।
दिने तस्मिन्नमारिः स्यात् पटहोद्घोषपूर्वकम्।
चतुर्विधाय सङ्घाय भक्त्या दानं दिशेन्मुनिः।।६५।।
दानं दीनादिषु प्राज्यं देयमेवंकृते सति।
मारिर्निवर्तते किन्तु तत्कुम्भजलसेचनात्।।६६।।
गोमार्यादिषु गोवाटप्रवेशे श्रावकैः शुभैः।
तत्कुम्भजलसिक्ता गौर्मूर्ध्नि गोमारिवारणम्।।६७।।
पञ्चमे वलये लेख्या 'ॐ नमः' पूर्वमेषिका।
'स्वाहा'न्ता गाथिका क्षेत्र–स्वसैन्यत्राणकारिणी।।६८।।
"अट्ठेव य अट्ठसयं अट्ठसहस्सा य अट्ठकोडीओ।
रक्खंतु मे सरीरं देवासुरपणमिया सिद्धा"।।६९।।
भूर्यादावेषिका गाथा लिखिता चन्दनादिभिः।
रक्ष्या जिनान्तिके पूज्या बद्धा दोषज्वरापहा।।७०।।
'ॐ नमो अरिहंताणं' पूर्वं 'अट्ठविहा'दिकाम्।
गाथां वलये षष्ठे 'स्वाहा'न्तां विलिखेन्मुनिः।।७१।।
"अट्ठविहकम्ममुक्को तिलोयपुज्जो य संथुओ भयवं।
अमर–नर–रायमहिओ अणाइनिहणो सिवं दिसउ"।।७२।।
सप्तमे वलये 'ॐ' प्राक् 'नमो सिद्धाणं' इत्यतः।

'तव०' इत्याद्यां लिखेद् गाथां 'स्वाहा'न्तां शिवगामिनीम्।।७३।।
''तवनियमसंयमरहो पंचनमोक्कारसारहिनिउत्तो।
नाणतुरंगमजुत्तो नेइ पुरं परमनिव्वाणं स्वाहा''।।७४।।
'ॐ'प्राग् 'धणु' द्वयं तस्मा 'न्महाधणु महाधणु।
स्वाहा' इतीमां धनुर्विद्यामष्टमे वलये लिखेत्।।७५।।
कायोत्सर्गे उपोष्यैनां श्रीवीरप्रतिमाग्रतः।
अष्टोत्तरं सहस्रं प्राग् जपेत् सिद्धा मुनेरसौ।।७६।।
स्मृत्वैतां पथि धूल्यन्तरालिख्य सशरं धनुः।
आक्रम्य वामपादेन मौनी गच्छेन्न दस्यवः।।७७।।
युद्धकाले जिनं वीरं संपूज्याष्टशतः स्मृतेः।
प्राग्वद् धनुः क्रियां कृत्वा युद्धे गच्छेन्न शस्त्रभीः।।७८।।
परेषां सम्मुखीभूतां धनुर्विद्यां महोमयीम्।
इन्द्रचापसहक्कान्तिं ध्यायेन्मन्त्रं पठेदमुम्।।७९।।
तद्ध्यानावेशतो वैरिसेना पराङ्मुखी तथा।
सैन्यद्वयं प्रतीपं चेद् ध्यायते सैन्यसंधिदा।।८०।।
वलयाष्टबहिर्दिक्षु पद्मं षोडशपत्रकम्।
प्रतिपत्रं विलिख्यन्ते 'अं' आद्याः षोडशस्वराः।।८१।।
अदिद्वयष्टस्वराग्रे तत् प्रत्येकं 'ह्रूँ' इहाक्षरम्।
षोडशस्वरसंबद्धं 'ह्रूँ ह्राँ ह्रिँ ह्रीँ' मुखं लिखेत्।।८२।।
एतदूर्ध्वं द्वयष्टच्यदलं पद्मं तु प्रतिपत्रकम्।
षोडश विद्या लेख्या या मन्त्रबीजयुता तथा।।८३।।

१. 'ॐ याँ रोहिण्यै अँ नमः।'
२. 'ॐ राँ प्रज्ञप्त्यै आँ नमः।'
३. 'ॐ लाँ वज्रशृङ्खलायै इँ नमः।'
४. 'ॐ वाँ वज्राङ्कुश्यै ईं नमः।'
५. 'ॐ शाँ अप्रतिचक्रायै उँ नमः।'
६. 'ॐ षाँ पुरुषदत्तायै ऊँ नमः।'
७. 'ॐ साँ काल्यै ऋँ नमः।'
८. 'ॐ हाँ महाकाल्यै ॠँ नमः।'
९. 'ॐ यूँ गौर्यै लृँ नमः।'

१०. 'ॐ रूँ गान्धार्यै लृँ नमः।'
११. 'ॐ लूँ सर्वास्त्रमहाज्वालायै एँ नमः।'
१२. 'ॐ वूँ मानव्यै ऐँ नमः।'
१३. 'ॐ शूँ वैरोट्यायै ओँ नमः।'
१४. 'ॐ षूँ अच्छुप्तायै औँ नमः।'
१५. 'ॐ सूँ मानस्यै अँ नमः।'
१६. 'ॐ हूँ महामानस्यै अँः नमः।'

इति मन्त्रबीजपूर्वा विद्यादेव्यो दलेषु स्युः।।
देवीषोडशपत्राग्रे परमेष्ठिपदाक्षराः।
षोडशोर्ध्वं स्फुरच्चन्द्रबिन्दवो ज्यातिरञ्चिताः।।८४।।
'अरिहंत–सिद्ध–आयरिय–उवज्झाय–साहुवन्नियं बिदुं।
जोयणसयप्पमाणं जालासयसहस्सदिप्पंतं।।८५।।
'सोलससु अक्खरेहिं इक्किक्कं अक्खरं जगुज्जोयं।
भवसयसहस्समहणं जम्मि ठिओ पंचनवकारो'।।८६।।
उक्तं च– बिन्दु विनाऽपीत्यादिचतुःश्लोकी।
चतुर्षु पटकोणेषु चतुरष्ट–दश–द्विकम्।
अष्टापदजिना ज्ञेयाः 'चत्तारि०' इत्यादिगाथया।।८७।।
यदिवाऽष्टचत्वारिंशत्सहस्रा द्व्यधिकं शतम्।
जातीसुमनसां जापो होमो दशांशभागथ।।८८।।
'श्रीइन्द्रभूतये स्वाहा' 'ॐ प्रभासाय' पूर्ववत्।
पटस्यैशानकोणे द्वौ गाथैका पूर्वदिग्गता।।८९।।
'सोमे अ वग्गु वग्गु सुमणे सोमणसे तह य महुमहुरे।
किलि किलि अप्पडिचक्का हिलि हिलि देवीओ सव्वाओ।।९०।।
'ॐ अग्निभूतये स्वाहा' 'स्वाहा'न्ते 'वायुभूतये।
पटस्याग्नेयकोणे द्वौ मन्त्रावेकस्तयोरधः।।९१।।
'ॐ असिआउसा हुलुहुलु चुलुद्वयं' ततः।
'इच्छियं मे कुरुद्वन्द्वं स्वाहा' सर्वार्थसिद्धिदा।।९२।।
दक्षिणस्यां दिशि 'ॐ' प्राग् 'व्यक्तायाथ मरुन्नभः'।
'ॐ प्राक् 'सुधर्मस्वामिने स्वाहा' इति च पदद्वयम्।।९३।।
नैर्ऋते 'प्रणवः' पूर्वं 'मण्डिताय मरुन्नभः'।

'प्रणवो मौर्यपुत्राय स्वाहा' इति गणभृद्द्वयम्।।६४।।
पश्चिमायां 'वाय्वग्नभ्यां स्वाहा'न्ते 'प्रणवः' पुरः।
'अकम्पिताचलभ्राता मेतार्यः' इति मध्यतः।।६५।।
प्राच्यां गाथेश (:) काष्ठादौ चतुर्विदिक् त्रिदिक् क्रमात्।
द्वौ द्वावेकैकश्च सूरिराजान इति मे मतिः।।६६।।
यद्वा–
प्राच्यां गुरुरतः प्राग्वद् गौतमासनमम्बुजम्।
गाथाबीजयुतं ध्यानं वाच्यं प्राक् सूरियन्त्रतः।।६७।।
बहिश्चतुर्दलं पद्मं चतुर्दिक्षु लिखेदिदम्।
'ॐ नमो सव्वसिद्धाणं' पदं सर्वार्थसाधकम्।।६८।।
अष्टारमौलिकुम्भेषु 'जम्भे' 'मोहे' चतुष्टयम्।
द्विरावर्त्य क्रमाल्लेख्यमयं मन्त्रश्च पश्चिमे।।६९।।
'ॐ नमो अरिहंताणं एहि एहि नंदे महानंदे पंथे बंधे दुप्पयं बंधे चउप्पयं बंधे धोरं आसीविसं बंधे जाव गंठिं न मुञ्चामि'।।
इमामष्टशतं स्मृत्वा कृत्वा ग्रन्थिं स्ववाससि।
पथि गम्यं न चौराद्युपद्रवः छोट्यते स्थितौ।।१००।।
'मायाबीजं' त्रिरेखाभिरुपर्यावेष्ट्यमन्ततः।
'क्रौं' भूमण्डलं यद्वा वारुणं स्वस्ववर्णकम्।।१०१।।
मध्ये 'ऽर्हं'बीजमावेष्ट्यं केचिद् रत्नत्रयाक्षरैः।
केचिच्च बीजचक्रेण गुरुरेव प्रमा मतः।।१०२।।
ध्यानम्–
अथ ध्यानविधिं वक्ष्ये जितेन्द्रियः हढव्रतः।
सम्यग्दृग् गुरुभक्तश्च सत्यवाग् मन्त्रसाधकः।।१०३।।
एकान्ते शुचिभूमौ स पूर्वोत्तराशादिङ्मुखः।
तीर्थम्भो–गोमयरसैः सिक्तां भूमिं विचिन्तयेत्।।१०४।।
सहस्रदलपद्मान्तः पर्यङ्कासनसंश्रितम्।
प्रसन्नाभिर्जयाद्यष्टसुरीभिस्तीर्थवारिभिः।।१०५।।
भृतैः सुवर्णभृङ्गाकारैर्वक्त्रदत्ताम्बुजैः स्वकम्।
स्नाप्यमानं विचिन्त्यामुं मन्त्रं हृदि विचिन्तयेत्।।१०६।।

'ॐ नमो अरिहंताणं अशुचिः शुचिरित्यतः।
भवामि स्वाहा' इति स्नातः कुर्याद् देहस्य रक्षणम् ।।१०७।।
१. 'ॐ नमो अरिहंताणं ह्रीं हृदयं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।'
२. 'ॐ नमो सिद्धाणं हर हर शिरो रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।'
३. 'ॐ नमो आयरियाणं ह्रीं शिखां रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।'
४. 'ॐ नमो उवज्झायाणं एहि भगवति! चक्रे! कवचवज्रिणि!
हुं फट् स्वाहा
५. 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं क्षिप्रं साधय साधय दुष्टं
वज्रहस्ते!

शूलिनि! रक्ष रक्ष आत्मरक्षा सर्वरक्षा हुं फट् स्वाहा।।'
कृत्वाऽमीभिः स्वाङ्गरक्षां दिग्बन्धं च 'इन्द्रभूतये।
स्वाहा, द्यैः सर्वगणभृदाह्वानं क्रियते ततः।।१०८।।
त्रिप्राकारस्फुरज्जयोतिः समवसृतिमध्यगम्।
चतुःषष्टिसुराधीशैः पूज्यमानक्रमाम्बुजम्।।१०९।।
छत्रत्रयं पुष्पवृष्टि–मृगेन्दासन–चामराः।
अशोक–दुन्दुभि–दिव्यध्वनिर्भामण्डलान्यपि।।११०।।
इत्यष्टभिः प्रातिहार्यैर्भूषितं सिंहलाञ्छनम्।
संसदन्तः सुवर्णाभं वर्धमानं जिनं हृदि।।१११।।
साक्षाद् विलोकयन् ध्याता तल्लीनाक्षिमना अमुम्।
अष्टोत्तरं शतं मन्त्रं सूरिमन्त्रसमं जपेत्।।११२।।
एतद् यन्त्रं जैनधर्मचक्रमष्टारभासुरम्।
अष्टदिक्षु स्फुरद्भाभिः शतयोजनदीपकम्।।११३।।
तच्छायाक्रान्तवित्रस्तदुरितं सर्वपूजितम्।
आत्मानं च स्मरेन्नित्यं तस्य स्युरष्टसिद्धयः।।११४।।
मोक्षाभिचार–मारेषु शान्त्याकृष्ट्यादिषु क्रमात्।
अङ्गुष्ठादि–कनिष्ठान्तमक्षसूत्रं करे धरेत्।।११५।।

इति लघुनमस्कारचक्रम्।।

श्री नवपद स्तुति

उप्पन्न–सन्नाण–महोदयाणं,
सप्पाडिहेरासण–संठियाणं।
सद्देसणाणंदिय–सज्जणाणं,
नमो नमो होउ सया जिणाणं।।१।।
सिद्धाणमाणंदरमालयाणं,
नमनमोऽनंतचउक्कयाणं।
सूरीण दूरीकयकुग्गहाणं,
नमो नमो सूर–समप्पहाणं।।२।।
सुत्तत्थ–वित्थारण–तप्पराणं,
नमो नमो वायग–कुंजराणं।
साहूण संसाहिय–संजमाणं,
नमो नमो सुद्ध–दया दमाणं।।३।।
जिणुत्ततत्ते रुइलक्खणस्स,
नमो–नमो निम्मल दंसणस्स।
अन्नाण–समोह–तमोहरस्स,
नमो नमो नाणदिवायरस्स।।४।।
आराहियाखंडियसक्कियस्स,
नमो नमो संजम–वीरियस्स।
कम्मद्दुमोम्मूलण–कुंजरस्स,
नमो नमो तिव्वतवोभरस्स।।५।।
इय नव–पयसिद्धं, लद्धिविज्जासमिद्धं
पयडिय–सर–वग्गं, ह्रीं तिरेहा–समग्गं।
दिसवइ–सुरसारं, खोणि–पीढावयारं
तिजय–विजयचक्कं, सिद्धचक्कं नमामि।।६।।

भक्तामर स्तोत्रम्

—श्रीमानतुंगाचार्यविरचित

भक्तामर–प्रणतमौलि–मणि–प्रभाणा–
मुद्योतकं दलित–पाप–तमोवितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा–
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।१।।

यः संस्तुतः सकल–वाङ्मय–तत्त्वबोधा–
दुद्भूत–बुद्धि–पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय–चित्त–हरै–रुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्।।२।।

बुद्ध्या विनापि बिबुधार्चित–पादपीठ!
स्तोतुं समुद्यत–मतिर्विगत–त्रपोऽहम्।
बालं विहाय जल–संस्थित–मिन्दु–बिम्ब–
मन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुम्।।३।।

वक्तुंगुणान् गुण–समुद्र–शशाङ्क–कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरु–प्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त–काल–पवनोद्धत–नक्र–चक्रं,
को वा तरीतु–मलमम्बुनिधिं भुजाभ्यां।।४।।

सो हं तथापि तव भक्ति–वशान्मुनीश!
कर्तुं स्तवं विगत–शक्ति–रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म–वीर्य–मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।।५।।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास–धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किलमधौ मधुर विरौति,
तच्चाम्र–चारु–कलिकानिकरैकहेतुः।।६।।

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोक–मलिनील–मशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वर–मन्धकारम्।।७।।

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद–
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी–दलेषु,
मुक्ताफल–द्युति–मुपैति ननूद–बिन्दुः।।८।।

आस्तां तव स्तवन–मस्त–समस्त–दोषम्,
त्वत्–सङ्कथापि जगतां दुरितानि हन्ति।

दूरे सहस्र–किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास–भाञ्जि।।९।।

नात्यद्भुतं भुवन–भूषण! भूत–नाथ!
भूतै–र्गुणै–र्भुवि भवन्त–मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्म–समं करोति।।१०।।

दृष्ट्वा भवन्त–मनिमेष–विलोकनीयम्,
नान्यत्र तोष–मुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकर–द्युति–दुग्ध–सिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधे–रसितुं क इच्छेत्।।११।।

यैः शान्त–राग–रुचिभिः परमाणुभिस्त्वम्,
निर्मापित–स्त्रिभुवनैक–ललामभूत!
तावन्त एवं खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समान–मपरं नहि रूप–मस्ति।।१२।।

वक्त्रं क्व ते सुर–नरोरग–नेत्र–हारि,
निःशेष–निर्जित–जगत्–त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्क–मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्–वासरे भवति पाण्डु–पलाश–कल्पम्।।१३।।

सम्पूर्ण–मण्डल–शशाङ्क–कला–कलाप–
शुभ्रा गुणा–स्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रिता–स्त्रिजगदीश्वर–नाथ–मेकम्,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।१४।।

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि–
र्नीतं मनागपि मनो न विकार–मार्गम्।
कल्पान्त–काल–मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि–शिखरं चलितं कदाचित्।।१५।।

निर्धूम–वर्ति–रपवर्जित–तैल–पुरः,
कृत्स्नं जगत्त्रय–मिदं प्रकटी–करोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानाम्,
दीपो परस्त्व–मसि नाथ! जगत्प्रकाशः।।१६।।

नास्तं कदाचि–दुपयासि न राहु–गम्यः,
स्पष्टी–करोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर–निरुद्ध–महा–प्रभावः,
सूर्यातिशायि–महिमासि मुनीन्द्र! लोके।।१७।।

नित्योदयं दलित–मोह–महान्धकारम्,
गम्यं न राहु–वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्ज–मनल्प–कान्ति–
विद्योतयज्जग–दपूर्व–शशाङ्क–बिम्बम्।।१८।।

किं शर्वरीषु शशिनाहि विवस्वता वा?
युष्मन्मुखेन्दु–दलितेषु तमःसु नाथ!
निष्पन्न–शालि–वन–शालिनि जीव–लोके,
कार्यं कियज्जलधरै–र्जलभार–नम्रैः।।१९।।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशम्,
नैवं तथा हरि–हरीदिषु नायकेषु।
तेजो महा–मणिषु याति यथा महत्त्वम्,
नैवं तु काच–शकले किरणाकुलेऽपि।।२०।।

मन्ये वरं हरि–हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोष–मेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन् मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि।।२१।।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिम्,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुर–दंशु–जालम्।।२२।।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस–
मादित्य–वर्ण–ममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युम्,
नान्यः शिवः शिव–पदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः।।२३।।

त्वा–मव्ययं विभु–मचिन्त्य मसंख्य–माद्यम्,
ब्रह्माण–मीश्वर–मनन्त–मनङ्ग–केतुम्,

योगीश्वरं विदित–योग–मनेक–मेकम्,
ज्ञान–स्वरूप–ममलं प्रवदन्ति सन्तः।।२४।।

बुद्धस्त्व–मेव विबुधार्चित–बुद्धि–बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय–शङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिव–मार्ग–विधे–र्विधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।२५।।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति–हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षिति–तलामल–भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि–शोषणाय।।२६।।

को विस्मयोऽत्र यदि नामगुणै–रशेषै–
स्त्वं संश्रितो निरवकाश–तया मुनीश!
दोषै–रुपात्त–विविधाश्रय–जात–गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचि–दपीक्षितोऽसि।।२७।।

उच्चै–रशोक–तरु–संश्रित–मुन्मयूख–
माभाति रूप–ममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्–किरण–मस्त–तमो–वितानम्,
बिम्बं रवे–रिव पयोधर–पार्श्ववर्ति।।२८।।

सिंहासने मणि–मयूख–शिखा–विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्–विलसदंशु–लता–वितानम्,
तुङ्गोदयाद्रि–शिरसीव सहस्त्ररश्मेः।।२९।।

कुन्दावदात–चलचामर–चारु–शोभम्,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत–कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क–शुचि–निर्झर–वारिधार–
मुच्चै–स्तटं–सुरगिरे–रिव शातकौम्भम्।।३०।।

छत्र–त्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त–
मुच्चैः स्थितं स्थगित–भानुकर–प्रतापम्।
मुक्ताफल–प्रकर–जाल–विवृद्ध–शोभम्,
प्रख्यापयत्–त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।३१।।

गम्भीर–तार–रव–पूरित–दिग्विभाग–
स्त्रैलोक्य–लोक–शुभ–सङ्गम–भूति–दक्षः।
सद्–धर्मराज–जय–घोषण–घोषकः सन्,
खे दुन्दुभि–र्ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।३२।।

मन्दार–सुन्दर–नमेरु–सुपारिजात–
सन्तानकादि–कुसुमोत्कर–वृष्टि–रुद्धा।
गन्धोद–बिन्दु–शुभ–मन्द–मरुत्–प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां तति–र्वा।।३३।।

शुम्भत्–प्रभा–वलय–भूरि–विभा विभोस्ते,
लोक–त्रये द्युतिमतां द्युति–माक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्–दिवाकर–निरन्तर–भूरि–संख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशा–मपि सोम–सौम्याम्।।३४।।

स्वर्गापवर्ग–गम–मार्ग–विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म–तत्त्व–कथनैक–पटु–स्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनि–र्भवति ते विशदार्थ–सर्व–
भाषा–स्वभाव–परिणाम–गुणैः प्रयोज्यः।।३५।।

उन्निद्र–हेमनव–पङ्कज–पुञ्जकान्ति–
पर्युल्लसन्–नख–मयूख–शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।।३६।।

इत्थं यथा तव विभूति–रभूज्जिनेन्द्र!
धर्मोपदेशन–विधौ न तथा परस्य।
यादृक्–प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रह–गणस्य विकासिनोऽपि।।३७।।

श्च्योतन् मदाविल–विलोल–कपोल मूल–
मत्त–भ्रमद्–भ्रमर–नाद–विवृद्ध–कोपम्।
ऐरावताभ–मिभ–मुद्धत–मापतन्तम्,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भव–दाश्रितानाम्।।३८।।

भिन्नेभ–कुम्भ–गलदुज्ज्वल–शोणिताक्त–
मुक्ताफल–प्रकर–भूषित–भूमिभागः।

बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचल–संश्रितं ते।।३९।।

कल्पान्त–काल–पवनोद्धत–वह्नि–कल्पम्,
दावानलं ज्वलित–मुज्ज्वल–मुत्स्फुलिङ्गम्
विश्वं जिघत्सु–मिव सम्मुख–मापतन्तम्,
त्वन्नाम–कीर्तन–जलं शमयत्यशेषम्।।४०।।

रक्तेक्षणं समद–कोकिल–कण्ठ नीलम्,
क्रोधोद्धतं फणिन–मुत्फण–मापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्त–शङ्क–
स्त्वन्नाम–नागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।४१।।

वल्गत्तुरङ्ग–गज–गर्जित–भीमनाद–
माजौ बलं बलवता–मपि भूपतीनाम्।
उद्यद्–दिवाकर–मयूख–शिखापविद्धम्,
त्वत्–कीर्तनात्तम इवाशु भिदा–मुपैति।।४२।।

कुन्ताग्र–भिन्न–गजशोणित–वारिवाह–
वेगावतार–तरणातुर–योध–भीमे।
युद्धे जयं विजित–दुर्जय–जेय–पक्षा–
स्त्वत्–पद–पङ्कज–वनाश्रयिणो लभन्ते।।४३।।

अम्भोनिधौ क्षुभित–भीषण–नक्र–चक्र–
पाठीन–पीठ–भय–दोल्वण–वाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग–शिखर–स्थित–यान–पात्रा–
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति।।४४।।

उद्भूत–भीषण–जलोदर–भार–भुग्नाः,
शोच्यां दशा–मुपगताश्च्युत–जीविताशाः।
त्वत्–पाद–पङ्कज–रजोऽमृत–दिग्ध–देहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज–तुल्य–रूपाः।।४५।।

आपादकण्ठ–मुरु–शृङ्खल–वेष्टिताङ्गा,
गाढं वृहन्–निगड–कोटि–निघृष्ट–जङ्घा।
त्वन्नाम्–मन्त्र–मनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत–बन्ध–भया भवन्ति।।४६।।

मत्त–द्विपेन्द्र–मृगराज–दवानलाहि–
संग्राम–वारिधि–महोदर–बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाश–मुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।४७।।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र! गुणै–र्निबद्धाम्,
भक्त्या मया विविध–वर्ण–विचित्र–पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगता–मजस्रम्,
तं मानतुङ्ग–मवशा समुपैति लक्ष्मीः।।४८।।

।।इति श्री मानतुङ्गाचार्य विरचितं भक्तामर (आदिनाथ) स्तोत्रं समाप्तम्।।

घंटाकर्ण–मंत्र

ॐ घंटाकर्णो महावीरः सर्व–व्याधि–विनाशकः।
विस्फोटक–भयं प्राप्ते–रक्ष रक्ष महाबलः।।
यत्र त्वं तिष्ठसे देव! लिखितोऽक्षर–पंक्तिभिः।
रोगास्तत्र प्रणश्यन्ति, वातपित्त–कफोद्भवाः।।
तत्र राज–भयं नास्ति, यान्ति कर्णेजपाः क्षयम्।
शाकिनी–भूत वैताला, राक्षसा प्रभवन्ति न।।
नाकाले मरणं तस्य, न च सर्पेण दंश्यते।
अग्नि–चौर–भयं नास्ति, ॐ ह्रीं श्रीं घंटाकर्णो
नमोस्तु ते। ॐ नर–वीर ठः ठः ठः फुट् स्वाहा।।

कल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

–श्रीकुमुदचन्द्र

कल्याण–मन्दिरमुदारमवद्य–भेदि
भीताभय–प्रदमनिन्दितमङ्घ्रि पद्म।
संसार–सागर–निमज्जदशेष–जन्तु–
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य।।१।।

यस्य स्वयं सुरगुरु–र्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृत–मतिर्न विभु–र्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ–स्मय–धूमकेतो–
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये।।२।।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप–

मस्मादृशः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।

धृष्टोऽपि कौशिक–शिशु–र्यदि वा दिवान्धो

रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मेः।।३।।

मोह–क्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो

नूनं गुणान्गणयितुं न तव क्षमेत।

कल्पान्त–वान्त–पयसः पकटोऽपि यस्मा–

न्मीयेत केन जलधे–र्ननु रत्नराशिः।।४।।

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ! जडाशयोऽपि

कर्तुं स्तवं लसदसंख्य–गुणाकरस्य।

बालोऽपि किं न निज–बाहु–युगं वितत्य

विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः।।५।।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश!

वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः।

जाता तदेवमसमीक्षित–कारितेयं

जल्पन्ति वा निज–गिरा ननु पक्षिणोऽपि।।६।।

आस्तामचिन्त्य–महिमा जिन संस्तवस्ते

नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।

तीव्राऽऽतपोपहत–पान्थ–जनान्निदाघे,

प्रीणाति पद्म–सरसः स–रसोऽनिलोऽपि।।७।।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिलीभवन्ति

जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म–बन्धा।

सद्यो भुजङ्गम–मया इव मध्य–भाग–

मभ्यागते वन–शिखण्डिनि चन्दनस्य।।८।।

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!

रौद्रै–रुपद्रव–शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।

गो–स्वामिनि स्फुरित–तेजसि दृष्टमात्रे

चौरैरिवाऽऽशु पशवः प्रपलायमानैः।।९।।

त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव

त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।

यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून–
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः।।१०।।

यस्मिन्हर–प्रभृतयोऽपि हत–प्रभावाः
सोऽपि त्वया रति–पतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन
पीतं न किं तदपि दुर्धर–वाडवेन।।११।।

स्वामिन्नल्प–गरिमाणमपि प्रपन्ना–
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः।।१२।।

क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्म–चौराः!
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके
नील–द्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी।।१३।।

त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूप–
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज–कोष–देशे।
पूतस्य निर्मल–रुचेर्यदि वा किमन्य–
दक्षस्य संभव–पदं ननु कर्णिकायाः।।१४।।

ध्यानाज्जिनेश! भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्म–दशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपल–भावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातु–भेदाः।।१५।।

अन्तः सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्वं
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्स्वरूपमथ मध्य–विवर्तिनो हि
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः।।१६।।

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेद–बुद्धया
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किं नाम नो विष–विकारमपाकरोति।।१७।।

त्वामेव वीत–तमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरि–हरादि–धिया प्रपन्नाः।
किं काच–कमलिभिरीश! वितेऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविध–वर्ण–विपर्ययेण।।१८।।

धर्मोपदेश–समये सविधानुभावा–
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीव–लोकः।।१९।।

चित्रं विभो! कथमवाङ् मुख–वृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुर–पुष्प–वृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि।।२०।।

स्थाने गभीर–हृदयोदधि–सम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परम–सम्मद–सङ्ग भाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम्।।२१

स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर–चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि–पुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्व–गतयः खलु शुद्ध–भावाः।।२२।।

श्याम गभीर–गिरमुज्ज्वल–हेम–रत्न–
सिंहासनस्थमिह भव्य–शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै–
श्चामीकराद्रि–शिरसीव नवाम्बुवाहम्।।२३।।

उद्गच्छता तव शिति–द्युति–मण्डलेन
लुप्त–च्छद–च्छविरशोक–तरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग!
नीरागतां व्रजति को न सचेता नोऽपि।।२४।।

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन–
मागत्य निर्वृति–पुरीं प्रति सार्थवाहम्।

एतन्निवेदयति देव! जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते।।२५।।
उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ!
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ता–कलाप–कलितोरु–सितातपत्र–
व्याजात्त्रिधा धृत–तनुर्ध्रुवमभ्युपेतः।।२६।।
स्वेन प्रपूरित–जगत्त्रय–पिण्डितेन
कान्ति–प्रताप–यशसामिव संचयेन।
माणिक्य–हेम–रजत–प्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि।।२७।।
दिव्य–स्रजो जिन! नमत्त्रिदशाधिपाना–
मुत्सृज्य रत्न–रचितानपि मौलि–बन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव।।२८।।
त्वं नाथ! जन्म–जलधेर्विपराङ् मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निज–पृष्ठ–लग्नान्।
युक्तं हि पार्थिव–निपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो! यदसि कर्म–विपाक–शून्यः।।२९।।
विश्वेश्वरोऽपि जन–पालक! दुर्गतस्त्वं
किं वाऽक्षर–प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश!
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व–विकास–हेतु।।३०।।
प्राग्भार–संभृत–नभांसि रजांसि रोषा–
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ! हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा।।३१।।
यद्गर्जदूर्जित–घनौघमदभ्र–भीम–
भ्रश्यत्तडिन्–मुसल–मांसल–घोरधारम।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर–वारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन! दुस्तर–वारि कृत्यम्।।३२।।

ध्वस्तोर्ध्व–केश–विकृताकृति–मर्त्य–मुण्ड–
प्रालम्बभृद्–भयदवक्त्र–विनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भव–दुख–हेतुः।।३३।।

धन्यास्त एव भुवनाधिप! ये त्रिसंध्य–
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्य–कृत्याः।
भक्त्योल्लसत्पुलक–पक्ष्मल–देह–देशाः
पाद–द्वयं तव विभो! भुवि जन्मभाजः।।३४।।

अस्मिन्नपार–भव–वारि–निधौ मुनीश!
मन्ये न मे श्रवण–गोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्र–पवित्र–मन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति।।३५।।

जन्मान्तरेऽपि तव पाद–युगं न देव!
मन्ये मया महितमीहित–दान–दक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्।।३६।।

नूनं न मोह–तिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्ध–गतयः कथमन्यथैते।।३७।।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातो स्मि तेन जन–बान्धव! दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव–शून्याः।।३८।।

त्वं नाथ! दुःखि–जन–वत्सल! हे शरण्य!
कारुण्य–पुण्य–वसते वशिनां वरेण्य!
भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय
दुःखांकुरोद्दलन–तत्परतां विधेहि।।३९।।

निःसंख्य–सार–शरणं शरणं शरण्य–
मासाद्य सादित–रिपु–प्रथितावादानम्।

त्वत्पाद–पङ्कजमपि प्रणिधान–वन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि चेन्द्भुवन–पावन हा हतोऽस्मि।।४०।।
देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिल–वस्तुसार!
संसार–तारक! विभो भुवनाधिनाथ!
त्रायस्व देव! करुणा–ह्रद! मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयद–व्यसनाम्बु–राशेः।।४१।।
यद्यस्ति नाथ! भवदङ्घ्रि–सरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्तत–सञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेक–शरणस्य शरण्य! भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि।।४२।।
इत्थं समाहित–धियो विधिवज्जिनेन्द्र!
सान्द्रोल्लसत्पुलक–कञ्चुकिताङ्गभागाः।
त्वद्बिम्ब–निर्मल–मुखाम्बुज–बद्ध–लक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो! रचयन्ति भव्याः।।४३।।
जन नयन–'कुमुदचन्द्र'! प्रभास्वराः स्वर्ग–संपदो भुक्त्वा।
ते विगलित–मल–निचया,अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते।।४४।।

विषापहारस्तोत्रम्

–धनञ्जय कवि

स्वात्म–स्थितः सर्व–गतः समस्त–
व्यापार–वेदी विनिवृत्त–सङ्गः।
प्रवृद्ध–कालोऽप्यजरो वरेण्यः
पायादपायात्पुरुषः पुराणः।।१।।
परैरचिन्त्यं युग–भारमेकः
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः
कि–मप्रवेशे विशति प्रदीपः।।२।।
तत्याज शक्रः शकलाभिमानं
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।

स्वल्पेन बोधेन ततो धिकार्थ
वातायनेनेव निरूपयामि।।३।।
त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो
विद्वा–नशेषं निखिलै–रवैद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु।।४।।
व्यापीडितं बालमिवात्म–दोषै–
रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।
हिताहितान्वेषण–मान्द्यभाजः
सर्वस्य जन्तोरसि बाल–वैद्यः।।५।।
दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा–
नद्यश्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय।।६।।
उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि
त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्।
सदावदात–द्युतिरेकरूप–
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि।।७।।
अगाधताब्धेः स यतः पयोधि–
र्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि।।८।।
तवानवस्था परमार्थ–तत्त्वं
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्व–मदृष्टमैषी–
र्विरुद्ध–वृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्।।९।।
स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मि–
न्नुद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः
किं गृह्यते येन भवा–नजागः।।१०।।

स नीरजाः स्या–दपरोऽघवान्वा
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य।।११।।

कर्मस्थितिं जन्तुरनेक–भूमिं
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृ–भावं हि तयोर्भवाब्धौ
जिनेन्द्र! नौ–नाविकयोरिवाख्यः।।१२।।

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकता–समूहं
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः।।१३।।

विषापहारं मणिमौषधानि
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्याय–नामानि तवैव तानि।।१४।।

चित्ते न किञ्चित्कृतवा–नसि त्वं
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः।।१५।।

त्रिकाल–तत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी
स्वामीति संख्या–नियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यन्
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्य–दमू–नपीदम्।।१६।।

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं
नागम्यरूपस्य तवोपकारि।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो–
रुद्–बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण।।१७।।

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः
स चेत्किमिच्छा–प्रतिकूल–वादः।

क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं
तन्नो यथातथ्य–मवेविजं ते।।१८।।
तुङ्गत्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे–
र्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः।।१६।।
त्रैलोक्य–सेवा नियमाय दण्डं
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं
तत्कर्म योगाद्यदि वा तवास्तु।।२०।।
श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः
श्रीमान्न कश्चित् कृपणं त्वदन्यः।
यथा प्रकाश–स्थितमन्धकार–
स्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम्।।२१।।
स्ववृद्धिनिःश्वास–निमेषभाजि
प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिल–ज्ञेय–विवर्ति–बोध–
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः।।२२।।
तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव!
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नान्वाश्मन–मित्यवश्यं
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति।।२३।।
दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः
सुराऽसुरास्तस्य महान् स लाभः।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धु–
र्मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः।।२४।।
मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्ते–
श्चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन
त्वं मा कदाचिद्–भुजमालुलोकः।।२५।।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः
कल्पान्तवावातोऽम्बुनिधेर्विघातः।
संसार–भोगस्य वियोग–भावो
विपक्ष–पूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये।।२६।।
अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्–
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधान–
स्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः।।२७।।
प्रशस्त–वाचश्चतुराः कषायै–
र्दग्धस्य देव–व्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नन्दित्त्वं
दृष्टं कपालस्य च मग्ङलत्वम्।।२८।।
नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं
हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण।।२६।।
न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक् ते
काले क्वचित् कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः
स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति।।३०।।
गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना
बहु–प्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोऽयमन्तः स्तवने न तेषां
गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति।।३१।।
स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्यां
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्।।३२।।
ततस्त्रिलोकी–नगराधिदेवं
नित्यं परं ज्योतिरनन्त–शक्तिम्।

अपुण्य–पापं परपुण्य–हेतुं
नमाम्यहं वन्द्य–मवन्दितारम् ।।३३।।
अशब्द–मस्पर्श–मरूप–गन्धं
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम् ।
सर्वस्य मातार–ममेयमन्यै–
र्जिनेन्द्र–मस्मार्य–मनुस्मरामि ।।३४।।
आगाधमन्यैर्मनसाप्यलङ्घ्यं
निष्किञ्चनं प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं
पतिं जनानां शरणं व्रजामि ।।३५।।
त्रैलोक्य–दीक्षा–गुरवे नमस्ते
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत् ।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रि–कल्पः
पश्चान्न मेरुः कुल–पर्वतोऽभूत् ।।३६।।
स्वयं प्रकाशस्य दिवा निशा वा
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम् ।
न लाघवं गौरवमेकरूपं
वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ।।३७।।
इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्याद्–
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्–
कश्छायया याचितयात्मलाभः ।।३८।।
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोध–
स्त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति–बुद्धिम् ।
करिष्यते देव! तथा कृपां मे
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ।।३९।।
वितरति विहिता यथाकथंचि–
ज्जिन! विनताय मनीषितानि भक्तिः ।
त्वयि नुति–विषया पुनर्विशेषाद्
दिशति सुखानि यशो धनं जयं च ।।४०।।

श्री जिनसहस्रनामस्तोत्रम्

—जिनसेनाचार्य

स्वयंभुवे नमस्तुभ्य—मुत्पाद्यात्मानमात्मनि।
स्वात्मनैव तथोद्भूत—वृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये।।१।।
नमस्ते जगतां पत्ये, लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते।
विदांवर! नमस्तुभ्यं, नमस्ते वदतांवर!।।२।।
कामशत्रुहणं देव—मामनन्ति मनीषिणः।
त्वामाऽऽनमत्सुरेण्मौलि—भा—मालाऽभ्यर्चितक्रमम्।।३।।
ध्यान—द्रुघण—निभिन्न—घन—घाति—महातरुः।
अनन्त—भव—सन्तान—जयादासी—दनन्तजित्।।४।।
त्रैलोक्य—निर्जयावाप्त—दुर्दर्पमतिदुर्जयम्।
मृत्युराजं विजित्यासी—ज्जिन! मृत्युंजयो भवान्।।५।।
विधुताशेष—संसार—बन्धनो भव्यबान्धवः।
त्रिपुराऽरिस्त्वमीशासि, जन्म—मृत्यु—जराऽन्तकृत।।६।।
त्रिकाल—विषयाऽशेष—तत्त्वभेदात् त्रिधोत्थितम्।
केवलाख्यं दधच्चक्षु—स्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशितः।।७।।
त्वामन्धकाऽन्तकं प्राहु—र्मोहरान्धाऽसुर—मर्दनात्।
अर्द्धं ते नाऽरयो यस्मा—दर्धनारीश्वरोऽस्यतः।।८।।
शिव— शिवपदाध्यासाद्, दुरिताऽरि—हरो हरः।
शङ्करः कृतशं लोके, शंभवस्त्वं भवन्सुखे।।६।।
वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः, पुरुः पुरुगुणोदयैः।
नाभेयो नाभि—सम्भूते—रिक्ष्वाकु—कुल—नन्दनः।।१०।।
त्वमेकः पुरुषस्कन्ध—स्त्वं द्वे लोकस्य लोचने।
त्वं त्रिधा बुद्ध—सन्मार्ग—स्त्रिज्ञस्त्रिज्ञान—धारकः।।११।।
चतुः शरण—माङ्गल्य—मूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः।
पञ्च—ब्रह्ममयो देव!, पावनस्त्वं पुनीहि माम्।।१२।।
स्वर्गाऽवतरणे तुभ्यं, सद्योजातात्मने नमः।
जन्माभिषेकवामाय, वामदेव! नमोऽस्तु ते।।१३।।
सन्निष्क्रान्तावघोराय, परं प्रशममीयुषे।

केवलज्ञान—संसिद्धा—वीशानाय नमोऽस्तु ते।।१४।।
पुरस्तत्पुरुषत्वेन, विमुक्तपदभाजिने।
नमस्तत्पुरुषाऽवस्थां, भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते।।१५।।
ज्ञानावरण—निर्हासा—न्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे।
दर्शनावरणोच्छेदा—न्नमस्ते विश्वदृश्वने।।१६।।
नमो दर्शनमोहघ्ने, क्षायिकाऽमलदृष्टये।
नमश्चारित्रमोघ्ने, विरागाय महौजसे।।१७।।
नमस्तेऽनन्तवीर्याय, नमोऽनन्तसुखात्मने।
नमस्तेऽनन्तलोकाय, लोकालोका—वलोकिने।।१८।।
नमस्तेऽनन्तदानाय, नमस्तेनऽन्तलब्धये।
नमस्तेऽनन्तभोगाय, नमोऽनन्तोपभोग! ते।।१९।।
नमः परमयोगय, नमस्तुभ्यमयोनये।
नमः परमपूताय, नमस्ते परमर्षये।।२०।।
नमः परमविद्याय, नमः पर—मतच्छिदे।
नमः परम—तत्त्वाय, नमस्ते परमात्मने।।२१।।
नमः परम—रूपाय, नमः परम—तेजसे।
नमः परम—मार्गाय, नमस्ते परमेष्ठिने।।२२।।
परमं भेजुषे धाम, परमज्योतिषे नमः।
नमः पारेतमः प्राप्त—धाम्ने परतराऽऽत्मने।।२३।।
नमः क्षीणकलङ्काय, क्षीणबन्ध! नमोऽस्तु ते।
नमस्ते क्षीणमोहाय, क्षीणदोषाय ते नमः।।२४।।
नमः सुगतये तुभ्यं, शोभनां गतिमीयुषे।
नमस्तेऽतीन्द्रिय—ज्ञान—सुखाया निन्द्रियात्मने।।२५।।
काय—बन्धन—निर्मोक्षा—दकायाय नमोऽस्तु ते।
नमस्तुभ्य—मयोगाय योगिनामधियोगिने।।२६।।
अवेदाय नमस्तुभ्य—मकषायाय ते नमः।
नमः परम—योगीन्द्र—वन्दिताङ्घ्रिद्वयाय ते।।२७।।
नमः परम—विज्ञान!, नमः परम—संयम!।
नमः परमदृग्दृष्ट—परमार्थाय तायिने।।२८।।

नमस्तुभ्य–मलेश्याय, शुक्ललेश्यांशक–स्पृशे।
नमो भव्येतराऽवस्था–व्यतीताय विमोक्षिणे।।२९।।
संज्ञ्यसंज्ञिद्वयावस्था–व्यतिरिक्ताऽमलात्मने।
नमस्ते वीतसंज्ञाय, नमः क्षायिकदृष्टये।।३०।।
अनाहाराय तृप्ताय, नमः परमभाजुषे।
व्यतीताऽशेषदोषाय, भवाब्धेः पारमीयुषे।।३१।।
अजराय नमस्तुभ्यं, नमस्ते स्तादजन्मने।
अमृत्यवे नमस्तुभ्य–मचलायाऽक्षरात्मने।।३२।।
अलमास्तां गुणस्तोत्र–मनन्तास्तावका गुणाः।
त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे।।३३।।
एवं स्तुत्वा जिनं देवं, भक्त्या परमया सुधीः।
पठेदष्टोत्तरं नाम्नां, सहस्रं पापशान्तये।।३४।।

(इति प्रस्तावना)

प्रसिद्धाऽष्टसहस्रेद्ध–लक्षणं त्वां गिरांपतिम्।
नाम्नामष्टसहस्रेण, तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये।।१।।
श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः, शम्भवः शम्भुरात्मभूः।
स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता, विश्व–भू–रपुनर्भवः।।२।।
विश्वात्मा विश्लोकेशो, विश्वतश्चक्षु–रक्षरः।
विश्वविद् विश्वविद्येशो, विश्वयोनि–रनश्वरः।।३।।
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः।
विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः।।४।।
विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो, विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः।
विश्वदृग् विश्वभूतेशो, विश्वज्योति–रनीश्वरः।।५।।
जिनो जिष्णु–रमेयात्मा, विश्वरीशो जगत्पतिः।
अनन्तजि–दचिन्त्यात्मा, भव्यबन्धु–रबन्धनः।।६।।
युगादिपुरुषो ब्रह्मा, पञ्चब्रह्ममयः शिवः।
परः परतरः सूक्ष्मः, परमेष्ठी सनातनः।।७।।
स्वयंज्योति–रजोऽजन्मा, ब्रह्मयोनि–रयोनिजः।
मोहारिविजयी जेता, धर्मचक्री दयाध्वजः।।८।।

प्रशान्तरि–रनन्तात्मा, योगी योगीश्वराऽर्चितः।
ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो, ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वरः।।६।।
शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा, सिद्धार्थः सिद्धशासनः।
सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः, सिद्धाध्यो जगद्धितः।।१०।।
सहिष्णु–रच्युतोऽनन्तः, प्रभविष्णुर्भवोद्भवः।
प्रभूष्णु–रजरोऽजर्यो, भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः।।११।।
विभावसु–रसम्भूष्णुः स्वयम्भूष्णुः पुरातनः।
परमात्मा परंज्योति–स्त्रिजगत्परमेश्वरः।।१२।।

इति श्रीमदादिशतम्।।१।।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः, पूतवाक्पूतशासनः।
पूतात्मा परमज्योति–र्धर्मध्यक्षो दमीश्वरः।।१।।
श्रीपतिर्भगवानर्ह–न्नरजा विरजाः शुचिः।
तीर्थकृत् केवलीशानः, पूजार्हः स्नातकोऽमलः।।२।।
अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा, स्वयंबुद्धः प्रजापतिः।
मुक्तः शक्तो निरबाधो, निष्कलो भुवनेश्वरः।।३।।
निरञ्जनो जगज्ज्योति–र्निरुक्तोक्तिरनामयः।
अचलस्थितिरक्षोभ्यः, कूटस्थः स्थाणुरक्षयः।।४।।
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता, प्रणेता न्यायशास्त्रकृत्।
शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो, धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत्।।५।।
वृषध्वजो वृषाधीशो, वृषकेतुर्वृषायुधः।
वृषो वृषपतिर्भर्ता, वृषभाङ्को वृषोद्भवः।।६।।
हिरण्यनाभिर्भूतात्मा, भूतभृद् भूतभावनः।
प्रभवो विभवो भास्वान्, भवो भवो भवान्तकः।।७।।
हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः, प्रभूतविभवोऽभवः।
स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा, भूतनाथो जगत्पतिः।।८।।
सर्वादिः सर्वदिक् सार्वः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः।
सर्वात्मा सर्वलोकेशः, सर्ववित् सर्वलोकजित्।।६।।
सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत्, सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः।
विश्रुतो विश्वतःपादो, विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः।।१०।।

सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः, सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
भूतभव्यभवद्भर्ता, विश्वविद्यामहेश्वरः ।।११।।
इति दिव्यादिशतम् ।।२।।

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः, प्रष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः ।
स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठः श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगीः ।।१।।
विश्वभृद् विश्वसृट् विश्वेट्, विश्वभुग् विश्वनायकः ।
विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा, विश्वजिद्विजितान्तकः ।।२।।
विभवो विभयो वीरो, विशोको विजरो जरन् ।
विरागो विरतऽसङ्गो, विविक्तो वीतमत्सरः ।।३।।
विनेयजनताबन्धु–र्विलीनाशेषकल्मषः ।
वियोगो योगविद् विद्वान्, विधाता सुविधिः सुधीः ।।४।।
क्षान्तिभाक्पृथ्वीमूर्तिः, शान्तिभाक् सलिलात्मकः ।
वायुमूर्तिरसङ्गात्मा, वह्निमूर्तिरधर्मधक् ।।५।।
सुयज्वा यजमानात्मा, सुत्वा सुत्रामपूजितः ।
ऋत्विग्यज्ञपतिर्याज्यो, यज्ञाङ्गममृतं हविः ।।६।।
व्योममूर्ति–रमूर्तात्मा, निर्लेपो निर्मलोऽचलः ।
सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा, सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ।।७।।
मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री, मन्त्रमूर्ति–रनन्तगः ।
स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वन्तः, कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ।।८।।
कृती कृतार्थः सत्कृत्यः, कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
नित्यो मृत्युञ्जयोऽमृत्यु–रमृतात्माऽमृतोद्भवः ।।९।।
ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म, ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः ।
महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट्, महाब्रह्मपदेश्वरः ।।१०।।
सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा, ज्ञानधर्मदमप्रभुः ।
प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा, पुराणपुरुषोत्तमः ।।११।।
इति स्थविष्ठादिशतम् ।।३।।

महाशोकध्वजोऽशोकः, कः स्रष्टा पद्मविष्टरः ।
पद्मेशः पद्मसम्भूतिः, पद्मनाभि–रनुत्तरः ।।१।।
पद्मयोनिर्जगद्योनि–रित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।

स्तवनार्हो हृषीकेशो, जितजेयः कृतक्रियः।।२।।
गणाधिपो गणज्येष्ठो, गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः।
गुणाकरो गुणाम्भोधि–र्गुणज्ञो गुणनायकः।।३।।
गुणादरी गुणोच्छेदी, निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः।
शरण्यः पुण्यवाक्पूतो, वरेण्यः पुण्यनायकः।।४।।
अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः, पुण्यकृत्पुण्यशासनः।
धर्मारामो गुणग्रामः, पुण्यापुण्य–निरोधकः।।५।।
पापापेतो विपापात्मा, विपाप्मा वीतकल्मषः।
निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो, निर्मोहो निरुपद्रवः।।६।।
निर्निमेषो निराहारो, निष्क्रियो निरुपप्लवः।
निष्कलङ्को निरस्तैना, निर्धूतागा निरास्रवः।।७।।
विशालो विपुलज्योति–रतुलो चिन्त्यवैभवः।
सुसंवृतः सुगुप्तात्मा, सुभुत् सुनयतत्त्ववित्।।८।।
एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः।
धीशो विद्यानिधिः साक्षी, विनेता विहतान्तकः।।९।।
पिता पितामहः पाता, पवित्रः पावनो गतिः।
त्राता भिषग्वरो वर्यो, वरदः परमः पुमान्।।१०।।
कविः पुराणपुरुषो, वर्षीयान्वृषभः पुरुः।
प्रतिष्ठाप्रसवो हेतु–र्भुवनैकपितामहः।।११।।

इति महाशोकध्वजादिशतम्।।४।।

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो, लक्षण्यः शुभलक्षणः।
निरक्षः पुण्डरीकाक्षः, पुष्कलः पुष्करेक्षणः।।१।।
सिद्धिदः सिद्धसङ्कल्पः, सिद्धात्मा सिद्धसाधनः।
बुद्धबोध्यो महाबोधि–र्वर्धमानो महर्द्धिकः।।२।।
वेदाङ्गो वेदविद् वेद्यो, जातरूपो विदांवरः।
वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो, विवेदो वदतांवरः।।३।।
अनादिनिधिनोव्यक्तो, व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः।
युगादिकृद् युगाधारो, युगादिर्जगदादिजः।।४।।
अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो, महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक्।

अनिन्द्रियोऽहमिन्द्राच्यों, महेन्द्रमहितो महान्।।५।।
उद्भवः कारणं कर्ता, परगो भवतारकः।
अगाह्यो गहनं गुह्यं, परार्ध्यः परमेश्वरः।।६।।
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धि–रचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः।
प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्रः, प्रत्यग्रोऽग्योऽग्रिमोऽग्रजः।।७।।
महातपा महातेजा, महोदर्को महोदयः।
महायशा महाधामा, महासत्त्वो महाधृतिः।।८।।
महाधैर्यो महावीर्यो, महासंपन्महाबलः।
महाशक्तिर्महाज्योति–र्महाभूतिर्महाद्युतिः।।९।।
महामतिर्महानीति–र्महाक्षान्तिर्महादयः।
महाप्राज्ञो महाभागो, महानन्दो महाकविः।।१०।।
महामहा महाकीर्ति–र्महाकान्तिर्महावपुः।
महादानो महाज्ञानो, महायोगो महागुणः।।११।।
महामहपतिः प्राप्त–महाकल्याणपञ्चकः।
महाप्रभुर्महाप्राति–हार्याधीशो महेश्वरः।।१२।।
इति श्रीवृक्षादिशतम्।।५।।
महामुनिर्महामौनी, महाध्यानो महादमः।
महाक्षमो महाशीलो, महायज्ञो महामखः।।१।।
महाव्रतपतिर्मह्यो महकान्तिधरोऽधिपः।
महामैत्रीमयोऽ–मेयो, महोपायो महोमयः।।२।।
महाकारुणिको मन्ता, महामन्त्रो महायतिः।
महानादो महाघोषो, महेज्यो महसांपतिः।।३।।
महाध्वरधरो धुर्यो, महौदार्यो महिष्ठवाक्।
महात्मा महासांधाम, महर्षिर्महितोदयः।।४।।
महाक्लेशाङ्कुशः शूरो, महाभूतपतिर्गुरुः।
महापराक्रमोऽनन्तो, महाक्रोधरिपुर्वशी।।५।।
महाभवाब्धिसंतारी, महामोहाऽद्रिसूदनः।
महागुणाकरः क्षान्तो, महायोगीश्वरः शमी।।६।।
महाध्यानपतिर्ध्याता–महाधर्मा महाव्रतः।

महाकर्मारिहाऽऽत्मज्ञो, महादेवो महेशिता ।।७।।
सर्वक्लेशापहः साधुः, सर्वदोषहरो हरः ।
असंख्येयो प्रमेयात्मा, शमात्मा प्रशमाकरः ।।८।।
सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः, श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः ।
दान्तात्मा दमतीर्थेशो, योगात्मा ज्ञानसर्वगः ।।६।।
प्रधानमात्मा प्रकृतिः, परमः परमोदयः ।
प्रक्षीणबन्धः कामारिः, क्षेमकृत्क्षेमशासनः ।।१०।।
प्रणवः प्रणतः प्राणः, प्राणदः प्राणतेश्वरः ।
प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो, दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ।।११।।
आनन्दो नन्दनो नन्दो, वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः ।
कामहा कामदः, काम्यः कामधेनु–ररिञ्जयः ।।१२।।
इति महामुन्यादिशतम् ।।६।।
असंस्कृत सुसंस्कारः, प्राकृतो वैकृतान्तकृत ।
अन्तकृत्कान्तगुः कान्त–श्चिन्तामणिरभीष्टदः ।।१।।
अजितो जितकामारि–रमितोऽमितशासनः ।
जितक्रोधो जितामित्रो, जितक्लेशो जितान्तकः ।।२।।
जिनेन्द्रः परमानन्दो, मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः ।
महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो, यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ।।३।।
नाभेयो नाभिजो जातः, सुव्रतो मनुरुत्तमः ।
अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वा–नधिकोऽधिगुरुः सुधीः ।।४।।
सुमेधा विक्रमी स्वामी, दुराधर्षो निरुत्सुकः ।
विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः, प्रत्ययः कामनोऽनघः ।।५।।
क्षमी क्षेमङ्करोऽक्षय्यः, क्षेमधर्मपतिः क्षमी ।
अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो, ध्यानगम्यो निरुत्तरः ।।६।।
सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः ।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्–चतुरास्यश्चतुर्मुखः ।।७।।
सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक्सत्यशासनः ।
सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ।।८।।
स्थेयान्स्थवीयान्नेदीया न्दवीयान् दूरदर्शनः ।

अणोरणीया–ननणु–र्गुरुराद्यो गरीयसाम् ।।६।।
सदायोगः सदाभोगः, सदातृप्तः सदाशिवः ।
सदागतिः सदासौख्यः, सदाविद्यः सदोदयः ।।१०।।
सुघोषः सुमुखः सौम्यः, सुखदः सुहितः सुहृत् ।
सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमीश्वरः ।।११।।
इति असंस्कृतादिशतम् ।।७।।
बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी, वाचस्पति–रुदारधीः ।
मनीषी धिषणो धीमाञ्छेमुषीशो गिरांपतिः ।।१।।
नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् ।
अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा, कृतज्ञः कृतलक्षणः ।।२।।
ज्ञानगर्भो दयागर्भो, रत्नगर्भः प्रभास्वरः ।
द्मगर्भो जगद्गर्भो, हेमगर्भः सुदर्शनः ।।३।।
लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो, द्रढीयानिन ईशिता ।
मनोहरो मनोज्ञाङ्गो, धीरो गम्भीरशासनः ।।४।।
धर्मयूपो दयायागो, धर्मनेमिर्मुनीश्वरः ।
धर्मचक्रायुधो देवः, कर्महा धर्मघोषणः ।।५।।
अमोघवागमोघाज्ञो, निर्मलो मोघशासनः ।
सुरूपः सुभगस्त्यागी, समयज्ञः समाहितः ।।६।।
सुस्थितः स्वास्थ्यभाक्स्वस्थो, नीरजस्को निरुद्धवः ।
अलेपो निष्कलङ्कात्मा, वीतरागो गतस्पृहः ।।७।।
वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा, निःसपत्नो जितेन्द्रियः ।
प्रशान्तोऽनन्तधामर्षि–र्मङ्गलं मलहानघः ।।८।।
अनीदृगुपमाभूतो, दिष्टिदैवमगोचरः ।
अमूर्तो मूर्तिमानेको, नैको नानैकतत्त्वदृक् ।।६।।
अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा, योगविद्योगिवन्दितः ।
सर्वत्रगः सदाभावी, त्रिकालविषयार्थदृक् ।।१०।।
शङ्कर शंवदो दान्तो, दमी क्षान्तिपरायणः ।
अधिपः परमानन्दः, परात्मज्ञः परापरः ।।११।।
त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्य–स्त्रिजगन्मङ्गलोदयः ।

त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि–स्त्रिलोकाग्रशिखामणिः।।१२।।
इति वृहदादिशतम्।।८।।
त्रिकालदर्शी लोकेशो, लोकधाता दृढव्रतः।
सर्वलोकातिगः पूज्यः, सर्वलोकैकसारथिः ।।१।।
पुराणः पुरुषः पूर्वः, कृतपूर्वाङ्गविस्तरः।
आदिदेवः पुराणाद्यः, पुरुदेवोऽधिदेवता।।२।।
युगमुख्यो युगज्येष्ठो, युगादिस्थितिदेशकः।
कल्याणवर्णः कल्याणः, कल्यः कल्याणलक्षणः।।३।।
कल्याणप्रकृतिर्दीप्र–कल्याणात्मा विकल्मषः।
विकलङ्कः कलातीतः, कलिलघ्नः कलाधरः।।४।।
देवदेवो जगन्नाथो, जगद्बन्धुर्जगद्विभुः।
जगद्धितैषी लोकज्ञः, सर्वगो जगदग्रगः।।५।।
चराचरगुरुर्गोप्यो, गूढात्मा गूढगोचरः।
सद्योजातः प्रकाशात्मा, ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ।।६।।
आदित्यवर्णो रुक्माभः, सुप्रभः कनकप्रभः।
सुवर्णवर्णो रुक्माभः, सूर्यकोटिसमप्रभः।।७।।
तपनीयनिभस्तुङ्गो, बालार्काभोऽनलप्रभः।
सन्ध्याभ्रबभ्रर्हेमाभस्–तप्तचामीकरच्छविः।।८।।
निष्टप्तकनकच्छायः, कनत्काञ्चनसन्निभः।
हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः, शातकुम्भनिभप्रभः ।।९।।
द्युम्नाभो जातरूपाभस –तप्तजाम्बूनदद्युतिः।
सुधौतकलधौतश्रीः, प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ।।१०।।
शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः, स्पष्टः, स्पष्टाक्षरः क्षमः।
शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः, प्रशास्ता शासिता स्वभूः ।।११।।
शान्ति निष्ठो मुनिज्येष्ठः, शिवतातिः शिवप्रदः।
शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः, कान्तिमान्कामितप्रदः।१२।।
श्रेयोनिधि–रधिष्ठान–मप्रतिश्ठः प्रतिष्ठितः।
सुस्थिरः स्थावरः स्थास्नुः, प्रथीयान्प्रथितः पृथुः।।१३।।
इति त्रिकालदर्श्यादिशतम्।।

दिग्वासा वातरशनो, निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।
निष्किञ्चनो निराशंसो, ज्ञानचक्षु–रमोमुहः।।१।।
तेजोराशि–रनन्तौजा, ज्ञानाब्धिः शीलसागरः।
तेजोमयोऽमितज्योति–र्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः।।२।।
जगच्चूडामणिर्दीप्तः, शंवान्विघ्नविनायकः।
कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो, लोकालोकप्रकाशकः।।३।।
अनिद्रालु–रतन्द्रालु–र्जागरूकः प्रमामयः।
लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योति–धर्मराजः प्रजाहित।।४।।
मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो, जिताज्ञो जितमन्मथः।
प्रशान्तरसशैलूषो, भव्यपेटकनायकः।।५।।
मूलकर्ताऽखिलज्योति–र्मलघ्नो मूलकारणं।
आप्तो वागीश्वरः श्रेयाञ्छ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक्।।६।।
प्रवक्ता वचसामीशो, मारजिद्विश्वभाववित्।
सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः, सुगतो हतदुर्नयः।।७।।
श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो, वीतभी–रभयङ्करः।
उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो, निश्चलो लोकवत्सलः।।८।।
लोकोत्तरो लोकपति–र्लोकचक्षुरपारधीः।
धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः, शुद्धः सूनृतपूतवाक्।।९।।
प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो, यतिर्नियमितेन्द्रियः।
भदन्तो भद्रकृभद्रः, कल्पवृक्षो वरप्रदः।।१०।।
समुन्मूलितकर्मारिः, कर्मकाष्ठाऽऽशुशुक्षणिः।
कर्मण्यः कर्मठः प्रांशु–र्हेयादेयविचक्षणः।।११।।
अनन्तशक्तिरच्छेद्य–स्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः।
त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः, केवलज्ञानवीक्षणः।।१२।।
समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः।
सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुर्धर्मदेशकः।।१३।।
शुभंयुः सुखसाद्भूतः, पुण्यराशि–रनामयः।
धर्मपालो जगत्पालो, धर्मसाम्राज्यनायकः।।१४।।
इति दिग्वासाद्यष्टोत्तरशतम्।।१०।।

धाम्नांपते तवामूनि, नामान्यागमकोविदैः।
समुच्चितान्यनुध्याय–न्युमान्पूतस्मृतिर्भवेत्।।१।।
गोचरोऽपि गिरामासां, त्वमवाग्गोचरो मतः।
स्तोता तथाप्यसन्दिग्धं, त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत्।।२।।
त्वमतोऽसि जगद्बधु–स्त्वमताऽसि जगभिदषक्।
त्वमतोऽसि जगद्धता त्वमतोऽसि जगद्धितः।।३।।
त्वमेकं जगतां ज्योति–स्त्वं द्विरूपोपयोगभाक्।
त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यङ्गः स्वोत्थानन्तचतुष्टयः।।४।।
त्वं पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा, पञ्चकल्याणनायकः।
षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसङ्ग्रहः।।५।।
दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं, नवकेवललब्धिकः।
दशावतारनिर्धार्यो, मां पाहि परमेश्वर!।।६।।
युष्मन्नामावलीदृब्धा–विलसत्स्तोत्रमालया।
भवन्त वरिवस्यामः, प्रसीदानुगृहाण नः।।७।।
इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य, पूतो भवति भाक्तिकः।
यः संपाठं पठत्येनं स स्यात्कल्याणभाजनम्।।८।।
ततः सदेदं पुण्यार्थी, पुमान्पठतु पुण्यधीः।
पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं, परमा–मभिलाषुकः।।९।।
स्तुत्वेति मघवा देवं, चराचरजगद्गुरुम्।
ततस्तीर्थविहारस्य, व्यधात्प्रस्तावनामिमाम्।।१०।।
स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम्।।११।।
यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचित्
ध्येयो योगिजनस्य यश्च नितरां ध्याता स्वंन कस्यचित्।
यो नेतृन् नयते नमस्कृतिमलं नन्तव्यपक्षेक्षणः
स श्रीमान् जगतां त्रयस्य च गुरुर्देवः पुरुः पावनः।।१२।।
तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं
प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिनं भव्याब्जिनीनामिनम्।
मानस्तम्भविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं
प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवन्दामहे।।१३।।
(इति श्रीभगवज्जिनसहस्रनामस्तोत्रं समाप्तम्)

श्रीसरस्वतीकल्पः।

–श्री बप्पभट्टसूरि

कन्दात् कुण्डलिनी! त्वदीयवपुषा निर्गत्य तन्तुत्विषा
किञ्चिम्बितमम्बुजं शतदलं त्वद्ब्रह्मरन्ध्रादयः।
यश्चन्द्रद्युति! चिन्तयत्यविरतं भूयोऽस्य भूमण्डले
तन्मन्ये कविचक्रवर्तिपदवी छत्रच्छलाद् वल्गति।।१।।
यस्त्वद्वक्त्रमृगाङ्कमण्डलमिलत्कान्तिप्रतानोच्छल–
च्चञ्चच्चन्द्रकचक्रचित्रितककुप्कन्याकुल! ध्यायति।
वाणि! वाणिविलासभङ्गुरपदप्रागल्भ्यशृङ्गारिणी
नृत्यत्युन्मदनर्तकीव सरसं तद्वक्त्ररङ्गाङ्गणे।।२।।
देवि! त्वद्धृतचन्द्रकान्तकरकश्चयोतत्सुधानिर्झर–
स्नानानन्दतरङ्गितं पिबति यः पीयूषधारधरम्।
तारालंकृतचन्द्रशक्तिकुहरेणाकण्ठमुत्कण्ठितो
वक्त्रेणोद्गिरतीव तं पुनरसौ वाणीविलासच्छलात्।।३।।
क्षुभ्यत्क्षीरसमुद्रनिर्गतमहाशेषाहिलोलत्फणा–
पत्रोन्निदसितारविन्दकुहरैश्चन्द्रस्फुरत्कर्णिकैः।
देवि! त्वां च निजं च पश्यति वपुर्यः कान्तिभिन्नान्तरं
ब्राह्मि! ब्रह्मपदस्य वल्गति वचः प्रागल्भदुग्धाम्बुधेः।।४।।
नाभीपाण्डुरपुण्डरीककुहराद् हृत्पुण्डरीके गलत्–
पीयूषद्रववर्षिणि! प्रविशतीं त्वां मातृकामालिनीम्।
दृष्ट्वा भारति! भारती प्रभवति प्रायेण पुंसो यथा
निर्ग्रन्थीनि शतान्यपि ग्रथयति ग्रन्थायुतानां नरः।।५।।
त्वां मुक्तामयसर्वभूषणगणां शुक्लाम्बराडम्बरां
गौरीं गौरिसुधातरङ्गधवलामालोक्य हृत्पङ्कजे।
वीणापुस्तकमौक्तिकाक्षवलयश्वेताब्जवल्गत्करां
न स्यात् कः स्फुटवृत्तचक्ररचनाचातुर्यचिन्तामणिः।।६।।
पश्येत् स्वां तनुमिन्दुमण्डलगतां त्वां चाभितो मण्डितां
यो ब्रह्माण्डकरण्डपिण्डितसुधाडिण्डीरपिण्डैरिव।
स्वच्छन्दोद्गतगद्यपद्यलहरीलीलाविलासामृतैः
सानन्दास्तमुपाचरन्ति कवयश्चन्द्रं चकोरा इव।।७।।

तद्वेदान्तशिरस्तदोङ्कृतिमुखं तत् तत्कलालोचनं
तत्तद्वेदभुजं तदात्महृदयं तद्गद्यपद्याङ्घ्रि च।
यस्त्वद्वर्ष्म विभावयत्यविरतं वाग्देवते! वाङ्मयं
शब्दब्रह्मणि निष्ठितः स परमब्रह्मैकतामश्नुते।।८।।
वाग्बीजं स्मरबीजवेष्टितमतो ज्योतिःकला तद्बहि–
श्चाष्टद्वादशषोडशद्विगुणितद्व्यष्टाब्जपत्रान्वितम्।
तद्बीजाक्षरकादिवर्णरचितान्यग्रे दलस्यान्तरे
हंसः कूटयुतं भवेदवितथं यन्त्रं तु सारस्वतम्।।९।।
औमैं श्रीमनु सौं ततोऽपि च पुनः क्लीं वदौ वागूवादि–
न्येतस्मादपि ह्रीं ततोऽपि च सरस्वत्यै नमोऽदः पदम्।
अश्रान्तं निजभक्तिशक्तिवशतो यो ध्यायति प्रस्फुटं
बुद्धिज्ञानविचारसारसहितः स्याद् देव्यसौ साम्प्रतम्।।१०।।
स्मृत्वा मन्त्रं सहस्रच्छदकमलमनुध्याय नाभीहृदोत्थं
श्वेतस्निग्धोर्ध्वनालं हृदि च विकचतां प्राप्य निर्यातमास्यात्।
तन्मध्ये चोर्ध्वरूपामभयदवरदां पुस्तकाम्भोजपाणिं
वाग्देवीं त्वन्मुखाच्च स्वमुखमनुगतां चिन्तयेदक्षरालीम्।।११।।
किमिह बहुविकल्पैर्जल्पितैर्यस्य कण्ठे
भवति विमलवृत्तस्थूलमुक्तावलीयम्।
भवति भवति! भाषे! भव्यभाषाविशेषै–
र्मधुरमधुसमृद्धस्तस्य वाचांविलासः।।१२।।
अथ मन्त्रक्रमो लिख्यते–ॐ सरस्वत्यै नमः। अर्चनमन्त्रः।
ॐ भूरिसी भूतधात्री भूमिशुद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।
भूमिशुद्धिमन्त्र। ॐ विमले! विमलजले! सर्वतीर्थजले! पां
वां इ्वाँ इ्वीं अशुचिः शुचीभवामि स्वाहा। आत्मशुद्धिमन्त्रः।
ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्रीं शिरसे नमः।
ॐ महापद्मयशसे ह्रीं योगपीठाय नमः।
ॐ वद वद वाग्वादिनी हूँ शिखायै वषट्।
ॐ वद वद वाग्वादिनी नेत्रद्वयाय वषट्।
ॐ वद वद वाग्वादिनी कवचाय हुं।
ॐ वद वद वाग्वादिनी! अस्त्राय फट्।

इति सकलीकरणम्।

ॐ अमृते! अमृतोद्भवे! अमृतं स्त्रावय ऐं क्लीं ब्लूँ द्रॉ द्रीं द्रावय द्रावय स्वाहा।

यो जपेज्जातिकापुष्पैर्भानुसंख्यसहस्रकम्।
दशांशहोमसंयुक्तं स स्याद् वागीश्वरीसमः।।
महिषाख्यगुग्गुलेन प्रविनिर्मितचनकमात्रसद्गुटिकाः।
होमस्त्रिमधुरयुक्तः तुष्टा देवी वरं दत्ते।।

इति शुद्धं श्रीसारस्वतम्।

अथैतत्पीठक्रमो लिख्यते—

पद्मोपरि पद्मासनस्था भगवतीमूर्तिः करचतुष्टयधृतवरपद्मा शिरसि षट्कोणाकारमुकुटभ्राजिता नाभौ चतुर्दलपद्मधारिणी लेख्या। ततो नाभिपद्मे कार्णिकायां ॐकारं लिखेत्, पूर्वादिचतुर्दलेषु न १ मः २ सि ३ द्धं ४ इत्यक्षराणि लेख्यानि। अधस्तनदक्षिणकरे षोडशदलं पद्मं कृत्वा तत्र कर्णिकायां ऐंकारं दत्त्वा पूर्वादिषोडषदलेषु क्रमेण षोडश स्वरान् लिखेत्, अधस्तनवामकरे पञ्चविंशतिदलं पद्म कृत्वा तत्कर्णिकायां श्रींकारं विलिख्य पूर्वादिपञ्चविंशतिदलेषु क्रमेण क्रमात् कादयो वर्गवर्णाः पञ्चविंशतिर्लेख्याः। अथवोपरितनदक्षिणकरे अष्टदलं पद्मं कृत्वा तत्र कर्णिकायां सौँ इति बीजं लिखित्वा पूर्वादिदलेषु य–र–ल–व–श–ष–स–ह इत्यष्टौ वर्णा लेख्याः। उपरितनवामकरेऽप्यष्टदलं पद्मं कृत्वा तत्कर्णिकायां क्लीं इति बीजं दत्त्वा पूर्वाद्यष्टदलेषु व १ द २ व ३ छ ४ वा ५ ग्वा ६ दि ७ नि ८ इति वर्णा लेख्याः। शिरःषट्कोणे गर्भे ह्रींकारं लिखित्वा पूर्वादिकोणषट्के स १ र २ स्व ३ त्यै ४ न ५ मः ६ एवमक्षरषट्कं लेख्यम्। सर्वं शुक्लध्यानेन षट्चक्रस्थापनं विधाय ध्येयम्।

मूलमन्त्रश्चायम्—ॐ ऐं श्रीं सौँ क्लीं वद वद वाग्वादिनी ह्रीं सरस्वत्यै नमः। इति पाठशुद्ध्या मन्त्रं स्मरेत्, करजापो लक्षं जातिपुष्पैः सहस्राः १२ जापः। गुग्गुलगुटी १२०० त्रिमधुरमिश्राः

कृत्वा होमः कार्यः, आश्विने चैत्रे वा नवरात्रेषु कार्यं दीपोत्सवामावास्यायां वा ततः सिद्धिः।।

आम्नायान्तरेण यन्त्रं लिख्यते, यथा–

वृत्तं मण्डलं कृत्वा परितः पूर्वादौ चत्वारि दलानि, तत्र पूर्वदले ॐ ह्रीं देवतायै नमः १, दक्षिणदले ॐ ह्रीं सरस्वत्यै नमः २, पश्चिमदले ॐ ह्रीं भारत्यै नमः ३, उत्तरदले ॐ ह्रीं कुम्भदेवतायै नमः ४,

तद्बहिरष्टदले, तत्र पूर्वादितः ॐ मोहे यः १, ॐ नन्दे यः २, ॐ भद्रे यः ३, ॐ जये यः ४, ॐ विजये यः ५, ॐ अपराजिते यः ६, ॐ जम्भे यः ७, ॐ स्तम्भे यः ८, इति लेख्यम्। तद्बहिः षोडशदलानि, तत्र–ॐरोहिण्यै नमः १, ॐ प्रज्ञप्त्यै नमः २, इत्यादिषोडशदेवीनामानि लेख्यानि, तद्बहिः पुनरष्टदलानि, पूर्वदले ॐ ह्रीं इन्द्राय नमः १, क्रमेण ॐ ह्रीं अग्नये नमः २, ॐ ह्रीं यमाय नमः ३, ॐ ह्री नैर्ऋतये नमः, ४, ॐ ह्रीं वरुणाय नमः ५, ॐ ह्रीं वायवे नमः ६, ॐ ह्रीं कुवेराय नमः ७, ॐ ह्रीं ईशानाय नमः ८ इति लिखेत्। ततो मायया त्रिरभिवेष्ट्य क्रौँकारेण निरुध्य परितः पृथ्वीमण्डलं कोणेषु प्रत्येकं चतुर्वज्राङ्कितं कृत्वा मध्यकोणेषु लं प्रत्येकं लिखेत्। इति यन्त्रविधिः।

यन्त्रमध्ये मन्त्रो भगवतीमूर्तिर्वा लेख्या।

मन्त्रश्चायम्–ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनी! भगवति! सरस्वति! ह्रीं नमः। एतन्मन्त्रस्य पूर्वसेवा करजप्यः लक्षं जातीपुष्पजातिश्च १२००० ततो दशांशहोमो घृतगुग्गुलमधुखण्डैर्जपितपुष्पमध्यात् १२००० पुष्पाणि गृहीत्वा गुटिका संचूर्ण्यते। मन्त्रदानं दीपोत्सव एव गर्भे मन्त्रो मूर्तिर्वा भगवत्या लिख्यते यन्त्रस्योभयथापि कार्यम्। जापे नमः। होमे स्वाहा।

इति श्रीबप्पभट्टिसूरेराम्नायः।

अथ पुनः श्रीबप्पभट्टिसूरिविद्याक्रमे महापीठोद्धारो लिख्यते—ऐं क्लीं ह्सौं पूर्ववक्त्राय नमः, १ ऐं क्लीं ह्सौं दक्षिणवक्त्राय नमः २, ऐं क्लीं ह्सौं पश्चिमवक्त्राय नमः ३, ऐं क्लीं ह्सौं उत्तरवक्त्राय नमः ४, ऐं क्लीं ह्सौं ऊर्ध्ववक्त्राय नमः ५—वक्त्रपञ्चकम्।

ऐं ह्रदि कमलायै हृदयाय नमः १, ऐं शिरः कुलायै नमः, ऐं शिरसे स्वाहा २, ऐं शिखकुलाये शिखायै वौषट् ३, ऐं कवचकुलाय कवचाय नमः ४, ऐं नेत्रायै नेत्रत्राय वषट् ५, स्त्राकुलयें अस्त्राय फट् ६, अ ऐ अङ्गसकलीकरणम्। इति करन्यासः, अङ्गन्यासः, पात्रपूजा, आत्मपूजा, मण्डलपूजा, ततः आह्वानं स्थापनम्।

सन्निधानं सन्निरोधमुद्रा—दर्शनयोनिमुद्रा—गोस्तनमुद्रा—महामुद्रा इति मुद्रात्रयं दर्शयेत्, ततो जापः कार्यः। यथाशक्त्या करजापेन लक्षजापः। पुष्पजापे चतुर्विंशतिसहस्राणि दशांशेन होमः। पूजापुष्पाणि कुट्टयित्वा गुटिका घृतेन घोलयित्वा होमयेत्, त्रिकोणकुण्डे हस्तमात्रविस्तारे खाते च ततः सिद्ध्यति।

ऐं क्लीं ह्सौं वद वद वाग्वादिनी! ह्रीं नमः। मूलमन्त्रः।।

वाग्भवं प्रथमं बीजं द्वितीयं कुसुमायुधम्।
तृतीयं जीवसंज्ञं तु सिद्धसारस्वतं पुनः।।
वाग्बीजं स्मरबीजवेष्टिमतो ज्योतिःकला तद्बहि–
रष्टद्वादशषोडशद्विगुणितंद्वयष्टाब्जपत्रान्वितम्।
तद्बीजाक्षरकादिवर्णराचितान्यग्रे दलस्यान्तरे
हंसः कूटयुतं भवेदवितथं यन्त्रं तु सारस्वतम्।।
स्मृत्वा मन्त्रं सहस्रच्छदकमलमनुध्याय नाभीह्रदोत्थं
चेतः स्निग्धोदनालं ह्रदि च विकचतां प्राप्य निर्यातमास्यात्।
तन्मध्ये चोर्ध्वरूपामभयदवरदापुस्तिकाम्भोजपाणिं
वाग्देवीं त्वन्मुखाच्च स्वमुखमनुगतां चिन्तयेदक्षरालीम्।।

ततो मध्ये साध्यनाम ततो ष्टदलेषु अष्टौ पिठाक्षराणि क्म्ल्व्यूं
च्म्ल्व्यूं त्म्ल्व्यूं टम्ल्व्यूं प्म्ल्व्यूं य्म्ल्व्यूं श्म्ल्व्यूं ह्म्ल्व्यूं इति।

ततो द्वादशदलाक्षराणि यथा कं कः, चं चः, टं टः, तं तः, पं पः, यं यः, रं रः, लं लः, वं वः, शं शः, षं षः, सं सः इति।

ह्स्वास्तु भैरवाः प्रोक्ता दीर्घस्वरेण मातरः।
असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रीध अष्टौ हि भैरवाः।।

ब्रह्माणी माहेश्वरी कौमारी वाराही वैष्णवी चामुण्डा चण्डिका महालक्ष्मीः इत्यष्टौ मातरः। एवं षोडशदलेषु बीजाक्षराणि यथा—अह्सौँ आह्सौँ इह्सौँ ईह्सौँ उह्सौँ ऊह्सौँ ऋह्सौँ ॠह्सौँ लृह्सौँ लॄह्सौँ एह्सौँ ऐह्सौँ ओह्सौँ औह्सौँ अंह्सौँ अःह्सौँ। ततोऽपि द्विकाधिकत्रिंशद्दलानि—कह्सौँ खह्सौँ गह्सौँ घह्सौँ ङह्सौँ चह्सौँ छह्सौँ जह्सौँ झह्सौँ ञह्सौँ टह्सौँ ठह्सौँ डह्सौँ ढह्सौँ णह्सौँ तह्सौँ थह्सौँ दह्सौँ धह्सौँ नह्सौँ पह्सौँ फह्सौँ बह्सौँ भह्सौँ मह्सौँ यह्सौँ रह्सौँ लह्सौँ वह्सौँ शह्सौँ षह्सौँ सह्सौँ ३२।

प्रत्यन्तरे तु अस्मिन् द्वात्रिंशद्दलकोष्ठेषु ककारादिवर्णानामग्रे बीजाक्षरलेखने पाठान्तरं दृश्यते तदपि लिख्यते। यथा—

कद्रयौँः खद्रयौँः गद्रयौँः घद्रयौँः ङद्रयौँः चद्रयौँः छद्रयौँः जद्रयौँः झद्रयौँः ञद्रयौँः टद्रयौँः ठद्रयौँः डद्रयौँः ढद्रयौँः णद्रयौँः तद्रयौँः थद्रयौँः दद्रयौँः धद्रयौँ : त्रयौँः पद्रयौँः फद्रयौँः बद्रयौँः भद्रयौँः यद्रयौँः रद्रयौँः लद्रयौँः वद्रयौँः शद्रयौँः षद्रयौँः सद्रयौँः ३२

इति प्रत्यन्तरपाठान्तरक्रमः।

ततश्चतुःषष्टिदलानि आलाई ईवाई ऊशाई ॠषाई लॄसाई ऐहाई औळाई अंक्षाई१। आवाई ईशाई ऊषाई ॠसाई लृहाई ऐळाई औक्षाई अंलाई २ आशाई ईषाई ऊसाई ॠहाई लृळाई ऐक्षाई औलाई अंवाई ३

आषाई ईसाई ऊहाई ॠळाई लॄक्षाई ऐलाईऔवाई अंशाई ४
आसाई ईहाई ऊळाई ॠक्षाई ललाई ऐवाई औशाई अंषाई ५
आहाई ईळाई ऊक्षाई ॠलाई लृवाई ऐशाई औषाई अंसाई ६
आळाई ईक्षाई ऊलाई ॠवाई लृशाई ऐषाई औसाई अंहाई ७
आक्षाई ईलाई ऊवाई ॠशाई लृषाई ऐसाई औहाई अंळाई ८
एवं षष्टिः खीलनानि हलेषु ततोऽष्टदलानि। दलेषु ऐं ३ दुर्गे! दुर्गदर्शने नमः।
ऐं ३ चामुण्डे! चण्डरूपधारिण्यै नमः।
ऐं ३ जम्भे नमः। ऐं ३ मोहे नमः। ऐं ३ स्तम्भने नमः। ऐं ३ आशापुरायै नमः।
ऐं ३ विद्युज्जिह्वे! नमः। ऐं ३ कुण्डलिनी नमः।
ऐं ह्रींकारवेष्टितं क्रोंकारनिरुद्धं भूरिसी भूतधात्री भूमिशुद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।

भूमिशुद्धिमन्त्रः।

ऐं विमले! विमलजलाय सर्वोदकैः स्नानं कुरु कुरु स्वाहा।

स्नानमन्त्रः।

मंतपयारो एसो हयारपुव्वि त्ति सोयमग्गम्मि।

सो च्चिय सयारपुव्वो विज्जानेओ कुले हाइ।।

............जीवं दक्षिणवाचयोगसमन्वितम्।

सिद्धसारस्वतं बीजं सद्यो वै वचःकारः।।

शुचिप्रदेशे पटे पट्टे वा श्रीखण्डेन कर्पूरेण वा देव्या मूर्तिं कमलासनस्थां देवीचरणसमीपे योजिकरां स्वमूर्तिं च आलिख्य देवीप्रतिमां चाग्रतो विन्यस्य देवीपूजापूर्वकं यथाशक्ति श्रीखण्डजातीकुसुमसुगन्धधूपफलनैवेद्यजलप्रदीपाक्षतादिभिः साधकः पूजयेत्। स च स्नानकं च स्नानं वा कृत्वा शुचिवेषः समुपविशेत्। ततश्च 'ॐ विमलाय विमलचित्ताय पां वां क्षां ह्रीं स्वाहा' अनेन मन्त्रेण वार ३ शिरः प्रदेशात् चरणौ यावत् हस्ताभ्यां मन्त्रस्नानं कुर्यात् चन्द्रकिरणैर्दुग्धकर्पूरैर्वा आत्मानमभिषिच्यमानं चिन्तयेत्।

'ॐ भूरिसि! भूतधात्री भूमिशुद्धिं कुरु कुरु हुं फट् स्वाहा' अनेन मन्त्रेण वार ३ भूमिशुद्धिं कुर्यात्। ततः "ॐ ४ एहि एहि वार ४" अनेन मन्त्रेण आह्वानं कुर्यात्। द्रव्यतो भावतश्च देव्याह्वानं स्थापना च कार्या। ततः क्षि पद्मासने, प नाभिप्रदेशे, ॐ हृदये, स्वा नासिकायाम्, हा शिरःप्रदेशे एभिर्मन्त्रपदैरारोहक्रमेण ततश्च हा ५ ललाटे, स्वा ८ नासिकायाम्, ॐ हृदये, प १३ नाभौ, क्षि ५ पद्मासने एभिरेव मन्त्राक्षरैरात्मरक्षां कुर्यात्, चतुर्दिशं नखच्छोटिकां च शिखाबन्धं विदध्यात्। गुरूपदिष्टध्यानपूर्वकं मूलमन्त्रं जपेत्। मूलमन्त्रस्य सहस्र १२ करजापे ततः पुष्पजापे सहस्र पुष्पजापसत्कानि पुष्पाणि छायाशुष्काणि सञ्चूर्ण्य गुग्गुलेन सह चणकप्रमाणा गुटिकाः कृत्वा दुग्धघृतखण्डमध्यादाकृष्य ध्यानपूर्वं मन्त्रपूर्वं च होमयेत् खदिराङ्गारैः पलाशसमिद्भिश्च वैश्वानरः प्रथमं ज्वलन् कार्यः। पूजानन्तरम्—ॐ यः विसर्जनमन्त्रः लक्षजापे दिननियमो नास्ति, तत्रापि पूर्वविधिना दशांशेन होमः कार्यः, करजापे लक्ष १, पुष्पजापे लक्ष १, होमसहस्र १० उत्तरक्रियायां करजाप लक्ष १ सिद्धिं यावत् साधकः साधयेत्। ब्रह्मचर्यं भूमिशयनं वृक्षशयनं वा। एकवारभोजनं आम्ललवणवर्जं च कुर्यात्। स्वप्नेऽपि वीर्यच्युतौ मूलतो गच्छति, अतोऽनवरतं एलचीप्रभृतिवीर्यापहारकं भक्षयेत्।

होमकुण्डं अङ्गुल १६, विस्तारे अङ्गुल १२।।

अ ॐ स्वाहा कुण्डस्य स्थापना! आ ॐ स्वाहा मृत्तिकासंस्कारः।

इ ॐ स्वाहा जलसंस्कारः। ई ॐ स्वाहा गोमयसंस्कारः।

उ ॐ स्वाहा उभयसंयोगसंस्कारः। ऊ ॐ लिम्पनसंस्कारः।

ऋ ॐ स्वाहा दहनसंस्कारः। ॠ ॐ शोषणसंस्कारः।

लृ ॐ स्वाहा अमृतलावणसंस्कारः। लॄ ॐ स्वाहा मन्त्र पूतसंस्कारः।

ए ॐ इन्द्रासनाय नमः। ऐ ॐ स्वाहा अनलदेवतासनाय नमः।

ओ ॐ यमाय स्वाहा। ओ ॐ नैर्ऋताय स्वाहा।

अं ॐ वरुणाय स्वाहा। अं ॐ वायवे स्वाहा

अं अः ॐ धनदाय स्वाहा। अं अः ॐ ईशानाय स्वाहा।

ल्लं ॐ कुण्डदेवतायै स्वाहा। क्षं ॐ स्वाहा एवं कुण्डसंस्कारः।

ॐ जातवेदा आगच्छ आगच्छ सर्वाणि कार्याणि साधय साधय साधय स्वाहा। आह्वाननम्।

र ॐ जलेन प्रोक्षणम्। रॐ अभ्रोक्षणम्।

र ॐ त्रिर्मार्जनम्। र ॐ सर्वभस्मीकरणम्।

र ॐ क्रव्यादजिह्वां परिहरामि। दक्षिणदिशि पुष्पं भ्रामयित्वा क्षेपणीयम्। अथ वैश्वानररक्षा–

ॐ हृदयाय नमः, ॐ शिरसे स्वाहा,। वैश्वानररक्षा।

जिह्वाचतुर्भुज–त्रिनेत्र–पिङ्गलकेश–रक्तवर्ण–तस्य नाभिकमले मन्त्रो न्यसनीयः। होतव्यं द्रव्यं ततस्मै उपतिष्ठते।

वैश्वानराहूतिः ॐ जातवेदा सप्तजिह्व! सकलदेवमुख! स्वधा। वार २१ आहूतिः करणीया। म्ल्व्र्यूं बहुरूपजिह्वे! स्वाहा होमात् पूर्णाहूतिः मूलमन्त्रेण" देव्यै साङ्गायै सपरिकरायै समस्तवाङ्मयसिद्धर्थे द्वादशशतानि जापपुष्पचूर्णगुग्गुलगुटिका पूर्णाहूतिः। स्वाहा अनेन क्रमेण वार ३ यावद् भण्येत तावदनवच्छिन्नं आज्यधारया नागवल्लीपत्रमुखेन पूर्णाहूतिः कार्या। घृतकर्षः ताम्बूलं नैवेद्यम्, यज्ञोपवीत्–नवीनश्वेतवस्त्रखण्डं वा दधिदूर्वाक्षतादिभिराहूतिः करणीया।

अथ विसर्जनम्–

मूलमन्त्रेण साङ्गायै सपरिवारायै देव्यै सरस्वत्यै नमः–अनेन मन्त्रेण आत्महृदयाय स्वाहा। वैश्वानरनाभिकमलात् देवी ध्यानेनात्मनि संस्करणीया पश्चाद् ॐ अस्त्राय फट् इति मन्त्रं वारचतुष्टयं भणित्वा वार ४ अग्निविसर्जनं कार्यम्।

ॐ क्षमस्व क्षमस्व भस्मना तिलकं कार्यम्।

ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ह्सौं वद वद वाग्वादिनी! भगवति सरस्वति! तुभ्यं नमः।

इति सारस्वतं समाप्तम्।

अत्र श्रीबप्पभट्टिसारस्वतकल्पोक्तमाद्यं बृहद् यन्त्रम्?, इदं च द्वितीयमपि यन्त्रं आम्नायान्तरे दन्दृश्यते। गुरुक्रमेण लब्ध्वा पूजनीयम्। सर्वे तत्त्वमिदं पाठतस्तु

वाग्बीजं स्मरबीजवेष्टितमतो ज्योतिः कला तद्बहि-
श्चाष्टद्वादशषोडशद्विगुणितं द्वाष्टाब्जपत्रान्वितम्।
तद्बीजाक्षरकादिवर्णरचितान्यग्रे दलस्यान्तरे
हंसः कूटयुतं भवेदवितथं यन्त्रं तु सारस्वतम्।

इति मूलकाव्यं यन्त्रोद्धारसूचकम्।

तथा-

ॐ ऐं श्रीमनु सौं ततोऽपि च पुनः क्लीं वद्द्वौ वाग्वादिनी
एतस्मादपि ह्रीं ततोऽपि च सरस्वत्यै नमोऽदः पदम्।
अश्रान्तं निजभक्तिशक्तिवशतो यो ध्यायति प्रस्फुटं
बुद्धिज्ञानविचारसारसहितः स्याद्देव्यसौ साम्प्रतम्।।

इति मूलमन्त्रोद्धारकाव्यं च।

तथापि गुरुक्रमवशतः पाठान्तराणि दृश्यन्ते तत्र गुरुक्रम एव प्रमाणम्। भक्तानां हि सर्वेऽपि फलन्तीति।

ॐ ह्रीं असिआउसा नमः अर्हं वाचिनि! सत्यवाचिनि! वाग्वादिनि वद वद मम वक्त्रे व्यक्तवाचया ह्रीं सत्यं ब्रूहि ब्रूहि सत्यं वद वद अस्खलितप्रचारं सदेवमनुजासुरसदसि ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः स्वाहा।

लक्षजापात् सिद्धिर्बप्पभट्टि सारस्वतम्।

इति श्रीबप्पभट्टिसारस्वतकल्पः।

वाग्भवं प्रथमं बीजं १ द्वितीयं कुसुमायुधम् २।
तृतीयं जीवसंज्ञं च सिद्धसारस्वतं स्मृतम्।।
जीवसंज्ञं स्मरेद् गुह्ये वक्षसि (वक्षःस्थले) कुसुमायुधम्।
शिरसि वाग्भवं बीजं शुक्लवर्णं स्मरेत् त्रयम्।।

त्रयम्-बीजत्रयमित्यर्थः।

ॐ ह्रीं मण्डले आगच्छ आगच्छ स्वाहा। आह्वानम्।

ॐ ह्रीं स्वस्थाने गच्छ गच्छ स्वाहा विसर्जनम्।

ॐ अमृते! अमृतोद्भवे! अमृतमुखि! अमृतं स्रावय स्रावय ॐ ह्रीं स्वाहा इति

सकलीकरणम्।

ॐ नमो भगवओ अरिहओ भगवईए वाणीए वयमाणीए मम सरीरं पविस पविस निस्सर निस्सर स्वाहा।

लक्षं जापः। वाक्सिद्धिः फलति।

ॐ नमो हिरीए बंभीए भगवईए सिज्जउ मे भगवई महाविज्जा ॐ बंभी महाबंभी स्वाहा।

लक्षं पूर्वसेवायां जपः, तत्र त्रिसन्ध्यं सदा जपः।

क्षिप ॐ स्वाहेति पञ्चतत्त्वरक्षा पूर्वं कार्या। प्राङ्मुखं च ध्यानम्। एष विधिः सर्वसारस्वतोपयोगी ज्ञेयः।

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं। नमो भगवईए सुअदेवयाए संघसुअमायाए बारसंगपवयणजणणीए सरस्सईए सच्चवाइणि! सुवण्णवण्णे ओअर ओअर देवी मम सरीरं पविस पुच्छंतस्स मुहं पविस सव्वजणमणहरी अरिहंतसिरी सिद्धसिरि आयरियसिरी उवज्झायसिरी सव्वसाहुसिरी दंसणसिरी नाणसिरी चारित्तसिरी स्वाहा। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। अनेन मन्त्रेण कच्चोलकस्थं कंगुतैलं गजवेलक्षुरिकया वार १००८ अष्टोत्तरसहस्त्रं अथवा अष्टोत्तरशतं अभिमन्त्र्य पिबेत् महाप्रज्ञाबुद्धिः प्रैधते। अनेन ब्राह्मीवचाऽभिमन्त्र्य भक्षणीया वाक्सिद्धिः। तथा पर्युषणापर्वणि यथाशक्ति एतत्स्मरणं कार्यं महैश्वर्यं वचनसिद्धिश्च।

ॐ नमो अणाइनिहणे तित्थवरपगासिए गणहरेहिं अणुमण्णिए द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वधारिणि श्रुतदेवते! सरस्वति! अवतर अवतर सत्यवादिनि हूं फट् स्वाहा। अनेन पुस्तिकादौ वासक्षेपः। लक्षजापे हुंफडग्रे च ॐ ह्रीं स्वाहा इत्युच्चारणे सारस्वतं उपश्रुतौ कर्णाभिमन्त्रणं 'नमो धम्मस्स नमो संतिस्स नमो अजिअस्स इलि मिलि स्वाहा' चक्षुः कर्णौ च स्वस्याधिवास्य परस्य वा एकान्ते स्थितो यत् शृणोति तत्सत्यं भवति। उपश्रुतिमन्त्रः।।

ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि! पापात्मक्षयंकरि! श्रुतज्ञानज्वालासहस्त्रप्रज्वलिते! सरस्वति! मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरधवले! अमृतसम्भवे! वं वं हूं क्ष्वीं ह्रीं क्लीं ह्सौं वद वद वाग्वादिन्यै ह्रीं स्वाहा।

चन्द्रचन्दनगुटिका दीपोत्सवे उपरागे शुभेऽह्नि वा अभिमन्त्रय देया मेधाकरः। दक्षिणशयं स्वं स्वयं मुखे दत्त्वा ५/७ गुण्या क्षोभता।

चन्द्रचन्दनगुटीं रचयित्वा भक्षयेदनुदिनं सुपठित्वा।

शिष्यबुद्धिवैभवकृते विहितेयं हेमसूरिगुरुणा करुणातः।।
ऐं क्लीं ह्रीं ह्सौँ सरस्वत्यै नमः। जापः सहस्र ५० सारस्वतम्।
ॐ क्लीं वद वद वाग्वादिनि! ह्रीं नमः। अस्य लक्षजापे काव्यसिद्धिः। ध्याने च भगवती श्वेतवस्त्रा ध्यातव्येति।

पठितसिद्धसारस्वतस्तवः।

–साध्वी शिवार्या

व्याप्तानन्तसमस्तलोकनिकरैङ्कारा समस्ता स्थिरा,
याराध्या गुरुभिर्गुरोरपि गुरुदेवैस्तु या वन्द्यते।
देवानामपि देवता वितरतात् वाग्देवता देवता
स्वाहान्तः क्षिप ॐ यतः स्तवमुखं यस्याः स मन्त्रो वरः।।१।।
ॐ ह्रीं श्रीप्रथमा प्रसिद्धमहिमा सन्तप्तचित्ते हि या
सैं ऐं मध्यहिता जगत्त्रयहिता सर्वज्ञनाथाहिता।
श्रीं क्लीं ब्लीँ चरमा गुणानुपरमा जायेत यस्या रमा
विद्यैषा वषडिन्द्रगीःपतिकरी वाणीं स्तुवे तामहम्।।२।।
ॐ कर्णे! वरकर्णभूषिततनुः कर्णेऽथ कर्णेश्वरी
ह्रींस्वाहान्तपदां समस्तविपदां छेत्त्री पदं सम्पदाम्।
संसारार्णवतारिणी विजयते विद्यावदाते शुभे
यस्याः सा पदवी सदा शिवपुरे देवीवतंसीकृता।।३।।
सर्वाचारविचारिणी प्रतरिणी नौर्वागृभवाब्धौ नृणां
वीणावेणुवरक्वणातिसुभगा दुःखाद्रिविद्रावणी।
सा वाणी प्रवणा महागुणगणा न्यायप्रवीणाऽमलं
शेते यस्तरणी रणीषु निपुणा जैनी पुनातु ध्रुवम्।।४।।
ॐ ह्रीं बीजमुखा विधूतविमुखा संसेविता सन्मुखा
ऐं क्लीं सौँ सहिता सुरेन्द्रमहिता विद्वज्जनेभ्यो हिता।।५।।

अम्बिकाताडङ्कम्

पठेत् स्मरेत् त्रिसन्ध्यं यो भक्त्या जिनप्रशासने।
सम्प्राप्य मानुषान् लभते लभते सुभगां गतिम्।।१।।
अम्बे! दत्तावलम्बे! त्वं मादृशां भव नित्यशः।

श्रीधर्मकल्पलतिके! प्रसीद वरदेऽम्बिके!।।२।।

ॐ ह्रीं आम्रकूष्माण्डिनि! ह्स्क्ल्हीं नमः। अयं मूलमन्त्रः। द्वादश सहस्राणि रक्तकणवीरकुसुमैर्जापतः, द्वादशांशेन होमः। जप्तपुष्पमध्यात् द्वादश–शतानि छायाशुष्काणि कृत्वा गुग्गुल–दधि–दुग्ध–मधु–धृतमिश्रो होमस्त्रिकोणकुण्डे देयः बदरीपलाससमिधैः।।

ॐ ह्रीं आम्रकूष्माण्डिनि! सर्वाङ्गसुन्दरि! झ्वीं क्ष्वीं नमः।

अयमपि तथैव साध्यः।

ॐ ह्रीं आम्रकूष्माण्डिनि सर्वाङ्गसुन्दरि! झ्वीं क्ष्वीं स्वप्नान्तरदेशं कुरु कुरु स्वाहा।

षट् सहस्राणि जापः अम्बिकामूर्तेः पुरतो भोगं कृत्वा सुप्यते चिन्तिताभिप्रायेण स्वप्नं स्यात्।

ऐं ह्स्क्ल्हीं ह्सौं नमः। सहस्र ३ जापः, रक्तध्यानेन मञ्जिष्ठाऽरुणवसनां स्वर्णाभरणभूषिताङ्गीं सिंहारुढां अङ्गुलीलनैकडिम्भां अङ्कस्थद्वितीयडिम्भां हेमवर्णां चतुर्भुजा उपरितनवामकराङ्कुशां उपरितनदक्षिणकरात्तप्रलुम्बीं अधस्तनदक्षिणकरबीजपूरां अधस्तनवामकरपाशां देवीमम्बिकां ध्यायेत् एकेनैवासने (न) जपः कार्यः। रक्तध्यानेन विशिष्टफलमफलं रागवश्यादि स्वप्नोपदेशश्च।

ॐ ह्रीं कूष्माण्डिनि! कनकप्रभे! सिंहमस्तकसमारूढे! जिनधर्मसुवत्सले! महादेवि! मम चिन्तितकार्येषु शुभाशुभं कथय कथय अमोघवागीश्वरि! सत्यवादिनि! सत्यं दर्शय दर्शय स्वाहा।।

अम्बिकामन्त्रः सत्प्रत्ययः।

ॐ ह्रीं अम्बिके! ह्रॉं ह्रीं ह्रां ह्रीं क्लीं ब्लूँ सः ह्स्क्ल्हीं नमः। अयमम्बिकामन्त्रः। ॐ ह्रीं अंबा अंबालुंबि हि लुंबिया ह्रीं। १०८ षण्मासान् यावत् महाभक्त्यां स्मरेत्। पुत्रं लभते।

ॐ ह्रीं अम्बे! आँ क्रौं ह्रीं ह्रौं ह्रीं क्लीं ब्लूँ सः ह्स्क्ल्हीं नमः। इदं यन्त्रं पवित्रपट्टके यक्षकर्दमकणवीरपुष्पैर्जापो दिनसप्तकेन द्वादश सहस्राणि ततः पुरु घृतमधुखण्डमिश्रजप्तकुसुमदशांशचूर्णेन गुटिका शत १२ त्रिकोणकुण्डे होमः। ततोऽम्बिका सिद्धा स्यात्। विश्वक्षोभण–स्त्र्याकर्षण–पात्रावतार–स्वप्नादेशसिद्धिर्मुद्गलादिग्रहनिग्रहं च विदधाति। अन्यदपि हितं सम्पादयति।

ॐ आकाशगामिनि! नगरपुरपाटनक्षोभिणि! रायराणासामन्तमोहिनि!

ॐ अम्बिकादेवि! ह्रीं फट् स्वाहा।

जातिपुष्पैः सहस्राणि १० जापः। इति पूर्वसेवा। नित्यं च वार २१ जापः। वार ३ थू कमन्त्री वामकनिष्ठया पुण्ड्रं सभावश्यम्।

ॐ आकाशगामिनि! नगरपुरपाटणक्षोभिणि! रायराणाअमात्यवशीकरणी ॐ ह्रीं अम्बिके! हुं फट् स्वाहा। २१ स्मरणा।

ॐ ह्रीं अम्बिके! उज्जयन्तनिवासिनि! सर्वकल्याणकारिणि! ह्रीं नमः। स्मरणा।

ॐ ह्रीं सिद्धमात अम्बिके! मम सर्वसिद्धिं देहि देहि ह्रीं नमः। सदा स्मरणा कार्या।

ॐ क्लीं हर हर ठः ठः सर्वदुष्टान् वशीकुरु कुरु त्रिपुरक्षोभिनि! त्रिपुरवशीकरणि! ॐ ह्रीं अम्बिके! स्वाहा। सदा स्मरणा।

ॐ नमो भगवति! कूष्माण्डिनि! क्ष्मीं ह्रीं ह्रीं शासनदेवि! अवतर अवतर घटे दर्पणे जले वाममेतं कायं सत्यं ब्रूहि ब्रूहि स्वाहा। दीपे कन्याशुभाशुभं वक्ति।

ॐ ह्रीं रक्ते! महारक्ते! प्रैं शासनदेवि! एहि एहि अवतर अवतर स्वाहा।

ॐ ह्रीं रक्ते! महारक्ते! ह्रैं ह्स्क्ल्हीं ह्स्क्ल्ब्लूँ शासनदेवि! एहि एहि अवतर अवतर स्वाहा।

ॐ ह्रीं अम्बे! अम्बकूष्माण्डे! रक्ते! रक्तवस्त्रे! अवतर अवतर एहि एहि शीघ्रमानय आनय मम चिन्तितं कार्यं कथय कथय ॐ ह्रीं स्वाहा। दीपावतारमन्त्रः।

ॐ कारसम्पुटस्थानं हयरेहपरिय..................... ।
बिंदुकलासंजुत्तं लिहह सनामं सयाकालं।।१।।
पुव्वाई अट्ठदलं सु....मणं लिहह भुज्जपत्तम्मि।
दंसणनाणचरित्ता तव चतुरो छहि पुव्वाइं।।२।।
चन्दणकप्पूरेणं लिहह क्रम पञ्चबाणमन्तेहिं।
अद्धाहं सेयकुसुमेहिं अट्ठुत्तरं जाव।।३।।
कंपाविअम्बिएणं गंधक्खयधूवकुसुमदीवेहिं।
अण्णं चिय इट्ठधुरं पण जं जरइ देवएण मन्तेणं।।४।।
पुण पुत्तह वरकण्णा दीवणमज्झम्मि मीइ जं रूवं।
सद्दं वा आअम्बइ सुहासुहं तं फुडं होइ।।५।।

—'भैरवपद्मावतीकल्प' पृ० ६२ से उदधृत'

श्री अम्बिकास्तवनम्

—महामात्यश्रीवस्तुपाल

पुण्ये गिरीशशिरसि प्रथितावतारामासूत्रितत्रिजगतीदुरितापहाराम्।
दौर्गत्यपातिजनताजनितावलम्बामम्बामहं महिमहैमवतीं महेयम्।।१।।
यद्वक्त्रंकुञ्जरहरोद्गतसिंहनादोऽप्युन्मादिविघ्नकरियूथकथाममाथम्।
कूष्माण्डि खण्डयतु दुर्विनयेन कण्ठः कण्ठीरवः स तव भक्तिनतेषु भीतिम्।।२।।
कूष्माण्डि! मण्डनमभूत्तव पादपद्मयुग्मं यदीयहृदयावनिमण्डलस्य।
पद्मालया नवनिवासविशेषलाभलुब्धा न धावति कुतोऽपि ततः परेण।।३।।
दारिद्र्यदुर्दमतमःशमनप्रदीपाः सन्तानकाननघनाघनवारिधाराः।
दुःखोपतप्तजनबालमृणालदण्डाः कूष्माण्डि! पातु पदपद्मनखांशवस्ते।।४।।
देवि! प्रकाशयति सन्ततमेष कामं वामेतरस्तव करश्चरणानतानाम्।
कुर्वन् पुरः प्रगुणितां सहकारलुम्बिमम्बे! विलम्बविकलस्य फलस्य लाभम्।।५।।
हन्तुं जनस्य दुरितां त्वरिता त्वमेव नित्यं त्वमेव जिनशासनरक्षणाय।
देवि! त्वमेव पुरुषोत्तममाननीया कामं विभासि विभया सभया त्वमेव।।६।।
तेशां मृगेश्वरगरज्वरमारिवैरिदुर्वारवारणजलज्वलनोद्भवा भीः।
उच्छृङ्खलं न खलु खेलति येषु धत्से वात्सल्यपल्लवितमम्बकमम्बिके! त्वम्।।७।।
देवि! त्वदूर्जितजितप्रतिपन्थितीर्थयात्राविधौ बुधजनाननरङ्गसङ्गि।
एतत्त्वयि स्तुतिनिभाद्भुतकल्पवल्लीहल्लीसकं सकलसंघमनोमुदेऽस्तु।।८।।
वरदे! कल्पवल्लि! त्वं स्तुतिरूपे! सरस्वति!
पादाग्रानुगतं भक्तं लम्भयस्वातुलैः फलैः।।६।।
स्तोत्रं श्रोत्ररसायनं श्रुतसरस्वानम्बिकायाः पुर–
श्चक्रे गूर्जरचक्रवर्तिसचिवः 'श्रीवस्तुपालः' कविः।
प्राप्तः प्रातरधीयमानमनघं यच्चित्तवृत्तिं सता–
माधत्ते विभुतां च ताण्डवयति श्रेयःश्रियं पुष्यति।।१०।।
इत्यम्बिकास्तुतिः।

श्रीपद्मावतीस्तोत्रम्।

श्रीमद्गीर्वाणचक्रस्फुटमुकुटतटीदिव्यमाणिक्यमाला–
ज्योतिर्ज्वालाकरालास्फुरितमुकुरिकाघृष्टपादारविन्दे!
व्याघोरोल्कासहस्रस्फुरज्ज्वलनशिखालोलपाशाङ्कुशाढ्ये

ॐ आँ क्रौं ह्रीं मन्त्ररूपे! क्षपितकलिमले! रक्ष मां देवि! पद्मे।।१।।

भित्त्वा पातालमूलं चलचलचलिते! व्याललीलाकरालै–

विंद्युद्दण्डप्रचण्डप्रहरणसहितैस्तद्भुजैस्तर्जयन्ती।

दैत्येन्द्रक्रूरदंष्ट्राकटकटघटिते! स्पष्टभीमाट्टहासे!

मायाजीमूतमालाकुहरितगगने! रक्ष मां देवि! पद्मे! ।।२।।

कूजत्कोदण्डकाण्डोड्डमरविधुरिते! क्रूरघोरोपसर्गं

दिव्यं वज्रातपत्रं प्रगुणमणिरणत्किङ्किणीक्वाणरम्यम्।

भास्वद्वैडूर्यदण्डं मदनविजयिनो बिभ्रतो पार्श्वभर्तुः

सा देवी पद्महस्ता विघटयतु महाडामरं मामकीनम्।।३।।

भृङ्गी काली कराली परिजनसहिते! चण्डि चामुण्डि नित्ये!

क्षां क्षीं क्षूं क्षः क्षणार्धे क्षतरिपुनिवहे! ह्रीं महामन्त्ररूपे!।

भ्रां भ्रीं भ्रूं भृङ्गसङ्गभ्रुकुटिपुटतटत्रासितोद्दामदैत्ये!

झ्वाँ झ्वीं झ्वूँ झ्वः प्रचण्डे! स्तुतिशतमुखरे! रक्ष मां देवि! पद्मे।।४।।

चञ्चत्काञ्चीकलापे! स्तनतटविलुठत्तारहारावलीके!

प्रोत्फुल्लत्पारिजातद्रुमकुसुममहामञ्जरीपूज्यपादे!।

ह्राँ ह्रीं ल्कीं ब्लूँ समेते भुवनवशकरे! क्षोभिणी द्राविणी त्वं

आं ईं ऊं पद्महस्ते! कुरु कुरु घटने रक्ष मां देवि! पद्मे!।।५।।

लीलाव्यालोलनीलोत्पलदलनयने! प्रज्वलद्वाडवाग्नि–

प्रोद्यज्ज्वालास्फुलिङ्गस्फुरदरुणकरोदग्रवज्राग्रहस्ते!।

हाँ ह्रीं हूँ हः हरन्ती हरहरहरहुंकारभीमैकनादे!

पद्मे! पद्मासनस्थे व्यपनय दुरितं देवि! देवेन्द्रवन्द्ये!।।६।।

कोपं वं झं सहंसः कुवलयकलितोद्दामलीलाप्रबन्धे!

ज्रां ज्रीं ज्रूं ज्रः पवित्रे शशिकरधवले प्रक्षरत्क्षीरगौरे!।

व्यालव्याबद्धजूटे प्रबलबलमहाकालकूटं हरन्ती

हा हा हुंकारनादे/कृतकरकमले! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।७।।

प्रातर्बालार्करश्मिच्छुरितघनमहासान्द्रसिन्दूरधूली–

सन्ध्यारागारुणाङ्गि त्रिदशवरवधूवन्द्यपादारविन्दे!।

चञ्चच्चन्द्रासिधाराप्रहतरिपुकुले कुण्डलोद्घृष्टगल्ले!

श्रां श्रीं श्रूं श्रः स्मरन्ती मदगजगमने! रक्ष मा देवि! पद्मे! ।।८।।

विस्तीर्णे पद्मपीठे कमलदलनिवासोचिते कामगुप्ते
लातांगीश्रीसमेते प्रहसितवदने दिव्यहस्ते! प्रसन्ने!।
रक्ते रक्तोत्पलाङ्गि प्रतिवहसि सदा वाग्भवं कामराजं
हंसारूढे! त्रिनेत्रे! भगवति! वरदे! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।६।।
षट्कोणे चक्रमध्ये प्रणतवरयुते वाग्भवे कामराजे
हंसारूढे सबिन्दौ विकसितकमले कर्णिकाग्रे निधाय।
नित्ये क्लिन्ने मदद्रैर्द्रव इति सहितं साङ्कुशे पाशहस्ते!
ध्यानात् संक्षोभकारित्रिभुवनवशकृद् रक्ष मां देवि! पद्मे!।।१०।।
आं क्रों ह्रीं पञ्चबाणैर्लिखितषट्दले चक्रमध्ये सहंसः
ह्स्क्लीं श्रीं पत्रान्तराले स्वरपरिकलिते वायुना वेष्टिताङ्गी।
ह्रीं वेष्टे रक्तपुष्पैर्जपति मणिमतां क्षोभिणी वीक्ष्यमाणा
चन्द्रार्के चालयन्ती सपदि जनहिते रक्ष मां देवि! पद्मे! ।।११।।
गर्जन्नीरदगर्भनिर्गततडिज्ज्वालासहस्रस्फुरत्–
सद्वज्राङ्कुशपाशपङ्कजधरा भक्त्यामरैरर्चिता।
सद्यः पुष्पितपारिजातरुचिरं दिव्यं वपुर्बिभ्रती
सा मां पातु सदा प्रसन्नवदना पद्मावती देवता।।१२।।
जिह्वाग्रे नासिकान्ते हृदि मनसि दृशोः कर्णयोर्नाभिपद्मे
स्कन्धे कण्ठे ललाटे शिरसि च भुजयोः पृष्ठिपार्श्वप्रदेशे।
सर्वाङ्गोपाङ्गशुद्धयात्यतिशयभवनं दिव्यरूपं स्वरूपं
ध्यायामः सर्वकालं प्रणयलयगतं पार्श्वनाथेतिशब्दम्।।१३।।
ब्रह्माणी कालरात्री भगवति वरदे! चण्डि चामुण्डि नित्ये
मातङ्गी गौरिधारी धृतिमतिविजये कीर्तिह्रींस्तुत्यपद्मे!।
संग्रामे शत्रुमध्ये जलज्वलनजले वेष्टिते तैः स्वरास्त्रैः
क्षां क्षीं क्षूं क्षः क्षणार्धे क्षतरिपुनिवहे! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।१४।।
भूविश्वेक्षणचन्द्रचन्द्रपृथिवीयुग्मैकसंख्याक्रमा–
च्चन्द्राम्भोनिधिबाणषण्मुखवशं दिक्खेचराशादिषु।
ऐश्वर्यं रिपुमारविश्वभयकृत् क्षोभान्तराया विषाः
लक्ष्मीलक्षणभारतीगुरुमुखान्मन्त्रानिमा देवते!।।१५।।
खड्गैः कोदण्डकाण्डैर्मुशलहलकिणैर्वज्रनाराचचक्रैः

शक्त्या शल्यैस्त्रिशूलैर्वरफरशफरैर्मुद्‌गरैर्मुष्टिदण्डैः ।
पाशैः पाषाणवक्षैर्वरगिरिसहितैर्दिव्यशस्त्रैरमानै--
दुर्ष्टान् संहारयन्ती वरभुजललिते! रक्ष मां देवि! पद्‌मे! ।।१६।।
यस्या देवर्नरेन्द्रैरमरपतिगणैः किन्नरैर्दानवेन्द्रैः
सिद्धैर्नागेन्द्रयक्षैर्नरमुकुटतटैर्घृष्टपादारविन्दे! ।
सौम्ये सौभाग्यलक्ष्मीदलितकलिमले! पद्‌मकल्याणमाले!
अम्बे! काले समाधिं प्रकटय परमं रक्ष मां देवि! पद्‌मे! ।।१७।।
धूपैश्चन्दनतण्डुलैः शुभमहागन्धैः समन्त्रालिकै--
र्नानावर्णफलैर्विचित्रसरसैर्दिव्यैर्मनोहारिभिः ।
पुष्पैर्नवेद्यवस्त्रैर्मनभुवनकरा भक्तियुक्तैः प्रदाता
राज्ये हेत्वं गृहाणे भगवति वरदे! रक्ष मां देवि! पद्‌मे! ।।१८।।
क्षुद्रोपद्रवरोगशोकहरणी दारिद्र्यविद्रावणी
व्यालव्याघ्रहरा फणत्रयधरा देहप्रभाभास्वरा ।
पातालाधिपतिप्रिया प्रणयिनी चिन्तामणिः प्राणिनां
श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसुरी पद्‌मावती देवता ।।१९।।
तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्‌मावती विश्रुता ।
गायत्री श्रुतशालिनां प्रकृतिरित्युक्तासि साङ्ख्यागमे
मातर्भारति! किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया ।।२०।।
पाताले कृशता विषं विषधरा घूर्मन्ति ब्रह्माण्डजाः
स्वर्भूमीपतिदेवदानवगणः सूर्येन्दवो यद्‌गुणाः ।
कल्पेन्द्रा स्तुतिपादपङ्कजनता मुक्तामणिं चुम्बिता
सा त्रैलोक्यनता मता त्रिभुवने स्तुत्या स्तुता सर्वदा ।।२१।।
सञ्जप्ता कणवीररक्तकुसुमैः पुष्पैः समं सञ्चितैः
सन्मिश्रैर्घृतगुग्गुलौघमधुभिः कुण्डे त्रिकोणे कृते ।
होमार्थे कृतषोडशाङ्गुलशता वह्नौ दशांशैर्जपेत्
तं वाचं वचसीह देवि! सहसा पद्‌मावती देवता ।।२२।।
ह्रींकारैश्चन्द्रमध्ये पुनरपि वलयं षोडशावर्णपूर्णै
र्बाह्य कण्ठैरवेष्ट्यं कमलदलयुतं मूलमन्त्रप्रयुक्तम् ।
साक्षात् त्रैलोक्यवश्यं पुरुषवशकृतं मन्त्रराजेन्द्रराजं

एतत्स्वरूपं परमपदमिदं पातु मां पार्श्वनाथः ।।२३।।

प्रोत्फुल्लत्कुन्दनादे कमलकुवलये मालतीमाल्यपूज्ये

पादस्थे भूधराणां कृतरणक्वणिते रम्यझंकारराबे।

गुञ्जत्काञ्चीकलापे पृथुलकटितटे तुच्छमध्यप्रदेशे

हा हा हुंकारनादे! कृतकरकमले! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।२४।।

दिव्ये पद्मे सुलग्ने स्तनतटमुपरि स्फारहारावलीके

केयूरैः कङ्कणाद्यैर्बहुविधरचितैर्बाहुदण्डप्रचण्डैः।

भाभाले वृद्धतेजः स्फुरन्मणिशतैः कुण्डलोद्घृष्टगण्डे

स्रां स्रीं स्रूं स्रः स्मरन्ती गजपतिगमने! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।२५।।

या मन्त्रागमवृद्धिमानवितनोल्लासप्रसादार्पणां

या इष्टाशयक्लृप्तकर्मणगणप्रध्वंसदक्षाङ्कुशा।

आयुर्वृद्धिकरां ज्वरामयहरां सर्वार्थसिद्धिप्रदां

सद्यः प्रत्ययकारिणीं भगवतीं पद्मावतीं संस्तुवे।।२६।।

पद्मासना पद्मदलायताक्षी पद्मानना पद्मकराङ्घ्रिपद्मा।

पद्मप्रभा पार्श्वजिनेन्द्रशक्ता पद्मावती पातु फणीन्द्रपत्नी।।२७।।

मातः! पद्मिनि! पद्मरागरुचिरे! पद्मप्रसूनानने!

पद्मे! पद्मवनस्थिति! परिलसत्पद्माक्षि! पद्मानने!।

पद्मामोदिनि! पद्मकान्तिवरदे! पद्मप्रसूनार्चिते!

पद्मोल्लासिनि! पद्मनाभिनिलये! पद्मावती पाहि माम्।।२८।।

या देवी त्रिपुरा पुरत्रयगता शीघ्रासि शीघ्रप्रदा

या देवी समया समस्तभुवने सङ्गीयते कामदा।

तारा मानविमर्दिनी भगवती देवी च पद्मावती

तास्ताः सर्वगतास्तमेव नियतं मायेति तुभ्यं नमः।।२९।।

त्रुट्यत्शृङ्खलबधनं बहुविधैः पाशैश्च यन्मोचनं

स्तम्भे शत्रुजलाग्निदारुणमहीनागारिनाशे भयम्।

दारिद्र्याग्रहरोगशोकशमनं सौभाग्यलक्ष्मीप्रदं

ये भक्त्या भुवि संस्मरन्ति मनुजास्ते देवि! नामग्रहम्।।३०।।

भक्तानां देहि सिद्धिं मम सकलमघं देवि! दूरीकुरु त्वं

सर्वेषां धार्मिकाणां सततनियततं वाञ्छितं पूरयस्व।

संसाराब्धौ निमग्नं प्रगुणगणयुतं जीवराशिं च त्राहि

श्रीमज्जैनेन्द्रधर्मं प्रकटय विमल देवि! पद्मावति! त्वम्।।३१।।

दिव्यं स्तोत्रं पवित्रं पटुतरपठतां भक्तिपूर्वं त्रिसन्ध्यं

लक्ष्मीसौभाग्यरूपं दलितकलिमलं मङ्गलं मङ्गलानाम्।

पूज्य कल्याणमाद्यं जनयति सततं पार्श्वनाथप्रसादाद्

देवी पद्मावती नः प्रहसितवदना या स्तुता दानवेन्द्रैः।।३२।।

पठितं भणितं गुणितं जयविजयरमानिबन्धनं परमम्।

सर्वाधिव्याधिहरं जपतां पद्मावती स्तोत्रम्।।३३।।

आद्यं चोपद्रवं हन्ति द्वितीयं भूतनाशनम्।

तृतीये चामरीं हन्ति चतुर्थे रिपुनाशनम्।।३४।।

पञ्च पञ्चजनानां च वशीकारं भवेद् ध्रुवम्।

षष्ठे चोच्चाटनं हन्ति सप्तमे रिपुनाशनम्।।३५।।

अत्योद्वेगा चाष्टमे च नवमे सर्वकार्यकृत्।

इष्टा भवन्ति तेषां च त्रिकालपठनार्थिनाम्।।३६।।

आह्वानं नैव जानामि न जानामि विसर्जनम्।

पूजार्चे नैव जानामि त्वं गतिः परमेश्वरि!।।३७।।

अथाह्वानम्।

श्रीपार्श्वनाथ! जिननायक! रत्नचूडा–

पाशाङ्कुशोरगफलाङ्कितदोश्चतुष्का।

पद्मावती त्रिनयना त्रिफणावतंसं

पद्मावती जयति शासनपुण्यलक्ष्मीः।।

ॐ आँ क्रौँ अरुणवर्णसर्वलक्षणसम्पूर्णः स्वायुधवाहनबन्धुचिह्नसपरिवारान् नमोऽस्तुते हे पद्मावति! देवि! अत्रागच्छागच्छ तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः मम सन्निहिता भव भव वषट् स्वाहा।

अथाष्टकम्

ॐ ह्रीं श्रीँ मन्त्ररूपे! विबुधजननुते! देवदेवेन्द्रवन्द्ये!

चञ्चच्चन्द्रावदाते! क्षपितकलिमले! हारनीहारगौरे!।

भीमे! भीमाट्टहासे भवभयहरणे! भैरवे! भीमरूपे

ह्राँ ह्रीं ह्रूँकारनादे! विशदजलभरस्त्वां यजे देवि! पद्मे!।।१।।

ॐ ह्रीं श्राँ श्री पद्मावत्यै जलम्

हा पक्षी (क्षि) बीजगर्भे सुरवररमणीचर्चितेऽनेकरूपे!
कोपं वं झं विधेयं धरिततवधरे योगिनी योगमार्गे।
हं हंसः स्वर्गजैश्च प्रतिदिननमिते! प्रस्तुतापापपट्टे
दैत्येन्द्रैर्ध्यायमाने! विमलसलिलजैस्त्वां यजे देवि! पद्मे।।२।।

गन्धम २

दैत्यैर्दैत्यारिनाथैर्नमितपदयुगे!! भक्तिपूर्वं त्रिसन्ध्यं
यक्षैः सिद्धैश्च नम्रैरहमहमिकया देहकान्त्याश्च कान्त्यै।
आं इं उं तं अ आ आ गृढ गृढ मृडने सः स्वरे न्यस्वरे नैः
तेवप्राहीयमाने क्षतधवलभरैस्त्वां यजे देवि! पद्मे!।।३।।

अक्षतम्।

क्षां क्षीं क्षूं क्षः स्वरूपे! हन विषमविषं स्थावरं जङ्गमं वा
संसारे संसृतानां तव चरणयुगे सर्वकालानन्तराले।
अव्यक्तव्यक्तरूपे! प्रणतनरवरे! ब्रह्मरूपे! स्वरूपे!
पंक्तियोगीन्द्रगम्ये सुरभिशुभक्रमे! त्वां यजे देवि! पद्मे!।।४।।

पुष्पम्।।

पूर्णं विज्ञानशोभाशशधरधवले दास्यबिम्बं प्रसन्नै
रम्ये स्वच्छे स्वकान्त्यै द्विजकरनिकरे चन्द्रिकाकारभासे।
आस्मिंकिन्नाभवर्ज्यां दिनमनुसततं कल्मषं क्षालयन्ती
श्रां श्रीं श्रूं मन्त्ररूपे! विमलचरुवरैस्त्वां यजे देवि! पद्मे!।।५।।

नैवेद्यम्!

भास्वत्पद्मासनस्थे! जिनपदनिरते! पद्महस्ते! प्रशस्ते!
प्रां प्रीं प्रूं प्रः पवित्रे! हर हर दुरितं दुष्टजं दुष्टचेष्टे!।
वाचाला भावभक्त्या त्रिदशयुवतिभिः प्रत्यहं पूज्यपादे!
चन्द्रे चन्द्रीकराले मुनिगृहमणिभिस्त्वां यजे देवि पद्मे!।।६।।

दीपम्।।

नम्रीभूतक्षितीशप्रवरमणितटोद्घृष्टपादारविन्दे!
पद्माक्षे! पद्मनेत्रे! गजपतिगमने! हंसशुभ्रे विमाने।
कीर्तिश्रीवृद्धिचक्रे! शुभजयविजये! गौरिगान्धारियुक्ते!
देए देए शरण्ये गुरुसुरभिभरैस्त्वां यजे देवि! पद्मे!।।७।।

धूपम्।।

विद्युज्ज्वालाप्रदीप्ते प्रवरमणिमयामक्षमालां कराले

रम्ये वृत्तां धरन्ती दिनमनुसततं मंककं सारदं च।

नागेन्द्रैरिन्द्रचन्द्रैर्दिविपमनुजनैः संस्तुता देवदेवि!

पद्मर्चे! त्वां फलौघैर्दिशतु मम सदा निर्मलशर्मसिद्धिः।।८।।

फलम्।।

श्रीमन्महाचीनदुकूलनेत्रे सत्क्षौमकौशेयकचीनवस्त्रैः।

शुभ्रांशुके श्यनमनिप्रभांगी (?) यजामहे पन्नगराजदेवि! ।।६।।

शुभ्रवस्त्रम्।

काञ्चीसूत्रविनूतरसनिचितैः केयूरसत्कुण्डलै

र्मञ्जीराङ्गदमुद्रिकादिमुकुटप्रालम्बिकावासकैः।

अञ्चच्चाटिकपट्टिकादिविलगद्ग्रैवेयकैर्भूषणैः

सिन्दूराङ्गसुकान्तिवर्षसुभगैः सम्पूजयामो वयम्।।१०।।

षोडशाभरणम्।।

वारिभिर्गन्धैरक्षतपुष्पैश्चरुवरदीपैर्धूपफलार्घैः।

क्रौँ ह्रीं श्रीं क्षां सुबीजपूरमन्त्रे इवीं प्रां धं हुं हुं यन्त्रशुभमर्चे।।११।।

अघर्म्।।

अम्भोभिर्दिव्यगन्धैरलिकुलकलितैर्गन्धशाल्यक्षतौघैः

कुन्दाद्यैर्दिव्यवद्भिरतुलशुचिवरैर्दीपकैः काम्यधूपैः।

सुस्वादैर्नालिकेरैर्विलसितविमलैर्वप्रचक्रैरणार्घैः

कल्याणानाङ्गभाजां विमलगुणवती पूजयामीष्टसिद्धयै।।१२।।

पूर्णार्घम्।।

अथ प्रत्येकपूजा।

श्रीसव्यपाणिगततीक्ष्णमस्त्रं वज्रायुधं नाम जगत्प्रसिद्धम्।

त्रैलोक्यव्याप्तं भयनाशनं च पद्मावति! त्वत्पदमर्चयामि।।१।।

ॐ आँ क्रौँ ह्रीं सव्यहस्तवज्रधारणे जलं।।१।।

भित्त्वा सुपातालमूलं च शस्त्रं कृत्वा विनाशं कलिघोरदुःखम्।

सुवामभागे करमङ्कुशं च अर्चामि शस्त्रं जनशर्मकारि।।२।।

कमलकरसुसंस्थं भीमरूपं च देवीं

अखिलमघनिवारं सव्यभोगा च नाम्नी।

जिनचरणसुसेव्यं पद्मिनीनामसारं
खचरभुचरवन्द्यं वारिगन्धादिपूज्यम्।।३।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं तृतीयसव्यकरकमलधारिणे जलं०।।३।।
परमतमदहारिन्! चक्रवामाङ्गधारिन्!
भवश्रमखलुवारि भूतप्रेतादिहारि।
निखिलभुवनचालिं भव्यजीवकृपालिं।
धरणिधरसुपत्नीं पद्मिनीं पूजयामि।।४।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं तुर्यवामकरचक्रबलिने जलं०।।४।।
रिपुगणहतिदक्षं दैत्यदेवेन्द्रपक्षं महितलघनसाक्षं मुनिध्यानादिदक्षम्।
स्वबलदक्षिणपाणिच्छत्रदैत्यारिहानिं समकितगुणखानिं पूजितं पद्मिनाम्नी।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं पञ्चमदक्षिणकरच्छत्ररक्षिते जलं०।।५।।
डमरुककरधारिं गर्जितं लोकनाहं अरिकुलमुलछेदी स्वर्गपातालभेदी।
भवजनितवदुःखं भेदितं वर्तुलाग्रं सुखकरडमरूकं चर्चितं पद्मदेवि!।।६।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं डमरुषष्ठोत्तरधारिणि जलं०।।६।।
कपालपाणिविद्विलक्षणवामभागं देवेन्द्रपूजित सह सह व्यन्तरीभिः।
श्रीपार्श्वनाथपदपङ्कजसेवमानां तं पूजयामि मनिभीप्सितमष्टसिद्ध्यै।।७।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं कपालपाणीगृहीते जलं०।।७।।
पद्मावत्यायुधपरिकरः तेजःपुञ्जं रसालकालभयत्रासनसव्यपाणी।
पिङ्गोग्रतेजबलबालदिवाकरेऽस्मिंस्तमायुधं गणितमष्टम पूजयामि।।८।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं नवमवामकरखड्गधारिणे जलं०।।८।।
रक्तप्रभा रक्तसुनेत्रधारि धनुषवामा प्रतापकारी।
टङ्कारनादं वलिताचलं वा कोदण्ड पद्मावति पूजयामि।।६।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं पुङ्खसर्पिते जलं०।।६।।
मुशलमायुधचिहकरस्थितं धृतसुरागसुमुष्टिदृढान्वितम्।
निघनवारणदैत्यगणाधिपं भजतु पार्श्वजिनाङ्घ्रिजलादिकम्।।१०।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं मूशलभयत्रासिने जलं०।।१०।।
लाङ्गूलशस्त्रभयङ्करसर्पगं भजतु पाणिसुसव्यविराजितम्!
सकलप्राणिदयापरयोजितं पूजितपादसुपद्मिनि देवताम्।।११।।
ॐ आँ क्रौं ह्रीं सव्यहरतहलधारिणे जलं०।।११।।
वह्निकुमारं वामकरसंस्थं ज्वलिततेजः कलुषविदग्धम्।

निर्धूमपावकशिखापवित्रं तं पदमर्चितमष्टसुद्रव्यैः ।।१२।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं वामपावकज्वालिने जलं० ।।१२।।
दक्षिणदेशे धृतलम्बमाला त्रासितशत्रु तुपलप्रयुक्तम्।
व्यन्तरभूतपिशाचविबद्धां स्रग्वलयाङ्किकतपूजितपादम्।।१३।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं दक्षिणदोर्भिण्डमालाचालिने जलं०।।१३।।
तारामण्डलमाकयं निजकरे वामाङ्गमायुधकं
तारास्थं गगनं विचुम्बितपरं वश्यं कृतं कल्पजम्।
यद्येवं वहनं यथागतरं तथा च कामार्थगं
तां देवीं मम पूजयामि सलिलैः रक्षेति रक्षं मम।।१४।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं वामकरतारामण्डलभूषिते जलं०।।१४।।
त्रिशूलतीक्ष्णवरदक्षिणपाणिराजं त्रिलोकसङ्कटविदारणदेवमानम्।
भस्माङ्गभूतिपरिलेपनपदमरङ्गं तमर्चयामि विधिपूर्वकसौख्यकारी।।१५।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं सव्यहस्तत्रिशूलघातिने जलं० ।।१५।।
फरसाशस्त्रमहामतिकोमलं अरिजष्टशविमुनिभेदकम्।
परशुवामकरं वरचन्द्रिकां यजतु देवगणं वरपद्मकाम्।।१६।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं वामकरसारिभेदिने जलं० ।।१६।।
विषधरैः खलु सेवितदक्षिणे प्रबललक्ष्मिकृतारिपुनाशिने।
उरगकेतुमहाभयनाशिने परमखेचरकिन्नरपूजिते! ।।१७।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं दक्षिणफणिधारिणे जलं० ।।१७।।
मुद्गरनाशनरिपुजनघोरं वामकरे स्थितिसबलसुसूरम्।
भक्तिजनाः सुखं ददतु प्रचुरं पूज्यरचनचरद्रव्यसुपूरम्।।१८।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं चामरमुद्गररक्षिणे जलं०।।१८।।
दण्डान्वितं दण्डखलस्य मूर्ध्नि संव्यांसपादमुष्टिधारी।
शक्त्यायुधं दण्डसुमिश्रकान्ति जलादिपूजाविधिना च भक्त्या।।१९।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं सव्यहस्तदण्डधारिणे जलं०।।१९।।
सन्नागपाशवरशोभितवामहस्ते शत्रून् विबद्धफणिपाशसमग्रलोके।
पद्मावतीद्विदशयुग्मकराङ्किते सात् तं पूजयामि भवतारक पुत्रदायिन्!।।२०।।
ॐ आँ क्रौँ ह्रीं वामकरफणिपाशप्रसारिणे जलं०।।२०।।
उपलनामपरिभूधरसदृशानां दक्षिणहस्तधृतमास्थलवर्तुलाग्रम्।
हंसारूढं गमनकुर्कटसर्पग्राहिं पाषाणयुद्धभयभञ्जनमन्त्रशस्त्रम्।।२१।।

ॐ आँ क्रौं ह्रीं दक्षिणहस्तपाषाणयुद्धधारिणे जलं० ।।२१।।

वृक्षप्रचण्डकरसंस्थितवामभागे जम्बूद्वीपावसमकल्पितजम्बुवृक्षम्।

शत्रून् विदारणसमस्तदिगन्तराल पद्मावतीधरणसंस्थित पूजयामि।।२२।।

ॐ आँ क्रौं ह्रीं वामकरधृतप्रचण्डवृक्षाय जलं० ।।२२।।

खड्गं कोदण्डकाण्डौ मुशलहलफणिवह्निनाराचचक्रं

शक्त्या शाल्यात् त्रिशूलं खपरडमरुकं नागपाशं च दण्डम्।

पाषाणं मुद्गरं च फरसकमलसुअङ्कुशं चाम्रछत्रं

वज्रं वृक्षं चायुधं दुरितदुरिहरं पूजनं स्वेष्टसिद्धयै।।२३।।

अथ जापः कथ्यते

ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रे ह्रैं ह्रों ह्रौं ह्रः दातारस्य मम शान्ति कुरु कुरु पद्मावत्यै नमः स्वाहा। वार १०८ तथा १२०००।

अथ जयमाला

पद्माकारदलं विशुद्धनयनं सत्तेजसा भास्करं

ह्रींबीजं जिनशासनीं भगवतीं भूजाचतुर्विंशतिः।

त्रैलोक्यं भुवि चालयन्ति वपुषा दैत्यं निहन्त्यं सदा

हे देवि! मम दुःखनाशनपरा तुभ्यं नमस्तान् मुदा।।१।।

श्रीपार्श्वनाथवरसेवितचरणं पद्मावतीजनभवभयहरणम्।

फणिपतिरक्षणदक्षिणसहितं भवजलतारण परभयरहितम्।।२।।

वामभागविष्टपगणरक्षं दैत्यदानवभयनाशनदक्षम्।

हंसारूढकुर्कटपाणिवाहं गमनं दुर्धर जनत्रयमोहम्।।३।।

चतुर्विंशतिबाहुविराजं तेषामायुधविविधसुप्राजम्।

दक्षिणकर वज्रायुधसोहे वाम भाग अंकुश मन मोहे।।४।।

कमलचक्रछत्रांकिलसारं डमरुकशोभा वामकरतारम्।

चाम्रकपालखड्गधनुषकांसं बाणमुशलहलअरिशिरत्रासम्।।५।।

शक्तिवह्निज्वालागणधरणं भिण्डमालावरशत्रुकशरणम्।

तारामण्डलगगनविशालं दक्षिणकरशोभितत्रिशूलम्।।६।।

फरसनागमुद्गरप्रचण्डं सव्यहस्तधृतवर्तनदण्डम्।

नागपाशपाषाणविशालं अंह्रिपसणकल्पद्रुमजालम्।।७।।

एवं आयुधग्रहणगरिष्ठं दुर्जनजंबलनाशनदुष्टम्।

कामिजनामनफलमभीष्टं पूजित पद्मावति देवी इष्टम्।।८।।
षोडशाभरणालङ्कृतगात्रं कमलाकरवरशोभितनेत्रम्।
चन्द्राननमुखममृततेजः रक्ताम्बरसुदयारसभाजम्।।९।।
पद्मावती देवी चरणपवित्रं अष्टविधार्चनहेमसुपात्रम्।
भावसहित पूजित नर नारी तेषां धणकणसंपत्ति भारी।।१०।।

घत्ता— विविधदुःखविनाशी दुष्टदारिद्र्यपाशी
कलिमलभवक्षाली भव्यजीवकृपाली।
असुरमदनिवारी देवनागेन्द्रनारी
जिनमुनिपदसेव्यं ब्रह्मपुण्याब्धिपूज्यम्।।११।।

ॐ आँ क्रौं ह्रीं मन्त्ररूपायै विश्वविघ्नहरणायै सकलजनहितकारिकायै श्री पद्मावत्यै जयमालार्थं निर्वपामीति स्वाहा।

लक्ष्मीसौभाग्यकरा जगत्सुखकरा बन्ध्यापि पुत्रार्पिता
नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजने रक्षिका।
रङ्कानां धनदायिका सुफलदा वाञ्छार्थिचिन्तामणिः
त्रैलोक्याधिपतिर्भवार्णवत्राता पद्मावती पातु वः।।१२।।
इत्याशीर्वादः।
स्वस्तिकल्याणभद्रस्तु क्षेमकल्याणमस्तु वः।
यावच्चन्द्रदिवानाथौ तावत् पद्मावतीपूजा।।१३।।
ये जनाः पूजन्ति पूजां पद्मावती जिनान्विता।
ते जनाः सुखमायान्ति यावन्मेरुर्जिनालयः।।१४।।

ॐ नमो भगवति! त्रिभुवनवशंकरी सर्वाभरणभूषिते पद्मनयने! पद्मिनी पद्मप्रभे! पद्मकोशिनि! पद्मवासिनि! पद्महस्ते! ह्रीं ह्रीं कुरु कुरु मम हृदयकार्यं कुरु कुरु, मम सर्वशान्तिं कुरु कुरु, मम सर्वराज्यवश्यं कुरु कुरु, सर्वलोकवश्यं कुरु कुरु, मम सर्वस्त्रीवश्यं कुरु कुरु; मम सर्वभूतपिशाचप्रेतरोषं हर हर, सर्वरोगान् छिन्द छिन्द, सर्वविघ्नान् भिन्द भिन्द, सर्वविषं छिन्द छिन्द, सर्वकुरुमृगं छिन्द छिन्द, सर्वशाकिनी छिन्द छिन्द, श्रीपार्श्वजिनपदाम्भोजभृङ्गि नमो दत्ताय देवी नमः। ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः स्वाहा। सर्वजनराज्यस्त्रीपुरुषवश्यं सर्व २ ॐ आँ क्रौं ह्रीं ऐं क्लीं ह्रीं देवि! पद्मावति! त्रिपुरकामसाधिनी दुर्जनमतिविनाशिनी त्रैलोक्यक्षोभिनी श्रीपार्श्वनाथोपसर्गहारिणी क्लीं ब्लूं मम दुष्टान् हन हन, मम सर्वकार्याणि साधय

साधय हुं फट् स्वाहा।

आँ क्रौं ह्रीं ल्लीं ह्सौं पद्मे! देवि! मम सर्वजगद्वश्यं कुरु कुरु सर्वविघ्नान् नाशय नाशय पुरक्षोभं कुरु कुरु, ह्रीं संवौषट् स्वाहा।

ॐ आँ क्रों ह्रौं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः ह्म्ल्व्र्यूं पद्मावती सर्वपुरजनान् क्षोभय क्षोभय मम पादयोः पातय पातय, आकर्षणी ह्रीं नमः।

ॐ ह्रीं क्रौं अर्हं मम पापं फट् दह दह हन हन पच पच पाचय पाचय हं भ्मं भ्मां झ्वीं हंस भ्मं वंह्य यहः क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षं क्षः क्षिं ह्रौं ह्रीं हं हे हों हौं हं हः हिः हिं द्रां द्रिं द्रावय द्रावय नमोऽर्हते भगवते श्रीमते ठः ठः मम श्रीरस्तु, पुष्टिरस्तु, कल्याणमस्तु स्वाहा।।

इति श्रीपद्मावतीदण्डकसम्पूर्णम्।।

श्रीपद्मावतीपटलम्।

श्रीमन्माणिक्यरश्मिफणगणमुकुटे! पद्मपत्रायताक्षि!

ह्रौं ह्रीं ह्रोंकारनादे हहहहहसिते! हन्महाटट्टहासे!।

ह्रौं ह्रीं ह्रौं हः वहत्संवरवरवरणे धारिणे वज्रहस्ते!

पद्मे! पद्मासनस्थे! प्रहसितवदने! देवि! मां रक्ष पद्मे!।।१।।

क्षाँ क्षीं क्षूँ क्षौं क्षौं क्षः क्षमलवरयुते! पिण्डबीजत्रिनेत्रे!

क्षाँ क्षीं क्षीं क्षिप्रक्षिप्रे! तुरतुरगमने! नागिनीनाशपाशे!।

क्षाँ क्षीं क्षूँ क्षौं क्षः दिक्षु क्षुभितदशदिशाबन्धनं वज्रहस्ते!

रौद्रे त्रैलोक्यनाथे! प्रहसितवदने! देवि! मां रक्ष पद्मे।।२।।

घ्राँ घ्रीं घ्रौं घोररूपे घिणिघिणिघिणिते घण्टहोङ्कारनादे!

क्लीं ख्लीं ग्लीं घ्लौं घुटीना घुलुघुलुघुलते! घर्जघर्जप्रमत्ते!।

घं घं घं जुग्मयन्ती दह दह पच मे कर्म निर्मूलयन्ती

दुष्टे दुष्टप्रहारे! कहकहवदने देवि! मां रक्ष पद्मे!।।३।।

क्ष्मं ढं ग्लौं मन्त्रमूर्ते! फणिगणनिलये! डाकिनीस्तम्भकारी

भ्राँ भ्रीं भ्रूँ भ्रः भ्रमन्ती! भुवि रविभुविते भूरिभूम्येकपादे!।

किं किं बिम्बं प्रचण्डे! स्थिरवससससस कामिनीमोहपाशे!।

ॐकारे मन्त्रमूर्ते! सुसुमगणयुते! देवि! मां रक्ष पद्मे।।४।।

घ्राँ घ्रीं घ्रौं पद्महस्ते! ग्रहकुलमथने! डाकिनीसिंहनादे!

हं हं हं वायुवेगे हहहहहसिते! हन्महाटट्टहासे!।

सरस्वतीमन्त्रकल्पः

—मल्लिषेण आचार्य

जगदीशं जिनं देवमभिवन्द्याभिशङ्करम्।
वक्ष्ये सरस्वतीकल्पं समासायाल्पमेधसाम्।।१।।
अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी।
त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता।।२।।
लब्धवाणीप्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा।
रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः।।३।।
दक्षो जितेन्द्रियो मौनी देवताराधनोद्यमी।
निर्भयो निर्मदो मन्त्री शास्त्रेऽस्मिन् स प्रशस्यते।।४।।
पुलिने निम्नगातीरे पर्वतारामसङ्कुले।
रम्यैकान्तप्रदेशे वा हर्म्ये कोलाहलोज्झिते।।५।।
तत्र स्थित्वा कृतस्नानः प्रत्यूषे देवतार्चनम्।
कुर्यात् पर्यङ्कयोगेन सर्वव्यापारवर्जितः।।६।।
तेजोवदद्वयस्याग्रे लिखेद् वाग्वादिनीपदम्।
ततश्च पञ्च शून्यानि पञ्चसु स्थानकेष्वपि।।७।।

ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्राँ हृदयाय नमः। ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्रीं शिरसे नमः। ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्रूं शिखायै नमः। ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्रैँ कवचाय नमः। ॐ वद वद वाग्वादिनी ह्रः अस्त्राय नमः। इति सकलीकरणं विधातव्यम्।

रेफैर्ज्वलद्भिरात्मानं दग्धमग्निपुरस्थितम्।
ध्यायेदमृतमन्त्रेण कृतस्नानस्ततः सुधीः।।८।।

ॐ अमृते! अमृतोद्भवे! अमृतवर्षिणि! अमृतं श्रावय श्रावय सं सं ह्रीं ह्रीं क्लीं क्लीँ ब्लूँ ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रूं द्रूं द्रावय द्रावय स्वाहा। स्नानमन्त्रः। विनयमहा।

ॐ ह्रीं पद्मयशसे योगपीठायः नमः। पीठस्थापनमन्त्रः।
पट्टकेऽष्टदलाम्भोजं श्रीखण्डेन सुगन्धिना।
जातिकास्वर्णलेखिन्या दूर्वादर्भेण वा लिखेत्।।९।।
ॐ कारपूर्वाणि नमोऽन्तगानि शरीरविन्यासकृताक्षराणि।
प्रत्येकतोऽष्टौ च यथाक्रमेण देयानि तान्यष्टसु पत्रकेषु।।१०।।
ब्रह्महोमनमःशब्दं मध्येकर्णिकमालिखेत्।

कं कः प्रभृतिभिर्वर्णैर्वेष्टयेत् तन्निरन्तरम्।।११।।

कं कः, चं चः, टं टः, तं तः, पं पः, यं यः, रं रः, लं लः, वं वः, शं शः, षं षः, सं सः, हं हः, ल्लं ल्लः, क्षं क्षः, खं खः, छं छः, ठं ठः, थं थः, फं फः, गं गः, जं जः, डं डः, दं दः, बं बः, घं घः, झं झः, ढं ढः, धं धः भं भः, ङं ङः, ञं ञः, णं णः, नं नः, मं मः, एतानि केसराक्षराणि।

बाह्ये त्रिर्मायया वेष्ट्य कुम्भकेनाम्बुजोपरि।
प्रतिष्ठापनमन्त्रेण स्थापयेत्' तां सरस्वतीम्।।१२।।
ॐ अमले! विमले! सर्वज्ञे! विभावरि! वागीश्वरि! ज्वलदीधिति! स्वाहा प्रतिष्ठापनमन्त्रः।।

अर्चयेत् परया भक्त्या गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
विनयादिनमोऽन्तेन मन्त्रेण श्रीसरस्वतीम्।।१३।।
ॐ सरस्वत्यै नमः।
विनयं मायाहरिवल्लभाक्षरं तत्पुरो वदद्वितयम्।
वाग्वादिनी च होमं वागीशा मूलमन्त्रोऽयम्।।१४।।
ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनी स्वाहा। मूलमन्त्रः।
यो जपेज्जातिकापुष्पैर्भानुसङ्ख्यासहस्रकैः।
दशांशहोमसंयुक्तं स स्याद् वागीश्वरीसमः।।१५।।
महिषाक्षगुग्गुलेन प्रतिनिर्मितचणकमानसद्गुटिकाः
होमस्त्रिमधुरयुक्तैर्वरदाऽत्र सरस्वती भवति ।।१६।।
देहशिरोदृग्नासासर्वमुखाननसुकण्ठहन्नाभि।
पादेषु मूलमन्त्रबीजद्वयवर्जितं ध्यायेत्।।१७।।
श्वेताम्बरां चतुर्भुजां सरोजविष्ट रस्थिताम्।
सरस्वतीं वरप्रदामहर्निशं नमाम्यहम्।।१८।।
साङ्ख्यभौतिकचार्वाकमीमांसकदिगम्बराः।
सौगतास्तेऽपि देवि! त्वां ध्यायन्ति ज्ञानहेतवे।।१६।।
भानूदये तिमिरमेति यथा विनाशं क्ष्वेडं विनश्यति यथा गरुडागमेन।
तद्वत् समस्तदुरितं चिरसञ्चितं मे देवि। त्वदीयमुखदर्पणदर्शनेन ।।२०।।
गमकत्वं कवित्वं च वाग्मित्वं वादिता तथा।
भारति! त्वत्प्रसादेन जायते भुवने नृणाम्।।२१।।

इस इक्कीसवें श्लोक के पश्चात् प्रस्तुत सरस्वती मन्त्रकल्प में सरस्वती उपासना सम्बन्धी मन्त्र एवं उनके विधि विधानों की चर्चा की गयी है। विस्तारभय से हम यहां उन्हें नहीं दे पा रहे हैं, इच्छुक पाठक 'भैरवपद्मावतीकल्प' से उन्हें देख सकते हैं।

श्रीशारदास्तवनम्।

—जिनप्रभसूरि

ॐ नमस्त्रिदशविन्दतक्रमे! सर्वविद्वज्जनपद्मभृङ्गिके!।
बुद्धिमान्द्यकदलीदलीक्रियाशस्त्रि! तुभ्यमधिदेवते! गिराम्।।१।।
कुर्वते नभसि शोणशेचिषो भारति! क्रमनखांशवस्तव।
नम्रनाकिमुकुटांशुमिश्रिता ऐन्द्रकार्मुकपरम्परामिव।।२।।
दन्तहीन्दुकमलश्रियो मुखं यैर्व्यलोकि तव देवि! सादरम्।
ते विविक्तकवितानिकेतनं के न भारति! भवन्ति भूतले?।।३।।
श्रीन्द्रमुख्यविबुधार्चितक्रमां ये श्रयन्ति भवतीं तरीमिव।
ते जगज्जननि! जाड्यवारिधिं निस्तरन्ति तरसा रसास्पृशः।।४।।
द्रव्यभावतिमिरापनोदिनीं तावकीनवदनेन्दुचन्द्रिकाम्।
यस्य लोचनचकोरकद्वयी पीयते भुवि स एव पुण्यभाक्।।५।।
विभ्रदङ्गकमिदं त्वदर्पितस्नेहमन्थरदृशा तरङ्गितम्।
वर्णमात्रवदनाक्षमोऽप्यहं स्वं कृतार्थमवयामि निश्चितम्।।६।।
मौक्तिकाक्षवलयाब्जकच्छपीपुस्तकाङ्कितकरोपशोभिते!।
पद्मवासिनि! हिमोज्ज्वलाङ्गि वाग्वादिनि! प्रभव नो भवच्छिदे।।७।।
विश्वविश्वभुवनैकदीपिके! नेमुषां मुषितमोहविप्लवे!।
भक्तिनिर्भरकवीन्द्रवन्दिते! तुभ्यमस्तु गिरिदेवते नमः।।८।।
उदारसारस्वतमन्त्रगर्भितं जिनप्रभाचार्यकृतं पठन्ति ये।
वाग्देवतायाः स्फुटमेतदष्टकं स्फुरन्ति तेषां मधुरोज्वला गिरः।।९।।

श्रीचक्रेश्वरीस्तोत्रम्

—जिनदत्तसूरि

श्रीचक्रेश्वरि चक्रचुम्बितकरे चञ्चच्चलत्कुण्डला—
लंकारे कृतमस्तकोरुमुकुटे ग्रैवेयकालंकृते।।
स्फारोदारभुजाग्रभूषणकरे सन्नूपुरैर्बन्धुरे
मातर्मन्ति नयं स्वमिष्टविनयं त्रायस्व संत्रासतः।।१।।
श्रीचक्रेश्वरी चन्द्रमण्डलमिव ध्वस्तांधकारोत्करं
भव्यप्राणिचकोरचुम्बितकरं संतापसंपद्धरं।
सम्यग्दृष्टिसुखप्रदं सुविशदं कान्त्यास्पदं संपदां

पात्रं जीवमनः प्रसादजनकं भाति त्वदीयं मुखम्।।२।।
श्रीचक्रेश्वरी युष्मदाननरविं पश्यन्ति नैवोदितं
ध्वस्तध्वान्ततति प्रदत्तसुगतिं संप्राप्तमार्गस्थितिं।
ते ज्ञेया इह कौशिका इव जना हेयाः सतां सर्वथा
नादेयाः कुदृशो भवन्ति भगवत्युच्चैः शिवं वांछतां ।।३।।
श्रीचक्रेश्वरी युष्मदंघ्रिचरितं सर्वत्र तद्विश्रुतं।
कस्याज्ञस्य मनोमुदे भवति नो निष्पुण्यचूडामणेः।
कारुण्यान्वितमंगिसंमतमतिभ्रान्तिप्रशान्तप्रियं
श्रीसंकेतगृहं सदास्तविरहं पुण्यानुबन्धि स्फुटम्।।४।।
श्रीचक्रेश्वरि ये स्तुवन्ति भवतीं भव्या भवद्भक्तयः।
श्रीसर्वज्ञपदारविन्दयुगले विश्राममातन्वतीम्।।
भृङ्गीवत्सदृशां सुखं त्वसदृशं संप्रार्थयन्तो जना--
स्ते स्युर्ध्वस्तविपत्तयः सुमतयः स्पष्टं जितारातयः।।५।।
श्रीचक्रेश्वरि नित्यमेव भवतीनामाऽपि ये सादरं।
सन्तः सत्यशमाश्रिताः प्रतिपदं सम्यक् स्मरन्ति स्फुरत्।।
तेषां किं दुरितानि यान्ति निकटे नायाति किं श्रीर्गृहे।
नोपैति द्विषतां गणोऽपि विलयं नाऽभीष्टसिद्धिर्भवेत्।।६।।
श्रीचक्रेश्वरि ये भवन्ति भवतीपादारविन्दाश्रिता--
स्ते भृङ्गा इव कामितार्थमधुनः पात्रं सदैवाङ्गिनः।
जायन्ते जगति प्रतीतिभवनं भव्याः स्फुरत्कीर्त्तय--
स्तेषां क्वापि कदापि सा भवति नो दारिद्र्यमुद्रा गृहे।।७।।
श्रीचक्रेश्वरि यः स्तवं तव करोत्युच्चैः स किं मानवः
कस्मादन्यजनाच्च याचत इह क्लेशैर्विमुक्ताशयः।
कासश्वासशिरोगलग्रहकटीवातातिसारज्वर--
स्रोतोनेत्रगतामयैरपि न स श्रेयानिह प्रार्थते।।८।।
श्रीचक्रेश्वरि शासनं जिनपतेस्त्वद्रक्षसि त्वं मुदा
ये केचिज्जिनभाषितान्यवितथान्युच्चैः प्रजल्पन्ति च।
भव्यानां पुरतो हितानि कुरुषे तेषां तु तुष्टिं सदा
क्षुद्रोपद्रवविद्रवं प्रतिपदं कृत्वा कृतान्तादपि।।९।।
श्रीचक्रेश्वरि विश्वविस्मयकरी त्वं कल्पवृक्षोपमा

धत्सेऽभीष्टफलानि वस्तुनिकृतिं दत्से विना संशयं।
तेन त्वं विनुता मयाऽपि भवती मत्वेति मन्निश्चयं
कुर्याः श्रीजिनदत्तभक्तिषु मनो मे सर्वदा सर्वथा।।१०।।
इति श्रीचक्रेश्वरीस्तोत्रं संपूर्णम्

।।श्रीचक्रेश्वरीअष्टकम्।।

श्रीचक्रे! चक्रभीमे! ललितवरभुजे! लीलया लोलयन्ती
चक्रं विद्युत्प्रकाशं ज्वलितशितशिखं खे खगेन्द्राधिरूढे!।
तत्त्वैरुद्भूतभावे सकलगुणनिधे! त्वं महामन्त्रमूर्तिः (मूर्ते)
क्रोधादित्यप्रतापे! त्रिभुवनमहिते! पाहि मां देवि! चक्रे।।१।।
क्लीं क्लीं क्लींकारचित्ते! कलिकलिवदने! दुन्दुभिभीमनादे!
ह्रॉं ह्रीं ह्रः सः खबीजे! खगपतिगमने! मोहिनी शोषिणी त्वम्।
तच्चक्रं चक्रदेवी भ्रमसि जगति दिक्चक्रविक्रान्तकीर्ति–
र्विघ्नौघं विघ्नयन्ती विजयजयकरी पाहि मां देवि! चक्रे!।।२।।
श्रॉं श्रीं श्रूँ श्रः प्रसिद्धे! जनितजनमनःप्रीतिसन्तोषलक्ष्मीं
श्रीवृद्धिं कीर्तिकान्तिं प्रथयसि वरदे! त्वं महामन्त्रमूर्तिः (मूर्ते)।
त्रैलोक्यं क्षोभयन्तीमसुरभिदुरहुङ्कारनादैकभीमे!
क्लीं क्लीं क्लीं द्रावयन्ती हुतकनकनिभे पाहि मां देवि! चक्रे!।।३।।
वज्रक्रोधे! सुभीमे! शशिकरधवले! भ्रामयन्ती सुचक्रं
ह्रॉं ह्रीं ह्रूँ ह्रः कराले! भगवति! वरदे! रुद्रनेत्रे! सुकान्ते!
आँ ईँ उँ क्षोभयन्ती त्रिभुवनमखिलं तत्त्वतेजःप्रकाशि
ज्वाँ ज्वीं ज्वीं सच्चबीजे प्रलयविषयुते! पाहि मां देवि! चक्रे!।।४।।
ॐ ह्रीं ह्रूँ ह्रः सहर्षे (र्ष) हहहहहहसिते चक्रसङ्काशबीजे!
ह्रॉं ह्रौं ह्रः यः क्षीरवर्णे! कुवलयनयने! विद्रवं द्रावयन्ती।
ह्रीं ह्रीं (ह्रौं) ह्रः क्षः त्रिलोकैरमृतजरजरैर्वारिणैः प्लावयन्ती
ह्रां ह्रीं ह्रीं चन्द्रनेत्रे! भगवति सततं पाहि मां देवि! चक्रे!।।५।।
आँ आँ आँ ह्रीं युगान्ते प्रलयविचयुते कारकोटिप्रतापे!
चक्राणि भ्रामयन्ती विमलवरभुजे पद्ममेकं फलं च।
सच्चक्रे कुङ्कुमाङ्कैर्विधृतवि (व) निरुहं तीक्ष्णरौद्रप्रचण्डे
ह्रीं ह्रीं ह्रींकारकारीरमरगणतनो (वो) पाहि मां देवि! चक्रे! ।।६।।
श्रॉं श्रीं श्रूँ श्रः सवृत्तित्रिभुवनमहिते नादबिन्दुत्रिनेत्रे

वं वं वं वज्रहस्ते ललललललिते नीलशोर्नीलकोषे।
चं चं चं चक्रधारी चलचलचलते नूपुरालीढलोले
त्वं लक्ष्मीं श्रीसुकीर्तिं सुरवरविनते पाहि मां देवि! चक्रे!।।७।।
ॐ ह्रीं हूँकारमन्त्रे कलिमलमथने तुष्टिवश्याधिकारे
ह्रीं ह्रौं ह्रः यः प्रघोषे प्रलययुगजटीझेयशब्दप्रणादे।
यां यां यां क्रोधमूर्ते! ज्वलज्वलज्वलिते ज्वालसंज्वाललीढे
आँ ईँ ॐ अः प्रघोषे प्रकटितदशने पाहि मां देवि! चक्रे!।।८।।
यः स्तोत्रं मन्त्ररूपं पठति निजमनोभक्तिपूर्वं शृणोति
त्रैलोक्यं तस्य वश्यं भवति बुधजनो वाक्पटुत्वञ्च दिव्यं।
सौभाग्यं स्त्रीषु मध्ये खगपतिगमने गौरवं त्वत्प्रसादात्
डाकिन्यो गुह्यकाश्च विदधति न भयं 'चक्रदेव्याः स्तवेन।।९।।

।।इति श्रीचक्रेश्वरीदेवीस्तोत्रम्।।

गणधरवलयस्तुतिः

जिनेभ्यः सर्वसिद्धेभ्यः, नमो देशजिनाश्च ये।
सूरिपाठकयोगीन्द्रा–स्तेभ्योऽपि सततं नमः।।१।।
देशावधिजिनाः सर्वा–वधिश्रेष्ठर्द्धिभूषिताः।
परमावधियुक्ताश्च, सर्वेभ्यो मे नमो नमः।।२।।
अनंतावधियुक्तेभ्यः, केवलिभ्यो नमो नमः।
सर्वर्द्धिभूषितेभ्श्चा–नंतसौख्यं दिशंतु मे।।३।।
कोष्ठबुद्धियुताः ऋद्धि–धराः सर्वे मुनीश्वराः।
तेभ्यो नमो नमः संतु, मम बुद्धिविशुद्धये।।४।।
बीजबुद्धियुतान् साधून्, सम्पूर्णश्रुतधारकान्।
वंदे बीजर्द्धिसंप्राप्त्यै, सर्वान् गणधरान् गुरून्।।५।।
पदानुसारिबुद्धिभ्यो, युतांस्त्रिभेदभूषितान्।
ऋद्धिप्राप्तयतीन् वंदे, नित्यं सर्वार्थसिद्धये।।६।।
अक्षरानक्षराभाषाः, संख्याताः श्रृणुयुःसकृत्।
तेभ्यः संभिन्नश्रोतृर्द्धिसंयतेभ्यो नमो नमः।।७।।
स्वयंबुद्धमुनीन्द्राश्च, प्रत्येकबुद्धसंयताः।
बोधितबुद्धयोगीशास्तेभ्यश्च त्रिविधं नमः।।८।।

ऋजुमतिधरान् वंदे, विपुलमतिसंयुतान्।
मनःपर्ययबोधर्द्धि–भूषितांश्च स्तवीम्यहं।।६।।
दशपूर्वज्ञ योगीशान् चतुर्दशसुपूर्वगान्।
श्रुतपारगसर्वांश्च, स्तौमि पूर्णश्रुताप्तये।।१०।।
नौम्यष्टांगनिमित्तज्ञान्, महाकुशलयोगिनः।
कुशलाकुशलज्ञांश्च, संतु मे कुशलाप्तये।।११।।
अणिमामहिमाद्यैर्ये, विक्रयर्द्धियुताश्च तान्।
नमामि स्वात्मलाभाय, भवदुःखविहानये।।१२।।
तपोभिःसिद्धविद्याभिर्युताविद्याधरर्षयः।
विद्यानुवादपूर्वज्ञास्तेभ्यो नित्यं नमोऽस्तु मे।।१३।।
जंघाकाशजलाद्यष्ट–चारणर्द्धिविभूषिताः।
तेभ्यो नमोऽस्तु साधुभ्यः, ऋद्धिं सिद्धिं दिशंतु मे।।१४।।
प्रज्ञाश्रमणयोगीन्द्राः, चतुःप्रज्ञायुता सदा।
नमस्तेभ्यो गणेशेभ्यो, मम प्रज्ञाविशुद्धये।।१५।।
आकाशगामिनो नित्यं, तपोमाहात्म्यतः स्वयं।
तेभ्यो नमोस्तु मे कुर्यु–रूर्ध्वगतिमनश्वरीं।।१६।।
आशीविषान् मुनीन् वंदे, रागद्वेषविवर्जितान्।
दृष्टिर्विषांश्च तान्साधूनृद्धिप्राप्तान् सदा स्तुवे।।१७।।
उग्रतपोश्रुतान् साधून्, महोग्रोग्रोपवासिनः।
तपःऋद्धया महांतस्तान्, नौमि तपःप्रवृद्धये।।१८।।
दीप्ततपोमहद्धर्या ये, तनुदीप्त्या च वर्धिताः।
निराहारा जगत्पूज्यास्तान् नमामि स्वसिद्धये।।१६।।
तप्ततपोयुतान् साधून्, नत्वाभ्यंतरशुद्धये।
महातपोयुतान् वंदे, तान् सर्वर्द्धया समन्वितान्।।२०।।
तीव्रघोरतपोयुक्तान्, कायक्लेशादिभिर्युतान्।
निर्भीकान् मुक्तिकामांस्तान्, तपः सिद्धयै नमाम्यहं।।२१।।
नमो घोरगुणर्द्धिभ्यो, जिनेभ्यः तद्गुणाप्तये।
चतुरशीतिलक्षैश्च गुणैर्युक्तान् स्तुवे मुदा।।२२।।
घोरपराक्रमैर्युक्तान्, तपःऋद्धया विभूषितान्।
नमामि घोरकर्मारि–हानये स्वात्मसिद्धये।।२३।।

घोरगुणयुता ब्रह्मचारिणः ऋद्धिशालिनः।
सर्वोपद्रवनाशाय, तान् मुनीन् संस्तवीम्यहं।।२४।।
येषां संस्पर्शनान् सर्वे, रोगा नश्यंति देहिनां।
आमर्षौषधियुक्तांस्तान् वंदे सर्वार्त्तिहानये।।२५।।
येषां क्ष्वेलमलाद्याः स्युः, रोगापनयने क्षमाः।
संयतांस्तान् प्रवंदेहं, क्ष्वेलौशधियुतान् गुरून्।।२६।।
येषां स्वेदरजोलग्नाः, मला रोगान् नुदंति तान्।
वंदे जल्लौषधिप्राप्तान् भवव्याधिविहानये।।२७।।
येषां उच्चारमूत्राद्याः, सर्वरोगापहारिणः।
विप्रुषौषधियुक्तांस्तान्, वंदे सर्वार्त्तिशांतये।।२८।।
ये सर्वौषधिसंप्राप्ताः, सर्वजीवोपकारिणः।
सर्वव्याधिविनाशाय, तेभ्यो नित्यं नमो नमः।।२९।।
मुहूर्तमात्रकालेन, द्वादशांगश्रुतं मुदा।
चिंतयंति नमाम्येतान्, मनोबलयुतानृषीन्।।३०।।
मुहूर्तमात्रकालेन, द्वादशांगं पठंति ये।
उच्चैःस्वरैर्न खिद्यंते, तान् वचोबलिनः स्तुवे।।३१।।
तपोमाहात्म्यतः लोकं, समुद्धर्त्तुं क्षमाश्च ये।
कायशक्तियुतान् नौमि, कायबलिमुनीश्वरान्।।३२।।
करपात्रगतं येषां, विषं दुग्धं भवेत् सदा।
क्षीरवत्वचनं चापि, तान् क्षीरस्रविषाः स्तुवे।।३३।।
येषां तपःप्रभावेण, नीरसं करपात्रगं।
घृतं जायेत तत्सर्वं, तान् सर्पिःस्रविणः स्तुवे।।३४।।
येषां हस्तगताहारं, जायते मधुरं तथा।
वाचोऽपि यांति माधुर्यं, तान् मधुस्रविणः स्तुवे।।३५।।
करपात्रगतं येषा–माहारममृतं भवेत्।
पीयूषं वचनं चापि, तान् सुधास्रविणः स्तुवे।।३६।।
येषामाहारमन्वन्न–मक्षीणं तदिदनं तथा।
अक्षीणा वसतिर्भूयात्, तान् क्षीणर्द्धिगान् स्तुवे।।३७।।
वर्धमानगुणैर्युक्तान्, वर्धमानजिनान् स्तुवे।
ऋद्धिसिद्धिसमेतान् तान्, ऋद्धिसिद्धिप्रवृद्धये।।३८।।

लोके सर्वनिषद्याः स्युः, जिनबिंबजिनालयान्।
चंपापावादिक्षेत्रं च, सर्वान् सिद्धालयान् स्तुवे।।३९।।
श्रीभगवन्महावीरं, महांतं नौम्यहं सदा।
वर्धमानं सुबुद्धर्षि, वंदे सर्वार्थसिद्धये।।४०।।
इत्थं गणधरेशानां, मंत्रान् पठति यो मुदा।
स प्राप्नोत्यचिरं सिद्धि–र्महज्ज्ञानमतिं ध्रुवां।।४१।।

इति गणधरवलय स्तुतिः।

(जिनस्तोत्र संग्रह से उद्धृत)

श्री सरस्वती स्तोत्रम्।

चन्द्रार्क–कोटिघटितोज्वल–दिव्य मूर्ते!
श्रीचन्द्रिका–कलित–निर्मल–शुभ्रवस्त्रे!
कामार्थ–दायि–कलहंस–समाधि–रूढे!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि!।।१।।
देवा–सुरेन्द्र–नतमौलिमणि–प्ररोचि,
श्री मंजरी–निविड–रंजित–पादपद्मे!
नीलालके! प्रमदहस्ति–समानयाने!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि!।।२।।
केयूरहार–मणिकुण्डल–मुद्रिकाद्यैः,
सर्वाङ्गभूषण–नरेन्द्र–मुनीन्द्र–वंद्ये!
नानासुरत्न–वर–निर्मल–मौलियुक्ते!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि!।।३।।
मंजीरकोत्कनककंकणकिंकणीनां,
कांच्याश्च झंकृत–रवेण विराजमाने!
सद्धर्म–वारिनिधि–संतति–वर्द्धमाने!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि! ।।४।।
कंकेलिपल्लव–विनिंदित–पाणियुग्मे!
पद्मासने दिवस–पद्मसमान–वक्त्रे!
जैनेन्द्र–वक्त्र–भवदिव्य–समस्त–भाषे!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि!।।५।।

अर्द्धेन्दु–मण्डितजटा–ललित–स्वरूपे!
शास्त्र–प्रकाशिनि–समस्त–कलाधिनाथे!
चिन्मुद्रिका–जपसराभय–पुस्तकाङ्के!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि! ।।६।।
डिंडीरपिंड–हिमशंखसिता–भ्रहारे!
पूर्णेन्दु–बिम्बरुचि–शोभित–दिव्यगात्रे!
चांचल्यमान–मृगशावललाट–नेत्रे!
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि! ।।७।।
पूज्ये पवित्रकरणोन्नत–कामरूपे!
नित्यं फणीन्द्र–गरुडाधिप–किन्नरेन्द्रैः।
विद्याधरेन्द्र–सुरयक्ष–समस्त–वृन्दैः,
वागीश्वरि! प्रतिदिनं मम रक्ष देवि! ।।८।।
सरस्वत्याः प्रसादेन, काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मान्निश्चल–भावेन, पूजनीया सरस्वती ।।६।।
श्रीसर्वज्ञ–मुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।
अज्ञानतिमिरं हन्ति, विद्या–बहुविकासिनी ।।१०।।
सरस्वती मया दृष्टा, दिव्या कमललोचना।
हंसस्कन्ध–समारूढा, वीणा–पुस्तक–धारिणी ।।११।।
प्रथमं भारती नाम, द्वितीयं च सरस्वती।
तृतीयं शारदादेवी, चतुर्थं हंसगामिनी ।।१२।।
पंचमं विदुषां माता, षष्ठं वागीश्वरी तथा।
कुमारी सप्तमं प्रोक्ता, अष्टमं ब्रह्मचारिणी ।।१३।।
नवमं च जगन्माता, दशमं ब्राह्मिणी तथा।
एकादशं तु ब्रह्माणी द्वादशं वरदा भवेत् ।।१४।।
वाणी त्रयोदशं नाम, भाषा चैव चतुर्दशं।
पंचदशं श्रुतदेवी च, षोडशं गौर्निगद्यते ।।१५।।
एतानि श्रुतनामानि, प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
तस्य संतुष्यति माता, शारदा वरदा भवेत् ।।१६।।
सरस्वति! नमस्तुभ्यं, वरदे! कामरूपिणि!।
विद्यारंभं करिष्यामि, सिद्धिर्भवतु मे सदा ।।१७।।

इति श्री सरस्वती नाम स्तोत्रम्

(३)

आचारपंचकसमाचरण–प्रवीणाः, सर्वज्ञ–शासन–धुरैकधुरंधरा ये।
ते सूरयो दमितदुर्दमवादिवृन्दा, विश्वोपकार–करणप्रवणा जयन्ति।।

(४)

सूत्रं यतीनति–पटु–स्फुट–युक्तियुक्त–युक्तिप्रमाण–नयभंगमैर्गभीरम्।
ये पाठयन्ति वरसूरिपदस्य योग्यास्, ते वाचकाश्चतुरचारु–गिरो जयन्ति।।

(५)

सिद्धांगनासुखसमागम–बद्धवाञ्छाः, संसार–सागर–समुत्तरणैक–चित्ताः।
ज्ञानादिभूषण–विभूषित–देहभागा, रागादिघातंरतयो यतयो जयन्ति।।

रक्षा सम्बन्धी स्तोत्र–

श्री वज्रपंजर स्तोत्र

परमेष्ठिनमस्कारं, सारं नवपदात्मकम्।
आत्मरक्षाकरं वज्र–पञ्जराभं स्मराम्यहम्।।१।।
ॐ नमो अरहंताणं, शिरस्कं शिरसि स्थितम्।
ॐ नमो सव्वसिद्धाणं, मुखे मुखपटं वरम्।।२।।
ॐ नमो आयरियाणं अंगरक्षाऽतिशायिनी।
ॐ नमो उवज्झायाणं, आयुधं हस्तयोर्दृढम्।।३।।
ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं, मोचके पादयोः शुभे
एसो पंच नमुक्कारो, शिला वज्रमयी तले।।४।।
सव्वपाव–प्पणासणो, वप्रो वज्रमयो बहिः।
मंगलाणं च सव्वेसिं, खादिराङ्गारखातिका।।५।।
स्वाहान्तं च पदं ज्ञेयं, पढमं हवइ मंगलं।
वप्रोपरि वज्रमयं, पिधानं देहरक्षणे।।६।।
महाप्रभावा रक्षेयं, क्षुद्रोपद्रव–नाशिनी।
परमेष्ठिपदोद्भूता, कथिता पूर्वसूरिभिः।।७।।
यश्चैवं कुरुते रक्षां, परमेष्ठि–पदैः सदा।
तस्य न स्याद् भयं व्याधिराधिश्चापि कदाचन।।८।।

श्री लघुशान्ति–स्तव

शान्ति शान्ति–निशान्तं, शान्तं शान्ताऽशिवं नमस्कृत्य।
स्तोतुः शान्ति–निमित्तं, मंत्रपदैः शान्तये स्तौमि।।१।।
ओमिति निश्चितवचसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम्।
शान्तिजिनाय जयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम्।।२।।
सकलातिशेषक–महासम्पत्ति–समन्विताय शस्याय।
त्रैलोकपूजिताय च नमो, नमः शान्तिदेवाय।।३।।
सर्वामरसुसमूह–स्वामिक–सम्पूजिताय निर्जिताय।
भुवनजनपालनोद्यततमाय, सततं नमस्तस्मै।।४।।
सर्वदुरितौघनाशनकराय, सर्वाऽशिवप्रशमनाय।
दुष्टग्रहभूतपिशाच, शाकिनीनां प्रमथनाय।।५।।
यस्येति नाममंत्रप्रधान–वाक्योपयोगकृततोषा।
विजया कुरुते जनहितमित च, नुता नमत तं शान्तिम्।।६।।
भवतु नमस्ते भगवति! विजये सुजये परापरैरजिते!।
अपराजिते! जगत्यां, जयतीति जयावहे! भवति।।७।।
सर्वस्यापि च संघस्य, भद्रकल्याण मंगलप्रददे!।
साधूनां च सदा शिव–सुतुष्टि–पुष्टिप्रदे जीयाः।।८।।
भव्यानां कृतसिद्धे! निर्वृत्तिनिर्वाणजननि सत्त्वानाम्।
अभयप्रदाननिरते, नमोऽस्तु स्वस्तिप्रदे! तुभ्यम्।।६।।
भक्तानां जन्तूनां शुभावहे, नित्यमुद्यते देवि!।
सम्यग्दृष्टीनां, धृतिरतिमतिबुद्धिप्रदानाय।।१०।।
जिनशासननिरतानां शान्तिनतानां च जगति जनतानाम्।
श्रीसम्पतकीर्तियशोवर्द्धिनि जय देवि! विजयस्व।।११।।
सलिलानल–विष–विषधर दुष्ट ग्रह–राज–रोग–रणभयतः।
राक्षस–रिपुगण–मारि–चौरेति–श्वापदादिभ्यः।।१२।।
अथ रक्ष रक्ष सुशिवं, कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्ति च कुरु कुरु त्वम्।।१३।।
भगवति गुणवति! शिवशान्ति तुष्टिपुष्टीः स्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम्।
ओमिति नमो नमो हाँ हीं हूँ, हः यः क्षः हीं फुट्फुट् स्वाहा।।१४।।
एवं यन्नामाक्षरपुरस्सरं संस्तुता जया देवी।

कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नमः शान्तये तस्मै।।१५।।

इति पूर्वसूरिदर्शितमंत्रपद विदर्भितः स्तवः शान्तेः।

सलिलादिभयविनाशी शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम्।।१६।।

यश्चैनं पठति सदा, श्रृणोति भावयति वा यथायोगम्।

स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च।।१७।।

बृहच्छान्तिः

(बड़ी शान्ति)

(१) ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां प्रीयन्तां, भगवन्तोऽर्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोक–पूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रि–लोकोद्योतकराः।

ॐ ऋषभ–अजित–सम्भव–अभिनन्दन–सुमति–पद्मप्रभ–सुपार्श्व–चन्द्रप्रभ सुविधि–शीतल–श्रेयांस–वासुपूज्य–विमल–अनन्त–धर्म–शान्ति–कुन्थु–अर–मल्लि– मुनिसुव्रत–नेमि–नमि–पार्श्व–वर्द्धमानान्ता जिनाः शान्ताः शान्ति–करा भवन्तु स्वाहा।

(२) ॐ मुनयो मुनिप्रवरा रिपुविजय–दुर्भिक्ष–कान्ता–रेषु दुर्गमार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा।

(३) ॐ श्री–ह्रीं–धृति–मति–कीर्ति–कान्ति–बुद्धि–लक्ष्मी–मेधा–विद्या –साधन–प्रवेश–निवेशनेषु सुगृहीतना–मानो जयन्तु ते जिनेन्द्राः।

(४) रोहिणी–प्रज्ञप्ति–वज्रश्रृङ्खला–वज्राङ्कशी–अप्रतिचक्रा–पुरुषदत्ता –काली––महाकाली–गौरी–गान्धारी–सर्वास्त्रमहाज्वाला–मानवी–वैरोट्या –अच्छुप्ता–मानसी–महामानसी–षोडशविद्यादेव्यो रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा।

(५) ॐ आचार्योपाध्याय–प्रभृति–चातुर्वर्णस्य श्रीश्रमण–सङ्घस्य शान्तिर्भवतु तुष्टिर्भवतु पुष्टिर्भवतु।

(६) ॐ ग्रहाश्चन्द्र–सूर्याङ्गारक–बुध–बृहस्पति–शुक्र–शनैश्चर–राहु –केतु–सहिताः सलोकपालाः सोम–यम–वरुण–कुवेर–वासवादित्य–स्कन्द–विनायकोपेता ये चान्येऽपि ग्राम–नगर–क्षेत्र–देवताऽऽदयस्ते सर्वे प्रीयन्तां प्रीयन्ताम् अक्षीण–कोश–कोष्ठागारा नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा।

(७) ॐ पुत्र–मित्र–भ्रातृ–कलत्र–सुहृत्–स्वजन–सम्बन्धि–बन्धुवर्ग–सहिता नित्यं चामोद–प्रमोद–कारिणः (भवन्तु स्वाहा)।

(८) आस्मिंश्च भूमण्डले, आयतन–निवासि–साधु–साध्वी–श्रावक–श्राविकाणां रोगोपसर्ग–व्याधि–दुःख–दुर्भिक्ष–दौर्मनस्योपशमनाय शान्तिर्भवतु।

(६) ॐ तुष्टि–तुष्टि–ऋद्धि–वृद्धि–माङ्गल्योत्सवाः सदा (भवन्तु) प्रादुर्भूतानि पापानि शाम्यन्तु, (शाम्यन्तु) दुरितानि, शत्रवः पराङ्मुखा भवन्तु स्वाहा।

तिजयपहुत्त स्तोत्रं

—श्री मानदेवसूरि

तिजयपहुत्तपयासय–अट्ठमहापाडिहरजुत्ताणं।
समयक्खित्तठिआणं, सरेमि चक्कं जिणंदाणं।।१।।
पणवीसा य असीआ, पनरस पन्नास जिणवरसमूहो।
नासेउ सयलदुरिअं, भवियाणं भति जुत्ताणं।।२।।
वीसा पणयाला विय, तीसा पन्नतरी जिणवरिंदा।
गहभूअरक्खसाइणि–घोरुवसग्गं पणासंतु।।३।।
सत्तरि पणतीसा विय, सट्ठी पंचेव जिणगणो एसो।
वाहि–जल–जलण–हरि–करि–चोरारि महाभयं हरउ।।४।।
पणपन्ना य दसेव य, पन्नट्ठी तह य चेव चालीसा।
रक्खंतु मे सरीरं, देवासुरपणमिआ सिद्धा।।५।।
ॐ ह र हुं हः स र सुं सः, ह र हुं हः तहय चेवसरसुंसः।
आलिहिय नामगब्भं चक्कं किर सव्वओभद्दं।।६।।
ॐ रोहिणि पन्नति, वज्जसिंखला तह य वज्जअंकुसिया।
चक्केसरि नरदत्ता, कालि महाकालि तह गोरी।।७।।
गंधारी महज्जाला, माणवि वइरुट्ट तह य अच्छुत्ता।
माणसि महमाणसिआ, विज्जादेवीओ रक्खंतु।।८।।
पंचदसकम्मभूमिसु, उप्पन्नं सत्तरि जिणाण सयं।
विविहरयणाइवन्नो वसोहिअं हरु दुरिआइं।।६।।
चउतीसससअइ सयजुआ, अट्ठमहापाडिहेरकयसोहा।
तित्थयरा गयमोहा, झाए अव्वा पयत्तणं।।१०।।
ॐ वरकणयसंखविद्दु म–मरगयघणसन्निहं विगयमोहं।
सत्तरिसयं जिणाणं, सव्वामरपूइअं वंदे स्वाहा।।११।।
ॐ भवणवइवाणवंतर–जोइसवासी विमाणवासी अ।
जे के वि दुट्ठदेवा, ते सव्वे उवसमंतु मम स्वाहा।।१२।।
चन्दणकप्पूरेणं, फलए लिहिऊण खालिअं पीअं।

एगंतराइगहभूअ–साइणिमुग्गं पणासेइ।।१३।।
इय सत्तरिसयं जंतं, सम्मं मंतं दुवारि पडिलिहिअं।
दुरिआरि विजयवंतं, निब्भंतं निच्चमच्चेह।।१४।।

श्री पद्मावती अष्टक स्तोत्र

(पूर्वाचार्य)

श्रीमद्–गीर्वाणचक्रस्फुट–मुकुटतटी–दिव्य–माणिक्यमाला।
ज्योतिर्ज्वालाकरालस्फुरित–मुकुरिका घृष्ट–पादारविन्दे।।
व्याघ्रोरोल्का–सहस्त्र–ज्वलदनलशिखा, लोल–पाशांकुशाढ्ये!।
ॐ क्रौं ह्रीं मंत्ररूपे! क्षपित–कलिमले, रक्ष मां देवि! पद्मे।।१।।
भित्त्वा पातालमूलं चलचलचलिते! व्याल–लीला–कराले!
विद्युद्दण्ड–प्रचण्ड–प्रहरणसहिते, सद्भुजैस्तर्जयन्ती।।
दैत्येन्द्रं क्रूरदंष्ट्रा–कटकटघटित स्पष्ट–भीमाट्टहासे!
मायाजीमूतमाला–कुहरितगगने! रक्ष मां देवि! पद्मे।।२।।
कूजत्कोदण्ड–काण्डोड्डमर–विधुरित–क्रूर–घोरोपसर्गं।
दिव्यं वज्रातपत्रं प्रगुणमणिरणत्–किङ्किणी–क्वाण–रम्यम्।।
भास्वद् वैडूर्य–दण्डं मदनविजयिनो, बिभ्रतो पार्श्व–भर्तुः!।
सा देवी पद्महस्ता विघटयतु महा–डामरं मामकीनम्।।३।।
भृङ्गी काली कराली परिजनसहिते! चण्डि–चामुण्डि! नित्ये!।
क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षणार्द्धं क्षतरिपुनिवहे! ह्रौं महामन्त्रवश्ये!
भ्रां भ्रीं भ्रूं भृङ्ग–सङ्ग भ्रकुटि–पुटतट–त्रासितोद्दामदैत्ये!
स्त्रां स्त्रीं स्त्रूं स्त्रौं प्रचण्डे! स्तुतिशतमुखरे! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।४।।
चञ्चत् काञ्ची–कलापे! स्तनतटविलुठत् तारहारावलीके!
प्रोत्फुल्लत्पारिजातद्रुम–कुसुममहा मञ्जरी–पूज्यपादे!
ह्रां ह्रीं क्लीं ब्लूं समेतैर्भुवनवशकरी क्षोभिणी द्राविणी त्वं!
आँ इं ओं पद्महस्ते कुरु कुरु घटने रक्ष मां देवि! पद्मे!।।५।।
लीला–व्यालोल–नीलोत्पलदलनयने! प्रज्वलद्–वाडवाग्नि
त्रुट्यज्ज्वालास्फुलिङ्गस्फुरदरुणकणो–दग्र–वज्राग्रहस्ते!
ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं हरन्ती हर हर हर हुं–कारभीमैकनादे!
पद्मे! पद्मासनस्थे! अपनय दुरितं देवि! देवेन्द्रवन्द्ये!।।६।।

कोपं वं झं सहंसः कुवलयकलितोद् दामलीला–प्रबन्धे!
हां ह्रीं हूं पक्षबीजैः शशिकरधवले! प्रक्षरत्–क्षीरगौरे!!
व्याल–व्याबद्धकूटे! प्रबलबलमहाकालकूटं हरन्ती।
हा हा हुंकारनादे! कृतकरमुकुलं रक्ष मां देवि! पद्मे।।७।।
प्रातर्बालार्क–रश्मिच्छुरितघनमहा सान्द्रसिन्दूर–धूली!
सन्ध्यारागारुणाङ्गी त्रिदशवर–वधू–वन्द्य–पादारविन्दे!
चञ्चच्चण्डासिधारा–प्रहतरिपुकुले! कुण्डलोद्घृष्टगल्ले।
श्रां श्रीं श्रूं श्रौं स्मरन्ती मदगजगमने! रक्ष मां देवि! पद्मे!।।८।।
दिव्यं स्तोत्रं पवित्रं पटुतरपठतांभक्ति पूर्वं त्रिसन्ध्यं।
लक्ष्मी–सौभाग्यरूपं दलितकलिमलं मङ्गलं मङ्गलानाम्।।
पूज्यं कल्याणमालां जनयति सततं, पार्श्वनाथ–प्रसादात्।
देवी–पद्मावतीतः प्रहसितवदना या स्तुता दानवेन्द्रैः।।६।।

भैरवपद्मावती कल्प, जिनस्तोत्र संग्रह, मंगलम्, मंत्रराजरहस्यम् आदि से साभार।



सन्दर्भग्रन्थ-सूची

१. **अर्हम्**, युवाचार्य महाप्रज्ञ, संपा० मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज) सन् १९८५.

२. **आनन्दघन का रहस्यवाद**, साध्वी सुदर्शना श्री, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९८४.

३. **आनन्दघन ग्रंथावली**, संपा०— महताबचन्द खारैड़, श्री विजय चन्द्र जरगड, जौहरी बाज़ार, जयपुर, संवत्— २०३१.

४. **एसो पंच णमोक्कारो**, युवाचार्य महाप्रज्ञ, संपा०—मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ चुरू (राज०), सन् १९७९.

६. **कल्याण**— शक्ति अंक, भाग—६, अंक—१—२, गीताप्रेस गोरखपुर.

७. **ग्रंथत्रयी** (तत्त्वानुशासन, वैराग्यमणिमाला एवं इष्टोपदेश), अनु०— पं० लालाराम जी शास्त्री, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्था, कलकत्ता, वीर संवत् २४४७.

८. **जैन तन्त्रशास्त्र**, पं० राजेश दीक्षित, दीप पब्लिकेशन, आगरा, सन् १९८४.

९. **णमोकार मन्त्र**, मानतुंगाचार्य संपा०— श्री देशभूषण जी महाराज, श्रीमती उर्मिलादेवी, करोलबाग, नई दिल्ली, सन् १९७५.

१०. **तन्त्र साधना सार**— देवदत्त शास्त्री, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद सन् १९७९.

११. **तन्त्र सिद्धान्त और साधना**—देवदत्त शास्त्री, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६३.

१२. **ध्यानशतक**, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दिव्यदर्शन कार्यालय, कालुशीनी पोल, अहमदाबाद, विक्रम संवत्— २०३०.

१३. **नमस्कार स्वाध्याय**— अनु० मुनि श्री तत्त्वानन्द विजय जी, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, सन् १९६२.

१४. **पंचपरमेष्ठि मंत्रराज ध्यानमाला** तथा **अध्यात्मसारमाला**, संशोधक—श्री भद्रंकर विजय जी गणिवर, जैन साहित्य विकास मण्डल, मुंबई, सन् १९७१.

१५. **प्रेक्षाध्यानः** युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०).

१६. **भारतीय तन्त्रशास्त्र**, संपा० वज्रवल्लभ द्विवेदी एवं जनार्दन पाण्डेय

(हिन्दी) एस०एस० बहुलकर (अंग्रेजी) केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा--संस्थान सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९५.

१७. **भारतीय मनोविज्ञान**, डॉ० सीताराम जायसवाल, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण– सन् १९९२.

१८. **मंगलम्**, संपादिका– डॉ० दिव्यप्रभा जी महाराज सा०, चौरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर.

१९. **मंत्रराज रहस्यम्**– सिंहतिलकसूरि, संपा० आचार्य जिनविजय मुनि, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९८०.

२०. **मंत्राधिराज**–बसंत लाल, कान्ति लाल, ईश्वर लाल, ओंकार साहित्य निधि, भिलडिया जी तीर्थ, पार्श्व भक्तिनगर (गुजरात).

२१. **मन के जीते जीत**, मुनि नथमल, संपा० मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राज०) सन् १९७७.

२२. **योगप्रदीप**, श्रीमंगलविजय जी महाराज, हेमचन्द सबचन्द शाह, कलकत्ता, विक्रम संवत् १९९६.

२३. **लघु विद्यानुवाद**– संग्रहकर्त्ता–गणधर श्री कुन्थुसागर जी, आर्यिका श्री विजयमती माताजी, कुन्थु विजय ग्रन्थ समिति, जयपुर, सन् १९८१.

२४ **श्री तंत्रालोक**, अभिनवगुप्ताचार्य, भाग–४, श्रीनगर गवर्नमेंट पब्लिकेशन– १९२२.

२५. **श्री बटुक भैरव साधना**, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, मेघ प्रकाशन, दिल्ली सन् १९८२.

२६. **श्री भैरवपद्मावतीकल्प**, संपा०–के०वी० अभ्यंकर, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद,– सन् १९३७.

२७. **श्री श्राद्धविधि प्रकरण**, रत्नशेखर सूरि, मोतीचन्द मगनभाई चौकसी विक्रम संवत् २००८.

२८. **श्री सूरिमंत्रकल्पसंदोह**, संपा०–पंडित अम्बालाल प्रेमचन्द शाह, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९४८ ई० सन्।

२९. **ज्ञानार्णव**, अनु०–पं० बालचन्द्र जी शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९७७

English Books

29. *Ancient Indian Rituals*, N.N. Bhattacharya, New Delhi 1975.

30. *An Introduction to Tantric Buddhism*, S.N. Das Gupta, Calcutta 1974.

31. *Angavijja*, Ed. Muni Shri Punyavijaya Ji, Prakrit Text Society, Benaras, 1975.

32. *Ayaro*, Acharya Tulsi, Jain Vishva Bharati, Ladnun 1981.

33. *Elements of Hindu Iconography*, Vol. I & II T.A. Gopi Nath Rao, Madras.

34. *Comparative and Critical Study of Mantrashastra*, Mohanlal Bhagwandas Jhavery, Sarabhai Manilal Nawab, Ahmedabad, 1944.

35. *Philosophy of Hindu Sadhana*-Nalanikant Brahma, London 1932.

36. *Powers of Mantras Revisited*, Subhas Rai, Pandey Publishing House, Allahabad, 1996.

37. *Studies in Jaina Art*, Uamakant Premanand Shah, Jain Cultural Research Society, Benaras, 1955.

38. *Studies in Tantra* Part-I, P.C. Bagachi, Calcutta-1939.

39. *Tantra Asana*, Ajit Mookerjee, New Delhi, 1971.

40. *Tantras, Studies on their Religion and Literature*, C. Chakravarti, Calcutta-1963.

41. *Tantras, a General Study*, Manoranjan Basu, Calcutta-1976.

42. *Tantric Tradition*, Agehanand Bharati- New Delhi-1983.

43. *The History Thantric Religion*, N.N. Bhattacharya, New Delhi- 1982.





लेखक की अन्य कृतियाँ

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-१-२
२. जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन
३. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग
४. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन
५. धर्म का मर्म
६. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा
७. ऋषिभाषित: एक अध्ययन
८. जैन भाषा दर्शन
९. तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा
१०. अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी
११. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय
१२. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण
१३. सागर जैनविद्या भारती भाग-१, २, ३
14. Doctoral Dessertation in Jainism and Buddhism (with Dr. A.P. Singh)
15. An Introduction to Jaina Sadhana.
16. Rsibhasita A : A study

लघु पुस्तिकाएं

(१) अनेकान्त की जीवन दृष्टि
(२) अहिंसा की सम्भावनाएं
(३) जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबली
(४) पर्युषण पर्व : एक विवेचन
(५) जैन एकता का प्रश्न
(६) जैन अध्यात्मवाद
(७) श्रावक धर्म की प्रासंगिकता
(८) धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म
(९) भारतीय संस्कृति में हरिभद्र का अवदान
(१०) जैन साधना पद्धति में तप